हि० ग्रं० अ० ग्रन्थाङ्क—९२

एफ० एच० ब्रैडले का दर्शन

समकालीन दर्शन के संदर्भ में उसकी प्रासंगिकता

लेखिका
डॉ० (श्रीमती) लक्ष्मी सक्सेना
अध्यक्ष—दर्शनशास्त्र विभाग,
गोरखपुर विश्वविद्यालय,
गोरखपुर

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान
(हिन्दी ग्रन्थ अकादमी प्रभाग)
राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन
महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ—२२६००१

प्रस्तावना

शिक्षा आयोग (१९६४ : ६६) की संस्तुतियों के आधार पर भारत सरकार ने १९६८ में शिक्षा सम्बन्धी अपनी राष्ट्रीय नीति घोषित की और १८ जनवरी, १९६८ को संसद के दोनों सदनों द्वारा इस सम्बन्ध में एक सङ्कल्प पारित किया गया। उस सङ्कल्प के अनुपालन में भारत सरकार के शिक्षा एवं युवक सेवा मंत्रालय ने भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षण की व्यवस्था करने के लिए विश्वविद्यालय स्तरीय पाठ्यपुस्तकों के निर्माण का एक व्यवस्थित कार्यक्रम निश्चित किया। उस कार्यक्रम के अन्तर्गत भारत सरकार की शत-प्रतिशत सहायता से प्रत्येक राज्य में एक ग्रंथ अकादमी की स्थापना की गयी। इस राज्य में भी विश्वविद्यालय स्तर की प्रामाणिक पाठ्य-पुस्तकें तैयार करने के लिए हिंदी ग्रंथ अकादमी की स्थापना ७ जनवरी, १९७० को की गयी।

प्रामाणिक ग्रंथ निर्माण की योजना के अन्तर्गत यह अकादमी विश्वविद्यालय स्तरीय विदेशी भाषाओं की पाठ्यपुस्तकों को हिंदी में अनूदित करा रही है और अनेक विषयों में मौलिक पुस्तकों की भी रचना करा रही है। प्रकाश्य ग्रंथों में भारत सरकार द्वारा स्वीकृत पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया जा रहा है।

उपर्युक्त योजना के अन्तर्गत वे पाण्डुलिपियाँ भी अकादमी द्वारा मुद्रित करायी जा रही हैं जो भारत सरकार की मानक ग्रन्थ योजना के अन्तर्गत इस राज्य में स्थापित विभिन्न अधिकरणों द्वारा तैयार की गयीं थीं।

प्रस्तुत पुस्तक इस योजना के अन्तर्गत मुद्रित एवं प्रकाशित करायी गयी है। इसकी लेखिका डॉ० (श्रीमती) लक्ष्मी सक्सेना हैं, विषय संपादन डॉ० एस० दत्त, इलाहाबाद ने किया है। इन विद्वानों के बहुमूल्य सहयोग के लिए उ० प्र० हिन्दी संस्थान उनके प्रति आभारी है।

विगत छः सात वर्षों के भीतर इसका प्रथम संस्करण समाप्त हो जाना और पाठकों द्वारा निरन्तर नये संस्करण का आग्रह इस तथ्य का प्रमाण है कि पुस्तक उच्चस्तरीय और उपयोगी होने के साथ-साथ रुचिकर भी है दर्शन जैसे

चिंतन प्रधान ग्रन्थ को इतना सरस और ग्राह्य बना सकने का श्रेय प्रबुद्ध लेखक की प्राणवन्तता को भी है। निश्चय ही हिन्दी में विश्वविद्यालय के उच्च-स्तरीय अध्यापन का पथ प्रशस्त करने में ऐसे प्रयासों का प्रशंसनीय योगदान है। अस्तु इसका द्वितीय संस्करण पाठकों की सेवा में प्रस्तुत कर सकने में मुझे विशेष प्रसन्नता हो रही है। आशा है प्रबुद्ध पाठकों के परामर्श और सुझावों द्वारा हम इस विकास क्रम को अधिकाधिक संतोषजनक बना सकेंगे। हार्दिक कृतज्ञता सहित—

शिवमंगल सिंह 'सुमन'
उपाध्यक्ष
उ०प्र० हिन्दी संस्थान, लखनऊ

दो शब्द

उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी द्वारा विश्वविद्यालयीय स्तर की पुस्तकों को तैयार करने की इस योजना के अन्तर्गत ब्रैडले, पर इस पुस्तक को प्रस्तुत करने में मुझे विशेष हर्ष का अनुभव हो रहा है। यह पुस्तक विद्यार्थियों के लिये लाभकारी होगी, ऐसी मैं आशा करती हूं। पर यदि यह केवल उसके तात्कालिक उद्देश्य की दृष्टि से ही उपयोगी सिद्ध हुई तो मैं इतने में ही इस प्रयास की सार्थकता नहीं समझूंगी। इस पुस्तक को तैयार करने के पीछे मेरी एक इच्छा और भी सक्रिय रही है और वह यह कि मैं दर्शन के भारतीय विद्यार्थियों के मन में पाश्चात्य दार्शनिकों के माध्यम से पुनः अध्यात्मवाद में उनकी आस्था जगा सकूं। ऐसा आवश्यक है इसलिए कि भारतीय विश्व-विद्यालयों में पूर्वीय दर्शन की अपेक्षा पाश्चात्य दार्शनिक दृष्टियों को अधिक महत्वपूर्ण मानने की एक परम्परा सी चल चुकी है और उस दृष्टि में दक्षता प्राप्त कर लेना ही दर्शन के क्षेत्र में सुविज्ञ एवं आधुनिक होने का सबसे बड़ा प्रमाण माना जाता है। यही ही नहीं, भारतीय दार्शनिक दृष्टियों की श्रेष्ठता का समर्थन भी तभी होता है जब उन्हें पश्चिम के किसी समकालीन वाद से संयुक्त कर लिया जाता है और उसी संदर्भ में उसकी सार्थकता भी प्रस्तुत की जाती है।

इस दृष्टि से ब्रैडले की दार्शनिक दृष्टि का विशेष महत्व है। यद्यपि आज के युग में दार्शनिक जगत में जैसा वातावरण उत्पन्न हो गया है, ब्रैडले के दर्शन की ओर से लोग उदासीन हो गये हैं और बहुत से विश्वविद्यालयों में उसके अध्ययन में कोई विशेष रुचि भी नहीं दिखाई जा रही है। पर मेरे अपने विचार में समकालीन पाश्चात्य दर्शन के सन्दर्भ में ब्रैडले की दार्शनिक दृष्टि अनेक कारणों से महत्वपूर्ण है। पहली बात तो यह है कि स्वयं अपने में वह दृष्टि एक महत्वपूर्ण दार्शनिक दृष्टिकोण को प्रस्तुत करती है जिसकी अव-हेलना किसी भी युग के दार्शनिक अनुचिंतन के लिए असम्भव ही नहीं घातक होगा। अन्य शब्दों में, यह एक अनिवार्य सत्य है कि प्रत्येक युग के दार्शनिक अनुचिंतन की गति कालान्तर में इसी बिन्दु की ओर निश्चयात्मक रूप से

प्रवहमान होगी भले ही युग की मांग के अनुरूप उसका बाना किंचित बदला हुआ हो। दूसरी बात यह है कि ब्रैडले का दर्शन नव्य-हेगेलवादी दृष्टिकोण का एक महत्वपूर्ण अर्थ में प्रतिनिधित्व करता है और समकालीन पाश्चात्य दर्शन के शेष वाद—यदि इन्हें वादों की संज्ञा दी जा सकती है, क्योंकि इनमें से कुछ दृष्टिकोण तो अपने लिये इस शब्द का प्रयोग भी अनुचित समझते हैं, इसी के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न हुए हैं। ये प्रक्रियायें कहाँ तक उचित हैं और किस सीमा तक अपने विचारों में ब्रैडले उनके लिए समुचित आधार प्रस्तुत करते हैं या यह कि ये प्रतिक्रियायें अन्तत: उस दृष्टिकोण से समर्थकों के अपने पूर्वाग्रहों का ही परिणाम है—ये सारे प्रश्न महत्वपूर्ण हैं, पर इन प्रश्नों का उत्तर यहाँ पर मैं विस्तार में देना नहीं चाहूंगी।

निष्कर्ष रूप में मैं यहाँ पर इतना ही कहना चाहूंगी कि ब्रैडले के दर्शन के अध्ययन में पर्याप्त धैर्य की आवश्यकता है—जिस विशेषता का आज के युग में अभाव है, क्योंकि हम सतही तौर का जीवन व्यतीत करने और सतही तौर के चिंतन के अभ्यस्त हो चुके हैं। अतएव उनके दार्शनिक निष्कर्षों पर निर्णय देने के पूर्व हमें अपने पूर्वाग्रहों से मुक्त होना पड़ेगा। स्वयं ब्रैडले ने अपनी पुस्तक 'एपियरेन्स एण्ड रियेलिटी' में कतिपय पूर्वाग्रहों से हमें मुक्त करने का प्रयास किया है और इस विमुक्ति के पश्चात् ही उन्होंने अपने दार्शनिक निष्कर्षों को प्रस्तुत किया है। सबसे बड़ा पूर्वाग्रह—जिससे नियंत्रित होकर सामान्यत: हम चिंतन करते हैं, वह प्रज्ञा-केन्द्रित दृष्टिकोण की अन्तिमता से सम्बद्ध पूर्वाग्रह है। हम बुद्धि को सामान्यत जीवन में केन्द्रीय मानते हैं और बुद्धि कोटियों के माध्यम से जगत की संरचना करती है। इस जगत का अपना व्यावहारिक महत्व है पर इसी कारण इसकी सीमायें भी हैं। इन सीमाओं की ओर सामान्यत: हमारी दृष्टि नहीं जाती और हम इस दृष्टि से सम्बन्धित विविध सफलताओं के आधार पर इसे अन्तिमता प्रदान कर देते हैं। आलोचनात्मक अनुचिंतन के आधार पर हमें इस दृष्टिकोण की सीमाओं का पता चल सकता है और इसी आलोचनात्मक अनुचिंतन की एक बानगी हमें ब्रैडले के दर्शन में मिलती है। पुन: ब्रैडले केवल बुद्धि विषयक निषेधात्मक निष्कर्षों तक ही अपने को सीमित नहीं रखते, बल्कि इस निषेधात्मक निष्कर्ष से अनिवार्यत: जुड़ी हुई भावात्मक ध्वनि को भी स्पष्ट करने की चेष्टा करते हैं। भावी दर्शन की दृष्टि से ये भावात्मक निष्कर्ष अधिक महत्वपूर्ण हैं। पर सामान्यत: हम अपने पूर्वाग्रहों के कारण इन पर ध्यान नहीं देते। इस अत्यन्त ही उन्नत वैज्ञानिक युग में जहां हमारी अवस्थायें ही नहीं बल्कि युक्त चिंतन

की शक्ति ही ध्वस्त हो चुकी है, एक अतिप्राज्ञ बोध की संभावना, हमें काल्पनिक और सर्वदा निराधार प्रतीत होती है। इसकी स्वीकृति इस घोर बौद्धिक युग में दार्शनिक क्षमता की न्यूनता ही नहीं, प्रत्युत उसकी शून्यता का प्रतीक बन चुकी है। पर ब्रैडले के दर्शन की ओर यदि हम समुचित ध्यान दें तो स्पष्ट हो जायेगा कि इस प्रकार की संभावना को स्वीकार करने के लिये उन्होंने एक अत्यन्त ही ठोस धरातल प्रस्तुत किया है। कोई भी दार्शनिक बुद्धि के स्तर पर इससे अधिक कर भी क्या सकता है कि वह विचार के माध्यम से ही उसके सहज स्वातिक्रमण की संभावना की युक्तता को सिद्ध करने में सफल हो जाय? इस दर्शन में आप्त वचन में किसी प्रकार की आस्था जगाने का प्रश्न ही नहीं उठता। हम बुद्धिजीवियों को उन्हीं के 'इडियम' (idiom) में विचारों को प्रस्तुत करने के इस उत्कृष्टतम प्रयास की अवहेलना वस्तुतः दार्शनिक क्षमताओं के ह्रास या दार्शनिक अनुचिंतन के क्षेत्र में हठवादिता का संकेत करती है।

स्पष्ट है भावी दर्शन के विकास की दृष्टि से तथा समकालीन पाश्चात्य दर्शन के भूमिका के रूप में ब्रैडल के दर्शन का महत्वपूर्ण स्थान है और यह तो निर्विवाद रूप से सत्य है कि इस अध्ययन के अभाव में शेष समकालीन दार्शनिक प्रवृत्तियों के साथ न्याय करना हमारे लिये संभव नहीं होगा। अतएव आज के युग में भी ब्रैडले के दर्शन की प्रासंगिकता है इससे इंकार नहीं किया जा सकता है। अन्य शब्दों में, इसके विरुद्ध जो प्रतिक्रियायें हुई हैं, उनके साथ न्याय करने के लिये यह अध्ययन निश्चित ही महत्व रखता है।

एक तीसरे दृष्टिकोण से भी इस दर्शन की विशेष प्रासंगिकता है। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक चरण में ब्रैडले 'पूर्वाग्रहों से विमुक्त दर्शन' की बात करते हैं और जिस पूर्वाग्रह को उन्होंने इस प्रसंग में महत्वपूर्ण माना है उसी की ओर हुसरल ने भी अपने तरीके से संकेत किया है। दर्शन के विद्यार्थियों को मालूम ही है कि हुसरल 'ब्रैकेटिंग' की बात करते हैं। उनका विश्वास है कि इसके बिना 'विशुद्ध दर्शन' की प्राप्ति सम्भव नहीं है। हुसरल का दृष्टिकोण विशुद्ध अनुभवातीत विषयनिष्ठता को अधिष्ठान के रूप में जीवन और जगत के केन्द्र में मानता है। यही कारण है कि हुसरल का दर्शन इस युग की एक प्रमुख धारा फेनामेनालाजी तथा अस्तित्ववाद के केन्द्र में है और उसकी दिशा तथा गतिविधियों को एक महत्वपूर्ण अर्थ में नियन्त्रित करता है। किस प्रकार और किस रूप में संशोधित होकर यह इस चिंतन को प्रभावित करता है और क्या ये संशोधन हुसरल के दृष्टिकोण की परिधि में संभव

प्रवहमान होगी भले ही युग की मांग के अनुरूप उसका बाना किंचित बदला हुआ हो। दूसरी बात यह है कि ब्रैडले का दर्शन नव्य-हेगेलवादी दृष्टिकोण का एक महत्वपूर्ण अर्थ में प्रतिनिधित्व करता है और समकालीन पाश्चात्य दर्शन के शेष वाद—यदि इन्हें वादों की संज्ञा दी जा सकती है, क्योंकि इनमें से कुछ दृष्टिकोण तो अपने लिये इस शब्द का प्रयोग भी अनुचित समझते हैं, इसी के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न हुए हैं। ये प्रक्रियायें कहाँ तक उचित हैं और किस सीमा तक अपने विचारों में ब्रैडले उनके लिए समुचित आधार प्रस्तुत करते हैं या यह कि ये प्रतिक्रियायें अन्ततः उस दृष्टिकोण से समर्थकों के अपने पूर्वाग्रहों का ही परिणाम है—ये सारे प्रश्न महत्वपूर्ण हैं, पर इन प्रश्नों का उत्तर यहाँ पर मैं विस्तार में देना नहीं चाहूंगी।

निष्कर्ष रूप में मैं यहाँ पर इतना ही कहना चाहूंगी कि ब्रैडले के दर्शन के अध्ययन में पर्याप्त धैर्य की आवश्यकता है—जिस विशेषता का आज के युग में अभाव है, क्योंकि हम सतही तौर का जीवन व्यतीत करने और सतही तौर के चिंतन के अभ्यस्त हो चुके हैं। अतएव उनके दार्शनिक निष्कर्षों पर निर्णय देने के पूर्व हमें अपने पूर्वाग्रहों से मुक्त होना पड़ेगा। स्वयं ब्रैडले ने अपनी पुस्तक 'एपियरेन्स एण्ड रियेलिटी' में कतिपय पूर्वाग्रहों से हमें मुक्त करने का प्रयास किया है और इस विमुक्ति के पश्चात् ही उन्होंने अपने दार्शनिक निष्कर्षों को प्रस्तुत किया है। सबसे बड़ा पूर्वाग्रह—जिससे नियंत्रित होकर सामान्यतः हम चिंतन करते हैं, वह प्रज्ञा-केन्द्रित दृष्टिकोण की अन्तिमता से सम्बद्ध पूर्वाग्रह है। हम बुद्धि को सामान्यत जीवन में केन्द्रीय मानते हैं और बुद्धि कोटियों के माध्यम से जगत की संरचना करती है। इस जगत का अपना व्यावहारिक महत्व है पर इसी कारण इसकी सीमायें भी हैं। इन सीमाओं की ओर सामान्यतः हमारी दृष्टि नहीं जाती और हम इस दृष्टि से सम्बन्धित विविध सफलताओं के आधार पर इसे अन्तिमता प्रदान कर देते है। आलोचनात्मक अनुचिंतन के आधार पर हमें इस दृष्टिकोण की सीमाओं का पता चल सकता है और इसी आलोचनात्मक अनुचिंतन की एक बानगी हमें ब्रैडले के दर्शन में मिलती है। पुनः ब्रैडले केवल बुद्धि विषयक निषेधात्मक निष्कर्षों तक ही अपने को सीमित नहीं रखते, वलिक इस निषेधात्मक निष्कर्ष से अनिवार्यतः जुड़ी हुई भावात्मक ध्वनि को भी स्पष्ट करने की चेष्टा करते हैं। भावी दर्शन की दृष्टि से ये भावात्मक निष्कर्ष अधिक महत्वपूर्ण हैं। पर सामान्यतः हम अपने पूर्वाग्रहों के कारण इन पर ध्यान नहीं देते। इस अत्यन्त ही उन्नत वैज्ञानिक युग में जहाँ हमारी अवस्थायें ही नहीं बल्कि युक्त चिंतन

की शक्ति ही ध्वस्त हो चुकी है, एक अतिप्राज्ञ बोध की संभावना, हमें काल्प-निक और सर्वदा निराधार प्रतीत होती है। इसकी स्वीकृति इस घोर बौद्धिक युग में दार्शनिक क्षमता की न्यूनता ही नहीं, प्रत्युत उसकी शून्यता का प्रतीक बन चुकी है। पर ब्रैडले के दर्शन की ओर यदि हम समुचित ध्यान दें तो स्पष्ट हो जायेगा कि इस प्रकार की संभावना को स्वीकार करने के लिये उन्होंने एक अत्यन्त ही ठोस धरातल प्रस्तुत किया है। कोई भी दार्शनिक बुद्धि के स्तर पर इससे अधिक कर भी क्या सकता है कि वह विचार के माध्यम से ही उसके सहज स्वातिक्रमण की संभावना की युक्तता को सिद्ध करने में सफल हो जाय? इस दर्शन में आप्त वचन में किसी प्रकार की आस्था जगाने का प्रश्न ही नहीं उठता। हम बुद्धिजीवियों को उन्हीं के 'इडियम' (idiom) में विचारों को प्रस्तुत करने के इस उत्कृष्टतम प्रयास की अवहेलना वस्तुतः दार्शनिक क्षमताओं के ह्रास या दार्शनिक अनुचिंतन के क्षेत्र में हठ-वादिता का संकेत करती है।

स्पष्ट है भावी दर्शन के विकास की दृष्टि से तथा समकालीन पाश्चात्य दर्शन के भूमिका के रूप में ब्रैडल के दर्शन का महत्वपूर्ण स्थान है और यह तो निर्विवाद रूप से सत्य है कि इस अध्ययन के अभाव में शेष समकालीन दार्श-निक प्रवृत्तियों के साथ न्याय करना हमारे लिये संभव नहीं होगा। अतएव आज के युग में भी ब्रैडले के दर्शन की प्रासंगिकता है इससे इंकार नहीं किया जा सकता है। अन्य शब्दों में, इसके विरुद्ध जो प्रतिक्रियायें हुई हैं, उनके साथ न्याय करने के लिये यह अध्ययन निश्चित ही महत्व रखता है।

एक तीसरे दृष्टिकोण से भी इस दर्शन की विशेष प्रासंगिकता है। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक चरण में ब्रैडले 'पूर्वाग्रहो से विमुक्त दर्शन' की बात करते हैं और जिस पूर्वाग्रह को उन्होंने इस प्रसंग में महत्वपूर्ण माना है उसी की ओर हुसरल ने भी अपने तरीके से संकेत किया है। दर्शन के विद्या-र्थियों को मालूम ही हैं कि हुसरल 'ब्रैकटिंग' की बात करते हैं। उनका विश्वास है कि इसके बिना 'विशुद्ध दर्शन' की प्राप्ति सम्भव नहीं है। हुसरल का दृष्टिकोण विशुद्ध अनुभवातीत विषयनिष्ठता को अधिष्ठान के रूप में जीवन और जगत के केन्द्र में मानता है। यही कारण है कि हुसरल का दर्शन इस युग की एक प्रमुख धारा फेनामेनालाजी तथा अस्तित्ववाद के केन्द्र में है और उसकी दिशा तथा गतिविधियों को एक महत्वपूर्ण अर्थ में नियन्त्रित करता है। किस प्रकार और किस रूप में संशोधित होकर यह इस चिंतन को प्रभा-वित करता है और क्या ये संसोधन हुसरल के दृष्टिकोण की परिधि में संभव

है—ये प्रश्न रूचिकर हैं पर इनमें विस्तार से हम नहीं जायेंगे। इस पर अन्यत्र पर्याप्त अन्तर्दृष्टि से विचार प्रस्तुत किये गये हैं।[1] यहाँ पर तो निष्कर्ष रूप में इतना ही कहना चाहूंगी कि फेनामेनालाजिकीय दृष्टिकोण के माध्यम से पाश्चात्य दर्शन ने अपूर्व अन्तर्दृष्टि के साथ अपने को उस महत्वपूर्ण विन्दु तक पहुंचा लिया है जहाँ से वे भारतीय दार्शनिक निष्कर्षों के प्रति सही अर्थों में संवेदनशील हो सकता है। अपने शोध सम्बन्ध में, जो १९५५ में इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डि० फिल उपाधि के लिये लिखा गया था और जिसका शीर्षक 'मौनिस्टिक टेन्डेन्सीज इन कंटेम्पोरेरी फिलासफी विद स्पेशल रेफरेन्स टु ब्रिटिश एण्ड इडियन थाट, है। मैंने अपने निष्कर्षों को प्रस्तुत करते हुए इस ओर संकेत किया है कि ब्रैडले के दर्शन में प्रस्तुत 'अतिप्राज्ञ बोध' की संभावना में हमें चिंतन की एक महत्वपूर्ण दिशा प्राप्त होती है और भारतीय दृष्टिकोण के सम्बन्ध में इस स्वीकृति की अपनी सार्थकता है। यानी यदि भविष्य में पूर्व तथा पश्चिम की दार्शनिक दृष्टियों में किसी प्रकार के समन्वय की कल्पना की जा सकती है और वह यथार्थ हो सकती है तो अतिप्राज्ञबोध से सम्बन्धित ब्रैडले की इस स्वीकृति को हमें केन्द्रीय मानना होगा। यह निष्कर्ष आज भी अपनी जगह में सही मानती हूं। यद्यपि बीस वर्षों के इतिहास ने मेरी इस आशावादिता के लिये कोई गुंजाइज नहीं छोड़ी है। फिर भी मैं आशा करती हूं कि विरोध और अवहेलना की यह मनोदशा स्थायी नहीं होगी और हम पुन: चिंतन में स्पष्टता की ओर प्रवृत्त होंगे और उस प्रवृत्त होने में जिस दार्शनिक दृष्टि का ब्रैडले प्रतिनिधित्व करते हैं उसका एक विशेष महत्व होगा। अंत में ब्रैडले के अध्ययन की प्रासंगिकता के बारे में मैं एक बात कहना चाहूंगी। समकालीन भारतीय दार्शनिक दृष्टियों में श्री अरविन्द की दार्शनिक दृष्टि का भारत में ही नहीं अपितु पश्चिम में भी पर्याप्त आदर है। अरविन्द के विचारों को यहाँ पर विस्तार में प्रस्तुत करना आवश्यक नहीं है। उनके दर्शन एवं दार्शनिक दृष्टि की महत्ता पर मैंने पर्याप्त विचार एक पृथक् पुस्तक में, जिसका शीर्षक 'समकालीन भारतीय दर्शन' है और जो उत्तर प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी से इसी वर्ष प्रकाशित हो चुकी हैं, व्यक्त किये हैं। यहाँ पर तो

1. देखिये, उत्तर प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी द्वारा प्रकाशित 'समकालीन पाश्चात्य दर्शन' अध्याय अष्टम और नवम जिनके लेखक गोरखपुर विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के प्रवक्ता श्री सभाजीत मिश्र हैं।

मैं केवल इतना ही कहना चाहूंगी कि श्री अरविन्द ने 'प्रज्ञा' को चेतना के एक परिमित आयाम के रूप में प्रस्तुत किया है। पर उसका यह रूप अन्तिम नहीं है, क्योंकि इस परिमित आयाम के माध्यम से एक सार्वभौम चेतना अपने को बराबर अभिव्यक्त कर रही है । यही कारण है कि एक अतिप्राज्ञ बोध में 'प्रज्ञा' के स्वातिक्रमण की संभावना को वे केवल सिद्धांतत: ही नहीं स्वीकार करते बल्कि व्यवहारत: भी स्वीकार करते हैं। और इसी दृष्टि से वे आंतरयोग की अपूर्व साधन शैली को विकसित करते हैं। ऐसी स्थिति में सिद्धांतत: प्रज्ञा के स्वातिक्रमण की संभावना अयुक्त नहीं दीखती और मेरी समझ मे विशेष रूप से भारतीय विद्यार्थियों के लिये ब्रैडले के निष्कर्षों का यह आधुनिकतम समर्थन है। ब्रैडले के अध्ययन की प्रासंगिकता और उसके महत्व के लिये मैं समझती हूं इतना ही पर्याप्त है। यदि इस प्रयास द्वारा विद्यार्थियों में इस अध्ययन की ओर प्रवृत्ति जगी और वे भारतीय होने के नाते पुन: एक ठोस बौद्धिक आधार पर आध्यात्मवादी दृष्टिकोण के समर्थक बने तो मैं समझूंगी कि मेरा यह प्रयास सार्थक हुआ है।

अन्त में मैं पुस्तक के उद्देश्य को स्पष्ट करना चाहूंगी। इस पुस्तक में बड़ी तटस्थता के साथ 'एपियरेन्स एण्ड रियेलिटी' के निष्कर्षों को—यथासंभव ब्रैडले के ही शब्दों में प्रस्तुत किया गया है, अपनी ओर से कुछ भी जोड़ने की चेष्टा नहीं की गई है। परिशिष्ट में 'एसेज़ आँन ट्रूथ एण्ड रियेलिटी' के कुछ महत्वपूर्ण निबन्धो के निष्कर्षों को भी प्रस्तुत किया गया है। ये लेख अव्यवहितत्व की कल्पना को अधिक स्पष्टता के साथ ,प्रस्तुत करते है—इसलिये विशेष महत्वपूर्ण हैं। पुस्तक के आरम्भ में कुछ पृष्ठ ब्रैडले के दर्शन पर स्वतन्त्र रूप से प्रस्तुत किये गये हैं जिनमें मैंने इस दार्शनिक के विचारों का अपने तरीके से मूल्यांकन प्रस्तुत किया है। वास्तब में ये पृष्ठ एक अध्याय, जिसका शीर्षक 'नव्य हेगेलवाद' है और जो 'समकालीन पाश्चात्य दर्शन' के प्रथम अध्याय के रूप में प्रस्तुत है, का ही खण्ड है। पुस्तक की उपयोगिता की दृष्टि से इसे यहां पर सम्मिलित करना आवश्यक समझा गया है।

अन्त में यहां पर मैं उन विद्यार्थियों का नाम देना चाहूंगी जिन्होंने इस पुस्तक के तैयार होने में अपना सहयोग दिया है। यूँ तो एक दृष्टि से वे सभी विद्यार्थी, जिन्होंने मुझसे इस प्रपत्र का अध्ययन किया है, इस पुस्तक के लिखने की प्रेरणा के मूल में हैं, फिर भी उन विद्यार्थियों ने जिन्होंने इसके निर्माण में अपना सक्रिय सहयोग दिया है उनके नाम उल्लेखनीय हैं। वे हैं (श्रीमती) कुसुम सिरोही, शकील अहमद, गुलाम मोहम्मद याहय खाँ और

है—ये प्रश्न रूचिकर हैं पर इनमें विस्तार से हम नहीं जायेंगे। इस पर अन्यत्र पर्याप्त अन्तर्दृष्टि से विचार प्रस्तुत किये गये हैं।[1] यहाँ पर तो निष्कर्ष रूप में इतना ही कहना चाहूंगी कि फेनामेनालाजिकीय दृष्टिकोण के माध्यम से पाश्चात्य दर्शन ने अपूर्व अन्तर्दृष्टि के साथ अपने को उस महत्वपूर्ण बिन्दु तक पहुंचा लिया है जहाँ से वे भारतीय दार्शनिक निष्कर्षों के प्रति सही अर्थों में संवेदनशील हो सकता है। अपने शोध सम्बन्ध में, जो १९५५ में इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डि० फिल उपाधि के लिये लिखा गया था और जिसका शीर्षक 'मौनिस्टिक टेन्डेन्सीज इन कंटेम्पोरेरी फिलासफी विद स्पेशल रेफरेन्स टु ब्रिटिश एण्ड इंडियन थाट, है। मैंने अपने निष्कर्षों को प्रस्तुत करते हुए इस ओर संकेत किया है कि ब्रैडले के दर्शन में प्रस्तुत 'अतिप्राज्ञ बोध' की संभावना में हमें चिंतन की एक महत्वपूर्ण दिशा प्राप्त होती है और भारतीय दृष्टिकोण के सम्बन्ध में इस स्वीकृति की अपनी सार्थकता है। यानी यदि भविष्य में पूर्व तथा पश्चिम की दार्शनिक दृष्टियों में किसी प्रकार के समन्वय की कल्पना की जा सकती है और वह यथार्थ हो सकती है तो अतिप्राज्ञबोध से सम्बन्धित ब्रैडले की इस स्वीकृति को हमें केन्द्रीय मानना होगा। यह निष्कर्ष आज भी अपनी जगह में सही मानती हूं। यद्यपि बीस वर्षो के इतिहास ने मेरी इस आशावादिता के लिये कोई गुंजाइज नहीं छोड़ी है। फिर भी मैं आशा करती हूं कि विरोध और: अवहेलना की यह मनोदशा स्थायी नहीं होगी और हम पुन: चिंतन में स्पष्टता की ओर प्रवृत्त होंगे और उस प्रवृत्त होने में जिस दार्शनिक दृष्टि का ब्रैडले प्रतिनिधित्व करते हैं उसका एक विशेष महत्व होगा। अंत में ब्रैडले के अध्ययन की प्रासंगिकता के बारे में मैं एक बात कहना चाहूंगी। समकालीन भारतीय दार्शनिक दृष्टियों में श्री अरविन्द की दार्शनिक दृष्टि का भारत में ही नहीं अपितु पश्चिम में भी पर्याप्त आदर है। अरविन्द के विचारों को यहाँ पर विस्तार में प्रस्तुत करना आवश्यक नहीं ह। उनके दर्शन एवं दार्शनिक दृष्टि की महत्ता पर मैंने पर्याप्त विचार एक पृथक् पुस्तक में, जिसका शीर्षक 'समकालीन भारतीय दर्शन' है और जो उत्तर प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी से इसी वर्ष प्रकाशित हो चुकी है, व्यक्त किये हैं। यहाँ पर तो

---

१. देखिये, उत्तर प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी द्वारा प्रकाशित 'समकालीन पाश्चात्य दर्शन' अध्याय अष्टम और नवम जिनके लेखक गोरखपुर विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के प्रवक्ता श्री सभाजीत मिश्र हैं।

मैं केवल इतना ही कहना चाहूंगी कि श्री अरविन्द ने 'प्रज्ञा' को चेतना के एक परिमित आयाम के रूप में प्रस्तुत किया है। पर उसका यह रूप अन्तिम नहीं है, क्योंकि इस परिमित आयाम के माध्यम से एक सार्वभौम चेतना अपने को बराबर अभिव्यक्त कर रही है। यही कारण है कि एक अतिप्राज्ञ बोध में 'प्रज्ञा' के स्वातिक्रमण की संभावना को वे केवल सिद्धांततः ही नहीं स्वीकार करते बल्कि व्यवहारतः भी स्वीकार करते हैं। और इसी दृष्टि से वे अंतरयोग की अपूर्व साधन शैली को विकसित करते हैं। ऐसी स्थिति में सिद्धांततः प्रज्ञा के स्वातिक्रमण की संभावना अयुक्त नहीं दीखती और मेरी समझ मे विशेष रूप से भारतीय विद्यार्थियों के लिये ब्रैडले के निष्कर्षों का यह आधुनिकतम समर्थन है। ब्रैडले के अध्ययन की प्रासंगिकता और उसके महत्व के लिये मैं समझती हूं इतना ही पर्याप्त है। यदि इस प्रयास द्वारा विद्यार्थियों में इस अध्ययन की ओर प्रवृत्ति जगी और वे भारतीय होने के नाते पुनः एक ठोस बौद्धिक आधार पर आध्यात्मवादी दृष्टिकोण के समर्थक बने तो मैं समझूंगी कि मेरा यह प्रयास सार्थक हुआ है।

अन्त में मैं पुस्तक के उद्देश्य को स्पष्ट करना चाहूंगी। इस पुस्तक में बड़ी तटस्थता के साथ 'एपियरेन्स एण्ड रियेलिटी' के निष्कर्षों को—यथासंभव ब्रैडले के ही शब्दों में प्रस्तुत किया गया है, अपनी ओर से कुछ भी जोड़ने की चेष्टा नहीं की गई है। परिशिष्ट में 'एसेज् ऑन ट्रुथ एण्ड रियेलिटी' के कुछ महत्वपूर्ण निबन्धो के निष्कर्षों को भी प्रस्तुत किया गया है। ये लेख अन्यवहितत्व की कल्पना को अधिक स्पष्टता के साथ प्रस्तुत करते हैं—इसलिये विशेष महत्वपूर्ण हैं। पुस्तक के आरम्भ में कुछ पृष्ठ ब्रैडले के दर्शन पर स्वतन्त्र रूप से प्रस्तुत किये गये हैं जिनमें मैंने इस दार्शनिक के विचारों का अपने तरीके से मूल्यांकन प्रस्तुत किया है। वास्तव में ये पृष्ठ एक अध्याय, जिसका शीर्षक 'नव्य हेगेलवाद' है और जो 'समकालीन पाश्चात्य दर्शन' के प्रथम अध्याय के रूप में प्रस्तुत है, का ही खण्ड है। पुस्तक की उपयोगिता की दृष्टि से इसे यहां पर सम्मिलित करना आवश्यक समझा गया है।

अन्त मे यहां पर मैं उन विद्यार्थियों का नाम देना चाहूंगी जिन्होंने इस पुस्तक के तैयार होने में अपना सहयोग दिया है। यूँ तो एक दृष्टि से वे सभी विद्यार्थी, जिन्होंने मुझसे इस प्रपत्र का अध्ययन किया है, इस पुस्तक के लिखने की प्रेरणा के मूल में हैं, फिर भी उन विद्यार्थियों ने जिन्होंने इसके निर्माण में अपना सक्रिय सहयोग दिया है उनके नाम उल्लेखनीय हैं। वे हैं (श्रीमती) कुसुम सिरोही, शकील अहमद, गुलाम मोहम्मद याहय खाँ और

अंजनी कुमार सिंह। इन्होने वड़ी लगन से इस दार्शनिक के विचारों का अध्ययन किया है और फलस्वरूप मुझे इसके विचारों को समुचित रूप से समझने का अवसर प्रदान किया हैं। यह पुस्तक अन्तत: लेक्चर्स के रूप में मेरे द्वारा कक्षा में प्रतिपादित ब्रैडले के विचारों को ही पुस्तक का रूप देने के उनके आग्रह का ही परिणाम है और इसे तैयार करने में उन्होंने श्रम भी किया है। प्रथम खण्ड को तैयार करने में शकील अहमद, द्वितीय खण्ड के प्रथम दो तथा पांचवे अध्याय में श्रीमती कुसुम सिरोही, प्रथम खण्ड के द्वितीय तथा द्वितीय खण्ड के तृतीय तथा अन्तिम में गुलाम मोहम्मद याहया खॉ और अन्तिम पहले के दो अध्यायों में अन्जनी कुमार सिंह का स्पष्ट योग है। मैं इनके प्रयास को इसलिये और भी महत्व दूंगी क्योंकि आज के युग में विद्यार्थियों में लिखने-पढ़ने की रुचि प्राय: नहीं के बराबर ही है। इन सभी विद्यार्थियों में अपूर्व दार्शनिक दृष्टि है और मैं आशा करती हूं कि वे मौलिक शोध प्रबंधों द्वारा अपनी इस प्रतिभा का भविष्य में परिचय देंगे। श्रीमती कुसुम सिरोही तो दो वर्षों से विभाग में अध्यापन कार्य भी कर रही है। इसके अतिरिक्त प्रेमलता, अंजनी कुमार सिंह, दिनेश कुमार तथा कंचन पाण्डेय ने इस पुस्तक की टंकित प्रति के चेक करने में मेरी सहायता की है।

अत में मैं उत्तर प्रदेश हिंदी ग्रन्थ अकादमी के प्रति अपना आभार व्यक्त करना चाहूंगी जिसने मुझे विद्यार्थियों के हाथ में यह पुस्तक प्रस्तुत करने का अवसर दिया है। प्रकाशन की सुविधा न हो तो लिखने का उत्साह मंद हो जाता है और भारतवर्ष में दर्शन और दर्शन के ग्रन्थों के प्रकाशन के प्रति जो दृष्टिकोण है वह विदित ही है—उसके विषय में मैं क्या कहूं ?

मैं आशा करती हूं, दर्शन के विद्यार्थियों द्वारा इस पुस्तक का स्वागत होगा, क्योंकि यह उनकी ही पुस्तक है—उनके लिये ही लिखी गयी है।

लक्ष्मी सक्सेना

अध्यक्ष, दर्शन—विभाग,

विश्वविद्यालय, गोरखपुर।

विषय-सूची

(१) दो शब्द — क

(२) आमुख — १

(३) एपियेरेन्स एण्ड रियेलिटी–भूमिका — ४२

(४) खण्ड–एक–आभास:— ५३—१०७

(i) मूल गुण एवं उपगुण — ५५

(ii) गुणी और गुण — ६२

(iii) सम्बन्ध एवं गुण — ६७

(iv) कारणता — ७७

(v) आत्मा — ८५

(vi) संवृत्तिवाद — ९६

(vii) परमार्थ वस्तुएं — १०३

(५) खण्ड–दो–सत्ता:— १०८—२५८

(i) सत् का सामान्य स्वरूप — १११

(ii) विचार और सत् — १३०

(iii) त्रुटि — १६१

(iv) अशुभ — १७३

(v) सत्य और सत् की मात्राएं — १७८

(vi) शिवत्व — १९६

(vii) परम सत् और उसके आभास — २२८

(viii) अन्तिम संदेह — २४५

(६) परिशिष्ट : अव्यवहितत्व का स्वरूप : कुछ विविध प्रश्न — २५९

(७) Index — २८१

आमुख

परिकल्पनात्मक-दर्शन की विधि का परित्याग : नवीन तर्कशास्त्र का सूत्रपात :

नव्य-आंग्ल-अध्यात्मवाद के सबसे महत्वपूर्ण समर्थकों में ग्रीन के पश्चात् ब्रैडले आते है। बीसवीं शताब्दी के प्रथम दो दशकों में जिस उत्साह के साथ इनके हाथों अध्यात्मवाद का समर्थन हुआ वह संभवत: आंग्ल देश के दर्शन के इतिहास में पूर्व है। किन्तु ब्रैडले के पश्चात् आंग्ल दर्शन पुन: नितान्त सहजता के साथ यथार्थवादी परम्परा की ओर प्रत्यावर्तन करता हुआ दिखलायी देता है। यह आश्चर्य की बात है किन्तु इतिहास इस बात का साक्षी है। स्पष्ट है कि 'अध्यात्मवाद' यहां की दार्शनिक परम्परा के अनुकूल न था, इसलिए उसका स्थायी प्रभाव यहाँ की विचारधारा पर न पड़ सका। किन्तु आंग्ल देश के लिए विदेशीय होने के बावजूद समकालीन दर्शन के अध्ययन के लिए, उसकी विविध दिशाओं में सक्रिय आंतरिक प्रेरणाओं को समझने के लिए, ब्रैडले के दर्शन का महत्व स्थायी ही रहेगा, इसमें कोई संदेह नहीं। अध्यात्मवाद का समर्थन और उसका विघटन,* इन दोनों का ही समान रूप से श्रेय ब्रैडले को है।

ब्रैडले के विचारों के साथ न्याय करने के लिए यथार्थवाद तथा अध्यात्मवाद के दृष्टिकोण-सम्बन्धी अन्तर को ध्यान में रखना आवश्यक है। सामान्यत: यह सोच लिया जाता है कि ये दोनों दृष्टिकोण एकान्तिक तथा परस्पर विरोधी हैं। कभी-कभी यह भी सोच लिया जाता है कि यथार्थवाद

* "Even for understanding such anti-Hegelian contemporary movements as realism and pragmatism one has to understand problems raised by Bradley and the solution he offers." Datta, D. M.,—Chief Currents of Contemporary Philosophy, Second Edition, p. 44.

सही दृष्टि प्रदान करने वाला और अध्यात्मवाद उस सभी का निषेध करने वाला है, जिसका यथार्थवाद समर्थन करता है। यानी अपने समस्त वैविध्य एवं वैभव से पूर्ण इस विश्व को उसकी संपूर्णता में यथार्थवाद स्वीकार करता है, किन्तु अध्यात्मवाद इस विश्व की सत्ता का निषेध करता है और इसके स्थान पर एक काल्पनिक अतीन्द्रिय सत्ता का समर्थन करता है।

अतएव यदि अध्यात्मवाद दृष्टि के साथ न्याय करना है तो हमें इन भ्रांतियों से ऊपर उठना होगा। यह सही है कि विश्व के वैविध्य का जिस रूप में यथार्थवाद समर्थन करता है, उस रूप में अध्यात्मवाद उसे 'अंतिमता' नहीं प्रदान करता। विश्व की विविध इकाइयां अपने मूल रूप में परस्पर असम्बद्ध हैं, उनका सम्बन्धित होना आकस्मिक है और इस सम्बन्धित होने से उनकी मूल प्रकृति में कोई परिवर्तन नहीं आता––यह यथार्थवाद की महत्वपूर्ण स्वीकृति है, जिसे अध्यात्मवाद ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं कर पाता। वैविध्य की प्रतीति की यथार्थता के बावजूद इस 'वैविध्य' की स्वपर्याप्तता सम्बन्धी भ्रामकता को अनावृत करना अध्यात्मवाद का प्रमुख उद्देश्य है। जो विविध एवं पृथक्-पृथक् प्रतीत होता है, वह वस्तुतः आंतरिक रूप से संयुक्त है और समवेत रूप से एक 'सम्पूर्णता' का निर्माण करता है––यह अध्यात्मवाद की प्रमुख स्वीकृति है। पुनः वैविध्य का समर्थन एवं उसकी प्रतीति 'प्रज्ञा' की विशेषता है, प्रज्ञा के स्तर पर ही यह प्रतीति यथार्थ है और व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी भी है, किन्तु इस दृष्टि को और उससे सम्बद्ध सत्य को 'अन्तिमता' देना उचित नहीं है। क्योंकि प्रज्ञा की अपनी सीमायें हैं और उस सीमा के बोध के साथ यथार्थवादी दृष्टि की सीमायें स्पष्ट हो जाती हैं—साथ ही, हमें एक ऐसे बोध की संभावना उभरती दिखलायी देती है जो मानवीय दृष्टि को सम्पूर्णता प्रदान करती है। अन्य शब्दों में, चेतना के अति-प्राज्ञ रूप का समर्थन और प्रज्ञात्मक चेतना की सीमाओं का अनावरण, दोनों ही अध्यात्मवाद के लिए महत्वपूर्ण हैं।

अतएव निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि यथार्थवाद एक कुचित दृष्टि का परिणाम है। अन्य शब्दों में, संपूर्ण सत् को उसकी सम्पूर्णता आत्मसात् न कर सकने के कारण ही समय-समय पर उसका समर्थन किया या है। अतएव इस दृष्टि की सीमाओं का स्पष्टीकरण तथा उसके परित्याग ी बात अध्यात्मवाद करता है। ब्रैडले की 'एपियेरेन्स एण्ड रियेल्टी' के प्रथम ंड में 'सम्बन्धात्मक चेतना' द्वारा प्रस्तुत विश्व की अन्तिमता सम्बन्धी ्रामकता को स्थापित करने का प्रयास किया गया है, तत्पश्चात् द्वितीय खंड

में 'सत्ता' के तात्विक स्वरूप को प्रस्तुत किया गया है। प्रथम दृष्टि में तो ऐसा प्रतीत होता है कि ये दोनों खण्ड परस्पर असम्वद्ध हैं। 'प्रज्ञा' तथा उसके विश्व के निषेध के पश्चात् कोई भी ऐसा भावात्मक धरातल नजर नहीं आता जिसके आधार पर सत् के स्वरूप का प्रकाशन हो सके। किन्तु वड़ी सहजता के साथ 'विध्वंस' के बीच ही ब्रैडले सत्ता सम्बन्धी एक भावात्मक निष्कर्ष को स्थापित कर लेते हैं, जिसे भावात्मक दर्शन की प्रारम्भिक कड़ी के रूप में वे प्रस्तुत करते हैं। यह प्रारम्भिक कड़ी सत्ता का न्यूनतम बोध हमारे समक्ष प्रस्तुत करती है किन्तु न्यूनतम होते हुए भी वह स्वतः सिद्ध सत्यों की श्रेणी हैं आती है। और उसी आधार पर नितान्त सहजता के साथ वे आगामी कड़ियों को जोड़ते चले जाते हैं।

इसके पूर्व कि ब्रैडले के दर्शन की प्रमुख युक्तियों को प्रस्तुत किया जाय एक और बात की ओर ध्यान देना आवश्यक है। ब्रैडले के दर्शन के प्रमुख निष्कर्षों का स्रोत जीवन स्वयं हैं। उन्होंने अपने दर्शन में कोरी परिकल्पनात्मक विधि का सर्वथा परित्याग किया है और दर्शन को जीवन की ठोस अनुभूतियों के धरातल पर खड़ा करने की कोशिश की है। उनका विश्वास है कि जिस 'सत्' का समर्थन दर्शन करता है, वह जीवन का ही सत् है और जीवन से ही एक महत्वपूर्ण अर्थ में प्राप्त होता है। जिस नवीन तर्कशास्त्र के अधीन ब्रैडले अपने चिंतन को समर्पित करते हैं उनकी चर्चा करते हुए वे उसे एक 'अपरोक्ष आदर्श प्रयोग'* के रूप में प्रस्तुत करते हैं। जीवन की विभिन्न छोटी-वड़ी अनुभूतियों के स्वरूप का यदि अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट हो जायेगा कि वे सभी अपने प्रत्यक्ष रूप से भिन्न एक नवीन दिशा की ओर इङ्गित करती हैं। वे सभी स्वातिक्रमणीय इकाइयां हैं और उनकी इस प्रकृति की ओर ध्यान देने से उनके स्वरूप के बारे में जो कुछ भी पता चलता है, वही ब्रैडले के निष्कर्षों का आधार हैं। इन सभी अनुभूतियों की मध्यस्थता से परम सत्

---

*"Direct ideal experiment made a reality."
"It is not a lesser or a weaker logic, it is fuller and a better logic. It is examining on all sides the unities and discrepancies of man's concrete experience, and discerning the conclusions towards which these index-characters inevitably point."—Bosanquet, Preface to "The meeting of extremes in contemporary Philosophy."

के जिस क्रमशः स्पष्ट होते हुये चित्र को वे प्राप्त करते हैं, और अपनी सशक्त भाषा में अङ्कित करते हैं, वह अपूर्व है। इस सत् को ही उन्होंने 'परम अनुभूति'[1] की संज्ञा दी है।

तत्वमीमांसीय दृष्टि से 'विचार' की श्रेष्ठता का समर्थन :

यद्यपि जैसा कि यहाँ कहा गया है, जीवन की सभी अनुभूतियाँ बड़ी तथा छोटी, अपनी विशिष्ट शैली में उस परम अनुभूति को व्यंजित करती हैं, उच्चतम, यथा, बौद्धिक, सौन्दर्यात्मक, नैतिक तथा धार्मिक अनुभूतियों में वह अपने स्पष्टतम रूप में व्यंजित होती हैं। अतएव उच्चतम अनुभूतियों का अध्ययन उस 'परम' अनावृत करने के लिए नितान्त आवश्यक है। कोई भी चित्र, जिसमें इनमें से किसी एक की भी उपेक्षा हो, अपने में सम्पूर्ण नहीं हो सकता। परन्तु ब्रैडले कहते हैं कि तत्वमीमांसीय दृष्टि से 'सम्बन्धात्मक चेतना' का अध्ययन सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।[2]

अतः 'सम्बन्धात्मक चेतना' की मध्यस्थता से ब्रैडले 'परम अनुभूति' के स्वरूप—को यानी सत् को प्रस्तुत करने की चेष्टा करते हैं। उनकी दृष्टि में चेतना के अन्य प्रारूपों को उसके निर्णयों में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है।[3]

किन्तु सम्बन्धात्मक चेतना के आधार पर जिस 'परम-अनुभूति' का वे समर्थन करते हैं, वह अन्ततः चेतना के सभी प्रारूपों से सम्बन्धित हैं और सभी को सन्तोष एवं परिपूर्णता प्रदान करने वाली है, इसे ब्रैडले स्वीकार करते हैं।

---

1. Absolute experience.
2. "It is only that which for thought is compulsory and irresistible—only that which thought must assert in attempting to deny it—which is a valid foundation for metaphysieal truth."—Appearance and reality, p. 133.
3. "The intellect is not to be dictated to; that conclusion is irrefragable." Ibid., p. 137.

'विचार' की 'सहज विस्तारिता' के माध्यम से सत् का प्रकाशन :

उस 'परम-अनुभूति' का तब स्वरूप क्या है ? प्रत्युत्तर में ब्रैडले सम्बन्धात्मक चेतना यानी 'विचार' की प्रकृति का अध्ययन प्रस्तुत करते हुए कहते है कि देखने में वह 'विशिष्ट' ही है। उसकी अपनी प्रकृतिगत विशेषता है और इस दृष्टि से वह चेतना के अन्य प्रारूपों, यथा—संकल्प एवं भावना से भिन्न है। किन्तु अन्तस् में व्याप्त 'प्रेरणा' की दृष्टि से यदि उसे देखें तो स्पष्ट है कि अपने को निरन्तर विस्तारित करने वाली एक स्वातिक्रमणीय इकाई के रूप में ही हमें उसका बोध होता है। ब्लांशर्ड 'विचार' की इस प्रवृत्ति को 'अन्तर्वर्ती विस्तारिता'[२] शब्द से व्यक्त करते हैं। 'विचार' की इस विशेषता को ध्यान में रखते हुए वे कहते हैं कि एक उद्देश्य परिपूरित प्रक्रिया के रूप में ही उसे प्रस्तुत करना उचित है। उसे उद्देश्य शून्य मात्र वृत्तियों के क्रम के रूप में और केवल क्रम सम्बन्धी कतिपय यांत्रिक नियमों से ही नियंत्रित मान लेना सर्वथा अनुचित है।[३]

बोसांक्वे भी 'विचार' की इस प्रकृति का समर्थन करते हैं। निरन्तर विस्तारित होने की एक आन्तरिक प्रेरणा से 'विचार' नियंत्रित है। यह आन्तरिक प्रेरणा अन्ततः विरोधों एवं विसंगतियों से मुक्त होने की प्रेरणा है। इस 'प्रेरणा' को यदि भिन्न प्रकार से प्रस्तुत करें तो यह कहा जा सकता है कि यह 'परिपूर्णता'—अंततः संगति प्राप्त करने की प्रेरणा है। विरोधों

---

2. Inherent expansiveness.
3. "It is a teleological process in which the chief determining factor is, not a step in the series at all, but an end or value ..... a self development of ideal content under the control of an immanent and a restless seeking for a satisfaction of its own, and it is only when we stand inside it and see things through its own eyes that we begin to understand what business it is about."
—B. Blanshard, The Nature of Thought, Vol. I, pp. 458-59.

से मुक्ति की यह स्थिति कैसी होगी, इसकी भावात्मक कल्पना संभव नहीं, किन्तु इतना तो उसके विषय में निषेधात्मक रूप से कहा ही जा सकता है, कि उसमें विसंगतियों का सर्वथा अभाव होगा। बोसांक्वे ने उक्त 'प्रेरणा' को 'संगति की ओर प्रवृत्ति'[1] पद समूह से व्यक्त किया है। यह 'प्रेरणा' अतिरिक्त है और विचार के अन्तवर्ती आदर्श को व्यंजित करनेवाली है। इस प्रेरणा के परम निरपेक्ष, स्वत: सिद्ध स्वरूप को व्यंजित करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि इसकी स्वत: सिद्धता केवल इस बात से सिद्ध हो जाती है कि इसके प्रति संदेह व्यक्त करने में अथवा इसका निषेध करने में हम इसे पुन:-पुन: स्वीकार कर लेते हैं। कारण स्पष्ट करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि 'संदेह' तथा 'निषेध' दोनों विचार की ही प्रक्रियाएँ हैं और 'संगति' के प्रतिमान से नियंत्रित हैं। अत: जिस प्रतिमान को ये प्रक्रियाएँ स्वयं स्वीकार करती हैं, जिससे नियंत्रित होकर ये कार्य करती हैं, उसे ही किस प्रकार ये अस्वीकार कर सकती हैं?[2] स्पष्ट है कि जब तक हम विचार का सम्पूर्ण रूप से परित्याग नहीं कर देते, इस 'प्रतिमान' को अस्वीकार करना हमारे लिये संभव नहीं है।

अन्तर्वर्ती प्रतिमान के विरुद्ध संभव आपत्तियों की प्रस्तुति एवं निराकरण :

'प्रतिमान' की निरपेक्षता के विरुद्ध संभव आपत्तियों की चर्चा करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि यह 'अनुभव सापेक्ष' तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि जिस भी ज्ञान से इसे निष्कर्षित किया जायेगा, वह स्वयं 'ज्ञान' होने के नाते इसकी अपेक्षा करेगा। ज्ञान की संभावना में ही स्वीकृत 'नियम' ज्ञानाश्रित कैसे हो सकता है?

पुन: एक से अधिक प्रतिमानों की संभावना के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि थोड़ी देर के लिए यदि यह मान

---

1. Nisus for whole.
2. "What can be more irrational, than to try to prove that a principle is doubtful, when the proof through every step rests on its unconditional truth."—Appearance and Reality, p. 120.

भी लिया जाय कि विचार जिस 'प्रतिमान' से नियंत्रित होता है, वह एक नहीं है। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक है कि हम प्रश्न करें कि यदि वे एक से अधिक हैं तो फिर वे परस्पर सम्बद्ध है अथवा असम्बद्ध ? प्रत्युत्तर में यदि हम स्वीकार करते हैं कि वे सम्बद्ध हैं तो हम परोक्ष रूप में पुन: 'संगति' के मानदण्ड को ही 'अन्तिम' मान लेते हैं। ऐसी स्थिति में अनेक प्रतिमानों की कल्पना निरर्थक है क्योंकि वे सभी पुन: 'संगति' के व्यापक मानदण्ड के अन्तर्गत सम्मिति हो जायेंगे अन्यथा उन्हें सम्मिलित करने की हमारी चेष्टा उस समय तक कायम रहेगी, जब तक हमें अपने प्रयास में सफलता नहीं मिलती और हमारा यह प्रयास स्वत: इस बात का प्रमाण है कि विचार के स्तर पर 'संगति' ही मानदंड के रूप में अन्तिमता रखता है।[1]

'प्रतिमान' की निरपेक्षता तथा उसकी अन्तिमता को स्थापित करने के उपरान्त ब्रैडले कुछ सम्बद्ध भ्रांतियों का भी निराकरण करते हैं। निरपेक्ष एवं अन्तिम होते हुए भी इस प्रतिमान के विषय में हमारा बोध न्यूनतम और निषेधात्मक ही है। उसकी निषेधात्मकता की चर्चा करते हुए वे कहते हैं कि निषेधात्मक बोध अथवा कथन सदैव एक भावात्मक बोध की अपेक्षा करते हैं चाहे उक्त भावात्मक बोध न्यूनतम ही क्यों न हो और अनभिव्यक्त ही क्यों न रहे। इस कारण जब 'प्रतिमान' को हम निषेधात्मक कथनों से व्यंजित करते हैं—यथा 'वह जो विसंगतियों का निषेध है, तो उसका एक भावात्मक बोध भी पृष्ठभूमि में विद्यमान रहता है। जिसमें विसंगतियों का निषेध हो वह किसी प्रकार की-भले ही अपरिभाष्य क्यों न हो, 'संगति' अथवा 'सम्बद्धता' की ही स्थिति होगी। ब्रैडले प्रतिमान को इस प्रकार के भावात्मक शब्दों द्वारा व्यंजित भी करते हैं पर वे इन भावात्मक शब्दों की अपेक्षा निषेधात्मक कथनों को अधिक सार्थक एवं महत्वपूर्ण मानते है। वे इस सम्बन्ध में (अ-व्याघाती) शब्द का प्रयोग अधिक उचित हैं।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि उपर्युक्त बोध निषेधात्मक है, न्यूनतम है, पर वह भावात्मक है, उसमें कोई संदेह नहीं। यही नहीं वे कहते हैं कि वह 'प्रतिमान' हममें सक्रिय है—हमारे समस्त चिंतन को एक

---

1. "Coherence is an overruling test of truth, and the vorious standards (if they exist) are certainly subordinate."—Ibid., p. 121.
2. Non-contradiction.

महत्वपूर्ण अर्थ में नियंत्रित करता है और इसके बाद भी यदि हम यह कहें कि हमें उसका कोई भी अहसास नहीं है तो ऐसा कहना अनुचित ही होगा।[1] क्योंकि किसी भी सक्रिय वस्तु की कार्यविधि को देखते हुए भी उसके विषय में अपनी पूर्ण अज्ञानता को व्यक्त करना मैं नहीं समझता किस प्रकार रक्षणीय है ?

अत: अनेक स्थलों पर उसके भावात्मक स्वरूप को व्यंजित करते हुए वे कहते हैं कि वह निश्चित रूप से 'संगति' है। इसके विषय में किसी प्रकार का संदेह संभव ही नहीं है और न्यूनतम बोध होते हुए भी उसका निराकरण संभव नहीं है।

सत् के स्वरूप की व्यंजना: सत् संगति है—एक मूर्त सामान्य है :

इसके पश्चात् ब्रैडले विचार के 'प्रतिमान' के माध्यम से सत् के स्वरूप को व्यंजित करते हैं, क्योंकि विचार अपने माध्यम से सत् को व्यंजित करना चाहता है। यह सत् अन्तर्वर्त्ती होने के कारण विश्व की सभी सत्ताओं में, सभी अनुभूतियों में, व्याप्त है यही नहीं प्रेरणा रूप में उन सभी में सक्रिय है, यह पहले ही कहा जा चुका है। इसी मूल स्वीकृति के आधार पर ब्रैडले विचार के माध्यम से सत् के परम निरपेक्ष स्वरूप को व्यंजित करते हैं। इस दृष्टि से सत् वह है जिनमें विसंगतियों का अभाव है और भावात्मक रूप से उसके विषय में यह कहा जा सकता है कि वह 'सगति' है।

पुन: 'संगति' के स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए ब्रैडले उसे 'आकारिक संगति' से भिन्न मानते हैं। 'संगति' विस्तारित होते हुए अनुभव की विशेषता है। यही नहीं जब तक वह सभी कुछ को अपने अन्दर आत्मसात्

---

1. "For I cannot see how when I observe a thing at work, I am to stand there and to insist that I know nothing of its nature. I fail to perceive how a function is nothing at all, or how it does not positively qualify that to which I attribute it."—Ibid., pp. 122—23.

नहीं कर लेता, तब तक उसके लिए स्थायी संगति संभव नहीं है।[1]निष्कर्षत: यह कहा जा सकता हैं कि 'संगति' और 'व्यापकता' पर्यायवाची है। जो संगति पूर्ण है वह सभी को अपने परिवेश में सम्मिलित करने वाला भी है। सत् के इन दोनों पक्षों को समन्वित रूप से प्रस्तुत करते हुए ब्रैडले 'सर्वान्तर्भूतकारी सम्पूर्णता'[2] शब्द का प्रयोग करते हैं। इसे ही 'मूर्त्तसामान्य' की भी संज्ञा दी गयी है और बोसांक्वे ने अपने गिफर्ड लेक्चर्स में इसे ही व्यष्टित्व[3] शब्द से व्यंजित किया है।

अत: 'व्यापकता' शब्द वर्तमान संदर्भ में विशेष अर्थ रखता है। परम निरपेक्ष सत् मात्र अपकर्षण की प्रक्रिया का परिणाम नहीं है। अन्य शब्दों में' वह एक अमूर्त सामान्य नहीं, जिसमें यथार्थ जगत के सभी वैविध्य का एक॰ बारगी निषेध हो जाता है उस 'सत्' के समर्थन का आधार अपनी समस्त यथार्थथता के साथ तथ्यात्मक जगत स्वयं है। अतएव अध्यात्मवाद इस जगत की तथ्यता को स्वीकार करते हुए इसमें ही विद्यमान एवं सक्रिय आदर्श विषयक प्रेरणा के आधार पर विश्व के तात्विक स्वरूप को प्रस्तुत करता है, वही उसके लिए परम सत् है।

अत: जैसा कि सामान्यत: समझा जाता है परम सत् में विश्व के वैविध्य का निषेध नहीं है, वह इस सभी को अपने में समाविष्ट करता है,[4] किन्तु उसे उसकी विसंगतियों एवं अपूर्णताओं से पूरित वर्तमान रूप से भिन्न

---

1. "Any limitation from the outside would infect the inner content with dependence on what is alien". —Ibid. pp. 332—333.
2. "All-inclusive whole."
3. "individuality."—"By co herence or consistency we mean the consistency, so far as attainable of the whole body of experience with itself. Nothing less would satisfy the law of individuality or the necessity of non-contradiction."—B. Bosanque', Logic, book II, P. 267.
4. "The character of the Real is to possess everything phenomenal in a harmonious form"–Appearance and Reality, p. 123.

रूप में। अन्य शब्दों में, उसमें ये सभी अवस्थित हैं किन्तु अपने विरोध एवं विसंगसियों के समर्पण के उपरांत ही। किस प्रकार इनकी विसंगतियों का समर्पण हो जाता है और विसंगतियों के समर्पण के उपरांत किस प्रकार ये परस्पर सम्वद्ध होकर संगति का नितांत सहजता के साथ निर्माण कर लेते हैं इसके विषय में विस्तार के साथ बोध के वर्तमान स्तर पर कुछ कह सकना असंभव है। प्रज्ञा के स्तर पर तो इसे केवल एक संभावना के रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है, इससे अधिक नहीं।[1]

सत सचेतनता है:

परम सत् के स्वरूप को पुनः प्रस्तुत करते हुये ब्रैडले कहते है कि वह 'सचेतनता'[2] है। 'सचेतनता' शब्द के साथ जो सामान्य स्वीकृतियाँ सम्बद्ध हैं, उनका निराकरण करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि सचेतनता के साथ जो 'पदार्थ' की कल्पना जुड़ी रहती है, वह भ्रामक है। सामान्यतः हम विश्वास करते हैं और दर्शन के इतिहास में भी हम देखते हैं कि सचेतनता सचेतन विषयी की विशेषता है। हम विश्व को चेतन तथा अचेतन दो रूपों में विभाजित कर देते हैं। चेतन इकाइयां अनुभूति की यानी सचेतनता की सामर्थ्य रखती है और अचेतन इकाइयां इस संभावना से शून्य होती हैं। इस प्रकार का विभाजन—विश्व को दो असम्बद्ध, परस्पर विरोधी गुणों से युक्त सत्ताओं में विभाजित कर देना और पुनः उनमें से एक को, उदाहरणार्थ, विषयी को सत् रूप रूप में स्वीकार करना और दूसरे को नगण्य प्रायः मान लेना अथवा उसकी अनुभूति के परिणाम के रूप में स्वीकार कर लेना अनुचित है।[3] सम्भवतः बर्कले के 'सत्ता दृश्यता'[4] जैसे सिद्धांत की ओर ब्रैडले का यहाँ पर स्पष्ट संकेत है।

---

1. "Fully to realize the existence of the Absolute is for finite beings impossible. In order thus to know we should have to be, and then we should not exists"— Ibid., p 140.
2. Sentience.
3. "To set up the subject or real idependent of the whole and to make the whole into experience in the sense of an adjective of that subject seems to be indefensible appearance." P. 128.
4. "Esse est percipii".

किंतु यदि हम 'अनुभव' के स्वरूप का अध्ययन करें तो वह एक अविभाज्य एकता—एक परिपूर्णता के रूप में ही दिखाई देता है। उसमें विषयी तथा 'विषय' जैसी स्पष्ट, पृथक्—पृथक् व्यष्टित्व सम्पन्न इकाइयों का हमें बोध नहीं होता। उस परिपूर्णता में भेद किये जा सकते हैं किन्तु विभाजन सम्भव नहीं और अपने समस्त भेदों के बावजूद वह एक अविभाज्य एकता ही बनी रहती है।[1]

प्रश्न यह है कि तब 'सत्ता सचेतनता' हैं, किस अर्थ में सार्थक है? ब्रैडले कहते है कि किसी भी अस्तित्ववान् वस्तु में से अपकर्षण की प्रक्रिया द्वारा यदि हम वह सभी कुछ निकाल लें जो हमारे लिए सार्थकता रखती है, यानी उसे रूप, रस, स्वाद विहीन कर दें तो हम देखेंगे कि वह अस्तित्ववान वस्तु नगण्यप्राय हो जायेगी। यही नहीं, वस्तु के मात्र अस्तित्व का समर्थन भी चेतनता के अभाव में संभव नहीं है। विपरीतत: किसी ऐसी वस्तु का समर्थन जो किसी भी अर्थ में अनुभूत नहीं है, असम्भव है। निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि सत्ता सचेतनता है। अन्य शब्दों में, 'सचेनता' सत्ता के लिए—उसकी सार्थकता के लिए विशेष अर्थ में केन्द्रीय है। वह अन्य शब्दों में, एक महत्वपूर्ण अर्थ में, उसका अनानुभविक अधिष्ठान है।[2]

---

1. "For if we go to experience what we certainly do not find is a 'subject' or an 'object' or indeed anything whatever standing separate and on its bottom. What we discover rather is a whole in which distinctions can be made but in which divisions do not exist." --Ibid., p. 128.
2. "To be real, or even barely to exist, must be to fall within sentience. We may say in other words that there is no being or fact outside of that which is commonly called psychical existence."—Ibid., p: 127:

   "Find any piece of existence:, anything in no sense felt or perceived becomes to me quite unmeaning. And or I cannot try to think of it without realizing either that I am not thinking at all, or that I am

—Contd:

पाश्चात्य दर्शन कांट के दर्शन के उपरान्त इस निष्कर्ष का समर्थन विभिन्न संदर्भों में विभिन्न दार्शनिकों द्वारा हुआ है कि चेतना विश्व का अनानुभविक अधिष्ठान है और उसकी परिधि से वाह्य किसी सत् का समर्थन अनुचित हैं। ग्रीन तथा ब्रैडले दोनों ही चेतना निरपेक्ष सत् के समर्थन को भ्रामक मानते हैं। ऐसे सत् की स्वीकृति तथा उसकी अज्ञेयता की घोषणा स्वतोव्याघाती है। यदि यथार्थ में वह मानवीय बोध की परिधि से बाह्य होता तो उसकी मात्र स्वीकृति भी किस प्रकार सम्भव होती ? हम उसे स्वीकार करते हैं यह स्वयं इस बात का प्रमाण है कि वह हमारे बोध की परिधि में आने वाला सत् है भले ही उस बोध को हम स्पष्टता न प्रदान कर सकें।

सत्—सम्पूर्ण व्यक्तित्व को संतुष्ट करने वाला है :

'सत् सचेतनता है' इस निष्कर्ष को इस प्रकार स्थापित करने के पश्चात् ब्रैडले एक महत्वपूर्ण प्रश्न की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं। वे कहते हैं सत् 'संगति' है' वह 'सम्बद्धता' है एवं विसंगतियों का विघटन है—यह तो सत् के सम्बन्ध में विचार की मांग है, जिसे पूरा करके वह सर्वथा संतुष्ट हो जायगा। पर क्या सत् का यह रूप विचार के अतिरिक्त भावनात्मक स्तर पर अथवा व्यवहार के स्तर पर भी संतोष प्रदान करने वाला होगा ? क्या, अन्य शब्दों में, वह हमारे सम्पूर्ण व्यक्तित्व को संतोष प्रदान करने वाला होगा ?

इस प्रश्न का सीधा भावात्मक उत्तर उनके विचार में संभव नहीं है। सैद्धान्तिक रूप से इस बात की कल्पना की जा सकती है कि जो विचार की दृष्टि से संगतिपूर्ण हो तथा उसे संतोष प्रदान करने वाला हो, वह दुख के साथ अथवा अपूर्ण संतोष के साथ नितान्त सहजता के साथ समन्वित हो जाय। किन्तु फिर भी यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या यह सम्भव है कि बुद्धि अपने ही स्तर पर प्राप्त संतोष के स्थायी रूप से संतुष्ट हो सकती है ? क्या यह सोचना अपेक्षाकृत अधिक उचित न होगा कि मानव के शेष

---

thinking of it against my will as being experienced, I am driven to the conclusion that for me experience is the same as reality:"—Ibid., p: 128:

व्यक्तित्व का असन्तोष मात्र बुद्धि के स्तर पर प्राप्त संतोष को निषेधात्मक रूप से प्रभावित करेगा ? ब्रैडले कहते हैं यह सोचना उचित ही है कि यदि 'सत्' संगतिपूर्ण है तो उसमें किसी प्रकार के असंतोष की कल्पना अनुचित है ।[1] उसे, अन्य शब्दों में, हमारे व्यक्तित्व को सभी स्तरों पर संतोष प्रदान करने वाला होना चाहिये ।

विचार के माध्यम से 'सत्' के सामान्य स्वरूप को प्रस्तुत करने के उपरांत ब्रैडले विचार तथा 'सत्' के सम्बन्ध की चर्चा करते हैं—यदि वर्तमान प्रसंग में 'सम्बन्ध' शब्द का किसी अर्थ में प्रयोग किया जा सकता है ।

विचार एवं सत् के सम्बन्ध का स्वरूप :

'विचार' तथा 'सत्' के सम्बन्ध की चर्चा करने के पूर्व उसके सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण भ्रांति का निराकरण आवश्यक है । यथार्थवादी दृष्टिकोण के अन्तर्गत 'विचार' तथा 'सत्' के सम्बन्ध की कल्पना बाह्य सम्बन्धों के सिद्धान्त के आधार पर की जाती है । इस सिद्धान्त के अन्तर्गत 'विचार' तथा 'सत्' दो ऐसी इकाइयां मान ली जाती हैं, जिनमें 'मूल' तथा 'प्रतिलिपि' का सम्बन्ध है । तथ्यात्मक जगत सत् रूप में अवस्थित है और विचार प्रत्ययों के माध्यम से अपने से पृथक् एवं स्वतन्त्र इस जगत को चित्रित करने का प्रयास करता है । जिस सीमा तक वह अपने इस प्रयास में सफल होता वह 'सत्य' होता है , विपरीतत: यदि उन तथ्यों की अनुकृति विकृत है—यथार्थता से भिन्न है, तो विचार भ्रांतिपूर्ण है, और सत्य होने के लिये मूल के अनुरूप उसे अपने में संशोधन लाना होगा ।

अत: निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि विचार अपने से पृथक् और स्वतंत्र सत्ता से एक महत्वपूर्ण अर्थ में नियंत्रित होता है । उसकी अनुरूपता में ही उसका जीवन है—सार्थकता है । मूल और प्रतिलिपि में स्पष्ट है, प्रतिलिपि की अपेक्षा मूल ही अधिक महत्वपूर्ण है । दर्शन के इतिहास में यह सिद्धान्त 'संवादिता—सिद्धान्त'[2] के नाम से प्रस्तुत किया गया है । व्यावहारिक स्तर पर हम सभी इस सिद्धान्त का समर्थन करते हैं । किन्तु ब्रैडले 'विचार' तथा बाह्य जगत' को दो मूल रूप से असम्बद्ध सत्ताओं के

1. Ibid, p. 137; 140.
2. Correspondence theory.

रूप में प्रस्तुत नहीं करते। इस प्रकार का द्वैत, जैसा कि पूर्व पृष्ठों में स्पष्ट हो चुका है, व्यावहारिक दृष्टि से भले ही सार्थक प्रतीत हों, किन्तु तात्विक दृष्टि से उचित नहीं है। विचार जगत का समर्थन करता है—उसके स्वरूप को प्रस्तुत करने की अनवरत चेष्टा करता है। यह स्वतः इस बात का प्रमाण है कि दोनों असम्बद्ध सत्तायें नहीं प्रत्युत् परस्पर आंतरिक रूप से सम्बद्ध सत्तायें हैं।

उनकी इस 'सम्बद्धता' को स्वीकार करते हुए इनके मूल में जो अनुभवातीत सत् 'प्रेरणा' रूप में विद्यमान है, उसे ही ब्रैडले 'सत्' की संज्ञा देते हैं। अतएव 'विचार' तथा 'सत्' के सम्बन्ध का प्रश्न इनके दर्शन में एक नये रूप में सामने आता हैं। 'विचार' तथा 'सत्' के सम्बन्ध का प्रश्न वस्तुतः 'विचार' तथा उसमें सक्रिय 'आदर्श प्रेरणा' के सम्बन्ध का प्रश्न है ? इस दृष्टि से 'विचार' तथा सत् बाह्य एवं असंबद्ध सत्ताएं नहीं प्रत्युत् अभिन्न रूप से संवद्ध सत्तायें हैं। एक ही सत्ता अपने वर्तमान स्वरूप की दृष्टि से 'विशिष्ट' है 'सांत है और अन्य सत्ताओं से इसी विशिष्टता के कारण भिन्न है, किन्तु अपनी आंतरिक प्रेरणा की दृष्टि से इस विशिष्टताका—अपनी सीमाओं का निरन्तर अतिक्रमण करने, उन्हें विस्तारित करने के लिए संतत प्रयत्नशील भी दिखाई देती है। विस्तारित होने की यह अदम्य तृष्णा, विसंगतियों से मुक्त होने की भी तृष्णा है। अतः 'संगति' विचार का आदर्श है और वही 'सत्' का भी स्वरूप है। प्रश्न है कि इस सत् से—अपने ही आदर्श रूप से विचार का फिर क्या सम्बन्ध है ?

प्रश्न का उत्तर देते हुए इतना तो सरलता से कहा जा सकता है कि विचार अपनी विशिष्ट जीवन शैली के माध्यम से 'सत्' को व्यंजित करना चाहता है और क्योंकि 'व्यंजित' शब्द दोनों की अभिन्नता को व्यक्त करने की दृष्टि से पर्याप्त प्रतीत नहीं होता, यह कहना अधिक उचित प्रतीत होता है कि 'विचार' 'सत्' रूप में अवस्थित होना चाहता है। यही उसकी चरम निष्पत्ति है, इसमें ही उसे स्थायी संतोष की प्राप्ति होनी है।

इस 'उद्देश्य' की दृष्टि से ब्रैडले 'विचार' की विशिष्ट शैली का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत करते हैं।

'विचार के स्वरूप का विश्लेषण :

'विचार' अपनी विशिष्ट शैली की दृष्टि से 'निर्णयों' में व्यक्त होता है

और 'निर्णय' की प्रकृति का यदि अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि उद्देश्य—विधेय रूप ही उसका सर्वव्यापी रूप है। 'निर्णय' के सामान्य स्वरूप की चर्चा करते हुये ब्रैडले कहते हैं कि उसका 'उद्देश्य' जगत का अस्तित्ववान तथ्य विशेष है जिसमें 'अस्तित्व' तथा अन्तर्विषय'—दोनों ही एक अविभाज्य एकता की स्थिति में अवस्थित हैं। इन दोनों पक्षों को विचार के स्तर पर पृथक् किया जा सकता है, किन्तु जहाँ तक स्वयं तथ्य का सम्बन्ध है, ये उसमें अभिन्न रूप से सम्बद्ध हैं और इनकी विभाजन रेखा को निर्धारित नहीं किया जा सकता। अस्तित्ववान तथ्य को यानी निर्णय के उद्देश्य को, प्रतीकात्मक रूप से 'तद्—किम्' प्रतीक से व्यक्त किया जा सकता है। 'तद्' शब्द उसके 'अस्तित्व पक्ष' को तथा 'किम्' उसके 'अन्तर्विषय' को व्यंजित करता है। इन दोनों को संयुक्त रूप से प्रस्तुत करने का आशय है कि ये पक्ष उक्त तथ्य में अपृथक् एकता की स्थिति में अवस्थित है।

किन्तु निर्णय का द्वितीय पद—'विधेय', केवल 'अन्तर्विषय' की ही प्रस्तुति है। इस प्रश्न पर ब्रैडले अपने विरोधियों से एकमत हैं। उनकी दृष्टि में भी विचार तथ्य के अस्तित्व पक्ष से अपने को संपूर्णत: अलग कर लेता है। विचार के स्तर पर केवल एक ही पक्ष की महत्ता है क्योंकि इसीके माध्यम से विचार 'उद्देश्य' को, जो तद्—किम् का समन्वित रूप है, प्रस्तुत करने की चेष्टा करता है। निर्णय की इस मूल विसंगति को प्रस्तुत करते हुए ब्रैडले कहते हैं: 'तत्वत: निर्णय किम् एवं तद् दो पक्षों का जो अस्थायी रूप से वियुक्त हैं, पुनर्मिलन है। किन्तु इन दो पक्षों के वियोजन में ही वस्तुत: विचार की प्रत्ययात्मकता निहित है [१]''

निर्णय में विद्यमान इस मूल-विसंगति को ब्रैडले 'प्रत्ययात्मकता' शब्द से व्यंजित करते हैं। इसमें कोई संदेह नही कि अपने माध्यम से विचार तथ्य को उसकी सम्पूर्णता में व्यंजित करना चाहता है। किन्तु उसे ग्रहण करने की प्रक्रिया में वह उसे तद्-किम् दो खण्डों में विभाजित कर देता है। प्रथम उसका

1. "Judgment is essentially the reunion of two side 'what' and 'that' provisionally estranged. But it is the alienation of these aspects in which thought's ideality consists." वे पुन:कहते हैं "There is an aspect of existence, absent from the predicate but present in the subject."—Ibid., p. 145.

अस्तित्व पक्ष है और द्वितीय अन्तर्विषय पक्ष। तत्पश्चात् वह अन्तर्विषय पर ही अपने को केन्द्रित करता है और उसे 'विधेय' में सतत् विस्तारित करता रहता है। इस अन्तर्विषय को भी वह अनगिनत खंडों में वितरित कर उन्हें पृथक् पृथक् गुणों के रूप में प्रस्तुत करता है। इनमें से प्रत्येक गुण एक विशिष्ट इकाई का रूप ग्रहण कर लेता है और ये इकाइयां एक जैसे न जाने कितने अन्तर्विषयों का समान रूप से प्रतिनिधित्व करती हैं। परिणाम स्वरूप 'अन्तर्विषय' अपनी विशिष्ट एकता समर्पित कर जब इन आणविक गुणों में प्रस्तुत होता है तो उसका स्वरूप निश्चित ही विकृत हो जाता है। जो विशिष्ट है वह गुणों के माध्यम से किस प्रकार व्यंजित हो सकता है? अन्य शब्दों में, जो विशिष्ट है, वह अपनी विशिष्टता को समर्पित किये बिना किस प्रकार एक साथ ही अविशिष्ट भी हो सकता है? 'गुण' तो अपकर्षण की प्रक्रिया का परिणाम हैं, वे सामान्य हैं। उन्हें 'अन्तर्विषय' की विशिष्टता को व्यंजित करने का उपयुक्त माध्यम कैसे माना जा सकता है? किन्तु विचार इन 'गुणों' के माध्यम से और इनके बीच निर्मित कृत्रिम 'सम्बन्धों' के माध्यम से ही तथ्यों की तथ्यता—उसकी अविभाज्य एकता को पुनः प्रस्तुत करना चाहता है। स्पष्ट है कि उसका यह प्रयास अनुचित है और अपने इस उद्देश्य में वह किसी प्रकार से सफल नहीं हो सकता।

'सत्य का स्वरूप : क्या विचार के स्तर पर उसकी उपलब्धि संभव है?

पुनः 'सत्य' के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि अपने आदर्श स्वरूप की दृष्टि से 'सत्य' विचार द्वारा प्रदत्त सत् का वह रूप है, जिससे वह पूर्णतया संतुष्ट हो सके।[1] किन्तु जैसा कि उपर्युक्त प्रस्तुति से स्पष्ट हो गया होगा, विचार के स्तर पर सत्य की उपलब्धि संभव नहीं। अन्य शब्दों में, विचार के स्तर पर 'उद्देश्य' तथा 'विधेय' के बीच पूर्ण तादात्म्य संभव नहीं क्योंकि 'विधेय' मात्र अन्तर्विषय की और वह भी कृत्रिम प्रस्तुति है। स्पष्ट है विचार के स्तर पर प्रस्तुत अन्तर्विषय अपने इस रूप में अस्तित्व पक्ष से कभी भी पुनः संयुक्त नहीं हो पाता। किन्तु उद्देश्य तद्-किम् की

---

1. "Giving a character to reality in which it can rest."
—Ibid., p. 145.

अविभाज्य एकता को सूचित करता है। इसीको अपनी अपूर्व शैली में प्रस्तुत करते हुए ब्रैडले कहते हैं। 'जब तक विचार में यह वियोजन समाप्त नहीं हो जाता, विचार कभी भी मानसिक के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हो सकता।"[1]

विचार की इस विशेषता की चर्चा करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि विचार की उक्त विसंगति की पृष्ठभूमि में तथा उसे नियंत्रित करने वाली एक और प्रत्ययात्मकता है, जिसे उन्होंने अधो-सम्बन्धात्मक अव्यवहितत्व की संज्ञा दी है। यह अव्यवहितत्व सम्बन्धात्मक चेतना का प्रारम्भ बिंदु प्रदान करने वाला बोध है और इसमें यद्यपि तथ्यों के दोनों पक्ष 'अस्तित्व' तथा 'अन्तर्विषय' अविभाज्य एकता की स्थिति में रहते हैं, फिर भी यह 'एकता' स्थायी नहीं है। इस 'अव्यवहितत्व' में स्वत: अपनी एकता का अतिक्रमण करने की, उसे खंडित करने की प्रवृत्ति विद्यमान रहती है। इसे भिन्न प्रकार से यदि प्रस्तुत किया जाय तो कहा जा सकता है कि तद् एवं किम् के समन्वित होने के बावजूद 'किम्' को अधिकाधिक स्पष्टता के साथ व्यजित करने की प्रवृत्ति इस 'अनुभूति' में विद्यमान रहती है। विचार इसी प्रवृत्ति को सुदृढ़ करता है और उसके द्वारा किया हुआ विभाजन उसके अपने प्रयासों द्वारा पुन: मूल एकता को प्राप्त नहीं होता, विपरीतत: विभाजन तीव्र से तीव्रतम होता जाता है। पर विचार की प्रक्रिया के उद्देश्य का स्पष्टीकरण करते हुए यह कहा जा सकता है कि विभाजन को तीव्र तथा तीव्रतम करने के पीछे विचार का मूल उद्देश्य सत् को उसकी अखंड एकता में पुन: प्रस्तुत करना है। विचार की इस प्रक्रिया की तुलना 'होमियोपैथिक रीति'[2] से किये हुए उपचार से हो सकती है। अत: निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि विचार द्वारा प्रस्तुत सत् का रूप 'अस्तित्व' से विशेष अर्थ में सम्बन्धित तो है, किन्तु ठीक उसी रूप में वह 'अस्तित्ववान् नहीं है।[3] अन्य शब्दों में, विचार की 'प्रत्ययात्मकता' उसकी अपनी व्यक्तित्व-विषयक विशेषता हैं और इसका समर्पण वह अपने स्तर

1. "So for as in thought this alienation is not made good, thought can never be more than merely ideal." —Ibid, p. 146.
2. "Homeopothically."
3, "Truth belongs to existence, but it does not as such exist."--Ibid., p, 147.

अस्तित्व पक्ष है और द्वितीय अन्तर्विषय पक्ष। तत्पश्चात् वह अन्तर्विषय पर ही अपने को केन्द्रित करता है और उसे 'विधेय' में सतत् विस्तारित करता रहता है। इस अन्तर्विषय को भी वह अनगिनत खंडों में वितरित कर उन्हें पृथक् पृथक् गुणों के रूप में प्रस्तुत करता है। इनमें से प्रत्येक गुण एक विशिष्ट इकाई का रूप ग्रहण कर लेता है और ये इकाइयां एक जैसे न जाने कितने अन्तर्विषयों का समान रूप से प्रतिनिधित्व करती हैं। परिणाम स्वरूप 'अन्तर्विषय' अपनी विशिष्ट एकता समर्पित कर जब इन आणविक गुणों में प्रस्तुत होता है तो उसका स्वरूप निश्चित ही विकृत हो जाता है। जो विशिष्ट है वह गुणों के माध्यम से किस प्रकार व्यंजित हो सकता है? अन्य शब्दों में, जो विशिष्ट है, वह अपनी विशिष्टता को समर्पित किये बिना किस प्रकार एक साथ ही अविशिष्ट भी हो सकता है? 'गुण' तो अपकर्षण की प्रक्रिया का परिणाम हैं, वे सामान्य हैं। उन्हें 'अन्तर्विषय' की विशिष्टता को व्यंजित करने का उपयुक्त माध्यम कैसे माना जा सकता है? किन्तु विचार इन 'गुणों' के माध्यम से और इनके बीच निर्मित कृत्रिम 'सम्बन्धों' के माध्यम से ही तथ्यों की तथ्यता—उसकी अविभाज्य एकता को पुनः प्रस्तुत करना चाहता है। स्पष्ट है कि उसका यह प्रयास अनुचित है और अपने इस उद्देश्य में वह किसी प्रकार से सफल नहीं हो सकता।

'सत्य का स्वरूप : क्या विचार के स्तर पर उसकी उपलब्धि संभव है?

पुनः 'सत्य' के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि अपने आदर्श स्वरूप की दृष्टि से 'सत्य' विचार द्वारा प्रदत्त सत् का वह रूप है, जिससे वह पूर्णतया संतुष्ट हो सके।[1] किन्तु जैसा कि उपर्युक्त प्रस्तुति से स्पष्ट हो गया होगा, विचार के स्तर पर सत्य की उपलब्धि संभव नहीं। अन्य शब्दों में, विचार के स्तर पर 'उद्देश्य' तथा 'विधेय' के बीच पूर्ण तादात्म्य संभव नहीं क्योंकि 'विधेय' मात्र अन्तर्विषय की और वह भी कृत्रिम प्रस्तुति है। स्पष्ट है विचार के स्तर पर प्रस्तुत अन्तर्विषय अपने इस रूप में अस्तित्व पक्ष से कभी भी पुनः संयुक्त नहीं हो पाता। किन्तु उद्देश्य तद्-किम् की

1. "Giving a character to reality in which it can rest." —Ibid., p. 145.

अविभाज्य एकता को सूचित करता है। इसीको अपनी अपूर्व शैली में प्रस्तुत करते हुए ब्रैडले कहते हैं। 'जब तक विचार में यह वियोजन समाप्त नहीं हो जाता, विचार कभी भी मानसिक के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हो सकता।''[1]

विचार की इस विशेषता की चर्चा करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि विचार की उक्त विसंगति की पृष्ठभूमि में तथा उसे नियंत्रित करने वाली एक और प्रत्ययात्मकता है, जिसे उन्होंने अधो-सम्बन्धात्मक अव्यवहितत्व की संज्ञा दी है। यह अव्यवहितत्व सम्बन्धात्मक चेतना का प्रारम्भ बिंदु प्रदान करने वाला बोध है और इसमें यद्यपि तथ्यों के दोनों पक्ष 'अस्तित्व' तथा 'अन्तर्विषय' अविभाज्य एकता की स्थिति में रहते हैं, फिर भी यह 'एकता' स्थायी नहीं है। इस 'अव्यवहितत्व' में स्वत: अपनी एकता का अतिक्रमण करने की, उसे खंडित करने की प्रवृत्ति विद्यमान रहती है। इसे भिन्न प्रकार से यदि प्रस्तुत किया जाय तो कहा जा सकता है कि तद् एवं किम् के समन्वित होने के बावजूद 'किम्' को अधिकाधिक स्पष्टता के साथ व्यंजित करने की प्रवृत्ति इस 'अनुभूति' में विद्यमान रहती है। विचार इसी प्रवृत्ति को सुदृढ़ करता है और उसके द्वारा किया हुआ विभाजन उसके अपने प्रयासों द्वारा पुन: मूल एकता को प्राप्त नहीं होता, विपरीतत: विभाजन तीव्र से तीव्रतम होता जाता है। पर विचार की प्रक्रिया के उद्देश्य का स्पष्टीकरण करते हुए यह कहा जा सकता है कि विभाजन को तीव्र तथा तीव्रतम करने के पीछे विचार का मूल उद्देश्य सत् को उसकी अखंड एकता में पुनः प्रस्तुत करना है। विचार की इस प्रक्रिया की तुलना 'होमियोपैथिक रीति'[2] से किये हुए उपचार से हो सकती है। अत: निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि विचार द्वारा प्रस्तुत सत् का रूप 'अस्तित्व' से विशेष अर्थ में सम्बन्धित तो है, किन्तु ठीक उसी रूप में वह 'अस्तित्ववान्' नहीं है।[3] अन्य शब्दों में, विचार की 'प्रत्ययात्मकता' उसकी अपनी व्यक्तित्व-विषयक विशेषता है और इसका समर्पण वह अपने स्तर

1. "So for as in thought this alienation is not made good, thought can never be more than merely ideal." —Ibid, p. 146.
2. "Homeopothically."
3, "Truth belongs to existence, but it does not as such exist."—Ibid., p. 147.

पर कर ही नहीं सकता। किन्तु यदि उसे अपने उद्देश्य की प्राप्ति करनी है तो उसे अपनी इस प्रकृति विषयक विशेषता का समर्पण करना ही होगा—उसे पुनः 'तद्' तथा 'किम्' को उनकी एकता में प्रस्तुत करना होगा।

ऐसे 'सम्पूर्ण' आदर्श विचार की कल्पना को ब्रैडले भ्रामक मानते हैं जो अपने व्यष्टियत्व का समर्पण किये बिना सत् के साथ, अपने विषय के साथ सम्पूर्ण रूप से एकीकृत हो जाय।[1] और यदि वह 'असंभव' कल्पना किसी प्रकार 'संभव' हो जाय तो ब्रैडले कहते हैं यह उतना ही निश्चित है, कि 'विचार' फिर विचार नहीं रह जायेगा—वह समग्र अनुभूति में परिवर्तित हो जायेगा।[2]

पुनः ब्रैडले कहते हैं अपने वैशिष्ट्य के समर्पण की कल्पना असंभव, निरर्थक एवं अनुचित इसलिए लगती है कि सामान्यतः सान्त इकाइयों के सान्त स्वरूप को ही अन्तिम मान लिया जाता है सान्त यदि मात्र सान्त होता तो अपने वैशिष्ट्य के समर्पण के पश्चात् उसके पास शून्य के अतिरिक्त कुछ भी शेष न बचता। अन्य शब्दों में, तब उसके अपने 'अस्तित्व' का ही सम्पूर्ण निषेध हो जाता और अपने अस्तित्व क सम्पूर्ण निषेध की आकांक्षा कभी भी सार्थक नहीं हो सकती, न ही कोई इकाई इस निष्पत्ति के लिए सतत् प्रयत्नशील हो सकती है।

किन्तु यदि दृष्टिकोण में थोड़ा परिवर्तन लाते हुए इस बात का हमें विश्वास हो जाय कि जो 'सान्त' है, वह मात्र सान्त ही नहीं है, प्रत्युत उसकी पृष्ठभूमि में 'अनन्तता' स्वतः सक्रिय है और वही उसका तात्विक स्वरूप है तो अपने वैशिष्ट्य का समर्पण हमें अनुचित नहीं लगेगा। विपरीततः अपने सम्पूर्ण स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए वैशिष्ट्य का समर्पण अनिवार्य प्रतीत होगा और प्रत्येक इकाई उसके लिए अपने को सहर्ष प्रस्तुत पायेगी।

'विचार' के वैशिष्ट्य के समर्पण के बारे में भी उपरोक्त दृष्टिकोण

---

1. "You will find that the object of thought in the end must be ideal and that there is no idea which. as such contains its own existence"—Ibid., p. 149.
2. "Thought, in a word. must have been absorbed into a fuller experience."—Ibid,, p. 151; 152.

को अपनाने की बात ब्रैडले कहते हैं। अतः विचार द्वारा व्यष्टियत्व का समर्पण करके उसके द्वारा शून्य की उपलब्धि नहीं, विपरीततः उसमें विचार की चरम निष्पत्ति है और अपनी इस 'निष्पत्ति' में अवस्थित होना उसके लिए सब दृष्टि से कल्याणकारी भी है। अपनी 'सम्पूर्णता' की कल्पना तथा उसकी उपलब्धि किस प्रकार किसी भी इकाई के लिए अवांछनीय हो सकती है? यही नहीं उस 'सम्पूर्णता' का चित्र प्रस्तुत करते हुये ब्रैडले कहते हैं कि उसमें विचार ही नहीं प्रत्युत सभी सान्त इकाइयाँ अपनी सम्पूर्णता को प्राप्त करती हैं। इतनी विपुलता तथा वैभव की आकांक्षा क्या किसी भी दृष्टि से अवांछनीय हो सकती है।[1]

विचार एवं सत् के सम्बन्ध से सम्बन्धित भ्रांतियों का निराकरण :

'विचार' तथा 'सत्' के आन्तरिक सम्बन्ध को इस प्रकार प्रस्तुत

---

1 "Thought must have been absorbed into a fuller experience. Now such an experience maybe called thought, if you choose to use that word. But if anyone else prefers another term, such as feeling or will, he would be equally justified, For the result is a whole state which both includes and goes beyond each element, and to speak of it as simply one of them seems playing with phrases. For (I must repeat it) when, thought begins to be mere than relational, it ceases to be mere thinking. It will be an existence which is not more truth."—Ibid., p. 157. पुनः वे कहते हैं कि "It would be experience entire, containing all elements in harmony. Thought would be present as a higher intution: Will would be there where the ideal had become reality, and beauty and pleasure and feeling would live on in this total, fulfilment. Every flame of passion, chaste or carnal, would still burn in the Absolute unquenched and unabridged, a note absorbed in the harmony of its higher bliss."—Ibid., p. 152.

करते हुये वे उसके सम्बन्ध में कतिपय भ्रांतियों को अनावृत करते हैं।

(क) विचार ही एकमात्र सत् है यह सोचना भ्रामक है,[1] क्योंकि सम्बन्धात्मक चेतना को किसी भी अर्थ में 'अन्तिमता' नहीं प्रदान की जा सकती है। वह एक मध्यस्थ चेतना है। अपनी पूर्ववर्ती चेतना से वह एक महत्वपूर्ण अर्थ में नियंत्रित है और उसके प्रभाव का वह तब तक अतिक्रमण नहीं कर पाती जब तक कि वह अपने व्यष्टियत्व को कायम रखती है। अत: उसके द्वारा निर्मित जगत आभास है, सत् नहीं। सत् रूप में अवस्थित होने के लिए उसे अपनी विशिष्टता का समर्पण करना ही होगा।

(ख) 'विचार' से नितान्त बाह्य किसी अस्तित्व की कल्पना उतनी ही भ्रामक है। 'विचार' अस्तित्व से अनिवार्यत: सम्बद्ध है, इसीलिए उसके माध्यम से उसका बोध होता है। 'अस्तित्व' विचार का 'विषय' है, जिसे वह अपनी विशिष्ट शैली के माध्यम से प्रस्तुत करना चाहता है। अत: दोनों सापेक्ष हैं, और उनकी सापेक्षता किसी ऐसे सम्पूर्ण की ओर इंगित करती है जिसमें वे दोनों ही पूरक तत्वों के रूप में समाविष्ट हों।

(ग) पुन: क्योंकि 'अस्तित्व' विचार से विषय रूप में सम्बद्ध है, इसलिये यह सोचना कि 'अस्तित्व' विचार में पूर्ण रूपेण समाविष्ट है, भ्रामक है। ब्रैडले कहते हैं यद्यपि यह सही है कि अस्तित्व विचार का विषय है फिर भी यह सोचना उतना ही अनुचित है कि वह केवल मात्र वहीं है।[2]

पूरक तत्व के रूप में अव्यवहितत्व की स्वीकृति :

'विचार' तथा 'अस्तित्व' से सम्बद्ध कतिपय भ्रांतियों के निकारण के

---

1. "to suppose that mere thought without facts could either be real or could reach to truth is evidently absured." —Ibid., p. 336.
2. "I do not deny that reality is an object of thought; I deny that it is barely and merely so." पुन: वे कहते हैं कि "You will find that the object of thought in the end must be ideal and that there is no idea which, as such contains its own existence."—Ibid, p. 147.

पश्चात् ब्रैडली उस अनिवार्य पूरक तत्व की चर्चा करते हैं जिससे संयुक्त होकर विचार अपनी 'सम्पूर्णता' को प्राप्त कर लेगा और जिसके पश्चात् निश्चित ही वह अपने पूर्वरूप से भिन्न रूप में अवस्थित हो जायेगा।

इस पूरक तत्व का स्पष्टीकरण करते हुए ब्रैडले पुन: विचार की मूल प्रत्ययात्मकता की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं। पूरक तत्व की दृष्टि से यह कहना उचित ही है कि प्रत्येक 'निर्णय' सापेक्ष हैं, यानी वह जिस सत्य का समर्थन करता, वह अपनी पूर्णता के लिए अपने से पृथक् किसी अन्य तत्व पर अनिवार्यत: आश्रित हैं।[1] उस पूरक तत्व का क्या स्वरूप है, इसके विषय में निश्चित कुछ कहा नहीं जा सकता, क्योंकि जैसे पूर्व ही स्पष्ट किया जा चुका है, प्रस्तुति का माध्यम विचार स्वयं है और वह उस 'तत्व' को—'तद्' पक्ष को प्रस्तुत करने में सर्वथा असमर्थ है और जिस तत्व की प्रस्तुति उसके माध्यम से सम्भव नहीं उस तत्व को समाविष्ट कर लेने के पश्चात् वह उस प्रभाव से सम्पूर्णत: अप्रभावित रहेगा यह सम्भव नहीं। किंतु किस प्रकार वह विचार को परिवर्तित करेगा इसके विषय में हम भावात्मक रूप से कुछ भी नहीं कह सकते, पर वह परिवर्तित अवश्य होगा, इसमें कोई संदेह नहीं।[2] अत: विचार के परिवर्तित स्वरूप का ब्रैडले कोई भावात्मक चित्र प्रस्तुत नही करते। निषेधात्मक रूप से वे केवल इतना ही कहते है कि उसमें उसकी प्रत्ययात्मकता का निषेध निश्चित हीं होगा। अत: निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि निर्णयों के माध्यम से विचार 'सम्पूर्ण सत्य' की प्राप्ति नहीं कर सकता। वर्तमान सन्दर्भ में सम्पूर्ण सत्य और 'सत्' को ब्रैडले एक ही मानते हैं। किन्तु विचार की मूल प्रत्ययात्मक को स्वीकार करते हुये यह कहा जा सकता है कि अपने क्षेत्र विशेष में वह न्यूनाधिक मात्रा में वैधता की प्राप्ति कर सकता है।[3]

---

1 "Judgments are conditional in this sense, that what they affirm is incomplete. It cannot be attributed to Reality, as such, and before its necessary complement is added. And in addition, this complement in the end remains unknown."
—Ibid., p. 320.

2 "Thus we really always have asserted subject to and at the mercy of the unknown."
—Ibid·, p, 320

3 "Our judgments, in a word, can never reach so far as perfect truth, and must be content merely to enjoy more or less of validity."
—Ibid., p. 321.

निर्णय की सापेक्षता सम्बन्धी सम्भव भ्रांति का निराकरण:

निर्णय की सापेक्षता के समर्थन के साथ ही वे इस सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण सम्भव भ्रांति का भी निराकरण करना चाहते हैं। उनके विचार में निर्णय की सापेक्षता का अर्थ यह नहीं हैं कि प्रत्येक निर्णय केवल 'काम-चलाऊ ढंग से ही सत्य है और प्रयोजन के बदलने से अथवा उसके पूरा हो जाने पर उस निर्णय का मूल्य भी समय-समय पर बदलता अथवा नष्ट होता जायगा। विपरीतत: वे कहते हैं कि न्यूनाधिक मात्रा में उसके द्वारा जिस सत्य का समर्थन होता है, वह अपनी सीमा के अन्दर निरपेक्ष रूप से 'सत्य' है। उसके विषय में संदेह किया ही नहीं जा सकता। सत्य की व्यावहारिकता-वादी परिभाषा के विरोध में अपने विचार व्यक्त करते हुए वे कहते हैं "मेरा यह अभिप्राय नहीं है कि काम चलाउ तरीके से ही हमारे निर्णय स्वीकार्य हैं और सत्य है। मेरा अभिप्राय यह है कि न्यूनाधिक मात्रा में वे सचमुच में निरपेक्ष रूप से सत्य एवं सत् है।"[१]

अन्य शब्दों में, जहाँ तक निर्णय में व्यंजित हो रहा है, वह निरपेक्ष रूप से ही सत्य है, किन्तु उसमें 'संम्पूर्ण सत्य' की दृष्टि से न्यूनाधिक मात्रा का भेद हो सकता है। उदाहरणार्थ—जिस निर्णय विशेष में अन्तर्विषय अधिक स्पष्टता तथा विस्तार के साथ व्यंजित हो रहा है, वह उन निर्णयों की अपेक्षा जिनमें वह कम स्पष्टता तथा विस्तार के साथ व्यंजित हो रहा है, अधिक सत्य है। किन्तु जिस भी सीमा तक वे 'सत्य' को व्यंजित कर सके हैं ये निरपेक्ष रूप से सत्य है, इसमें कोई संदेह नहीं।

सम्पूर्ण सत्य एवं सम्पूर्ण असत्य की असार्थकता का प्रतिपादन : सत्य के सम्बन्ध में मात्रा की कल्पना :

इसी के साथ निर्णय की वैधता के विषय में वे एक दूसरी महत्वपूर्ण

1 "I do not mean that "for working purposes our judgments are admissible and will pass. I mean that less or more they actually possess the character and type of absolute truth and reality."
—Ibid., p. 321.

बात की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं—जिसकी चर्चा अन्य प्रसंगों में भी हो चुकी है। यदि निर्णय मूल रूप से प्रत्ययात्मक है, तो उसके माध्यम से समर्थित सत्य कितना भी व्यापक एवं सम्पूर्ण क्यों न हो, सम्पूर्ण सत् नहीं हो सकता। विपरीतत: क्योंकि विचार सदैव 'अस्तित्व' से सम्बन्धित है अपने माध्यम से उसे ही व्यंजित करना चाहता है, इसलिए वह सत् से सर्वदा शून्य भी नहीं हो सकता। सम्पूर्ण सत्य और सम्पूर्ण त्रुटि ये दोनों ऐसे शब्द हैं, जिसकी कोई भी सार्थकता नहीं है। क्योंकि ऐसे किसी भी निर्णय की कल्पना नहीं की जा सकती है जिसमें 'सत्य' का कोई भी अंश न हो और न ही किसी ऐसे निर्णय की कल्पना की जा सकती है जो प्रत्ययात्मकता के दोष से सर्वथा मुक्त हो। अपने इस निष्कर्ष को प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं: 'कोई भी ऐसा नहीं, जो सम्पूर्णत: सत्य है, उसी प्रकार कोई भी त्रुटि ऐसी न होगी जो पूर्णत: मिथ्या है। सभी के लिए समान रूप से परिमाण की बात होगी और उसमें भी न्यूनाधिक मात्रा की बात होगी।[१]

जिसे सामान्यत: हम 'सम्पूर्ण त्रुटि' की संज्ञा देते है वह भी सत् में रूपांतरित हो सकती है, किन्तु उस स्थिति में वह इस प्रकार परिवर्तित हो जायेगी कि उस परिवर्तित स्वरूप में उसके पूर्व स्वरूप को ढूंढ़ निकालना हमारे लिए असंभव होगा।[२]

इसी बात को यदि दूसरे प्रकार से व्यक्त किया जाय तो यह कहा जा सकता है कि जितनी मात्रा में रूपांतरित होने पर कोई निर्णय अपने पूर्व समर्थित सत्य को कायम रख सके वही उसका सत्य अंश और अन्ततः उसके मूल्य का निर्धारक भी है।[३]

---

2. "There will be no truth which is entiiely true, juat as there will be no error which is totally false. With all alike, if taken strictly, it will be a question of amount. and will be a matter of more or less:"—Ibid:, p, 321.
2. "An error can be total only in this sense that, when it is turned into truth, its particular nature will have vanished,"--Ibid., p. 232,
3, "The amount of survival in each case...gives the degree of truth and reality."—Ibid., p. 232.

निर्णय की सापेक्षता सम्बन्धी सम्भव भ्रांति का निराकरण:

निर्णय की सापेक्षता के समर्थन के साथ ही वे इस सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण सम्भव भ्रांति का भी निराकरण करना चाहते हैं। उनके विचार में निर्णय की सापेक्षता का अर्थ यह नहीं हैं कि प्रत्येक निर्णय केवल 'काम-चलाऊ ढंग से ही सत्य है और प्रयोजन के बदलने से अथवा उसके पूरा हो जाने पर उस निर्णय का मूल्य भी समय-समय पर बदलता अथवा नष्ट होता जायगा। विपरीतत: वे कहते हैं कि न्यूनाधिक मात्रा में उसके द्वारा जिस सत्य का समर्थन होता है, वह अपनी सीमा के अन्दर निरपेक्ष रूप से 'सत्य' है। उसके विषय में संदेह किया ही नहीं जा सकता। सत्य की व्यावहारिकता-वादी परिभाषा के विरोध में अपने विचार व्यक्त करते हुए वे कहते हैं "मेरा यह अभिप्राय नहीं है कि काम चलाउ तरीके से ही हमारे निर्णय स्वीकार्य हैं और सत्य है। मेरा अभिप्राय यह है कि न्यूनाधिक मात्रा में वे सचमुच में निरपेक्ष रूप से सत्य एवं सत् हैं।"[1]

अन्य शब्दों में, जहाँ तक निर्णय में व्यंजित हो रहा है, वह निरपेक्ष रूप से ही सत्य है, किन्तु उसमें 'संम्पूर्ण सत्य' की दृष्टि से न्यूनाधिक मात्रा का भेद हो सकता है। उदाहरणार्थ—जिस निर्णय विशेष में अन्तर्विषय अधिक स्पष्टता तथा विस्तार के साथ व्यंजित हो रहा है, वह उन निर्णयों की अपेक्षा जिनमें वह कम स्पष्टता तथा विस्तार के साथ व्यंजित हो रहा है, अधिक सत्य है। किन्तु जिस भी सीमा तक वे 'सत्य' को व्यंजित कर सके हैं ये निरपेक्ष रूप से सत्य है, इसमें कोई संदेह नहीं।

सम्पूर्ण सत्य एवं सम्पूर्ण असत्य की असार्थकता का प्रतिपादन : सत्य के सम्बन्ध में मात्रा की कल्पना :

इसी के साथ निर्णय की वैधता के विषय में वे एक दूसरी महत्वपूर्ण

1 "I do not mean that "for working purposes our judgments are admissible and will pass. I mean that less or more they actually possess the character and type of absolute truth and reality."
—Ibid., p. 321.

बात की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं—जिसकी चर्चा अन्य प्रसंगों में भी हो चुकी है। यदि निर्णय मूल रूप से प्रत्ययात्मक है, तो उसके माध्यम से समर्थित सत्य कितना भी व्यापक एवं सम्पूर्ण क्यों न हो, सम्पूर्ण सत् नहीं हो सकता। विपरीतत: क्योंकि विचार सदैव 'अस्तित्व' से सम्बन्धित है अपने माध्यम से उसे ही व्यंजित करना चाहता है, इसलिए वह सत् से सर्वदा शून्य भी नहीं हो सकता। सम्पूर्ण सत्य और सम्पूर्ण त्रुटि ये दोनों ऐसे शब्द हैं, जिसकी कोई भी सार्थकता नहीं है। क्योंकि ऐसे किसी भी निर्णय की कल्पना नहीं की जा सकती है जिसमें 'सत्य' का कोई भी अंश न हो और न ही किसी ऐसे निर्णय की कल्पना की जा सकती है जो प्रत्ययात्मकता के दोष से सर्वथा मुक्त हो। अपने इस निष्कर्ष को प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं: 'कोई भी ऐसा नहीं, जो सम्पूर्णत: सत्य है, उसी प्रकार कोई भी त्रुटि ऐसी न होगी जो पूर्णत: मिथ्या है। सभी के लिए समान रूप से परिमाण की बात होगी और उसमें भी न्यूनाधिक मात्रा की बात होगी।[1]

जिसे सामान्यत: हम 'सम्पूर्ण त्रुटि' की संज्ञा देते है वह भी सत् में रूपांतरित हो सकती है, किन्तु उस स्थिति में वह इस प्रकार परिवर्तित हो जायेगी कि उस परिवर्तित स्वरूप में उसके पूर्व स्वरूप को ढूँढ़ निकालना हमारे लिए असंभव होगा।[2]

इसी बात को यदि दूसरे प्रकार से व्यक्त किया जाय तो यह कहा जा सकता है कि जितनी मात्रा में रूपांतरित होने पर कोई निर्णय अपने पूर्व समर्थित सत्य को कायम रख सके वही उसका सत्य अंश और अन्तत: उसके मूल्य का निर्धारक भी है।[3]

---

2. "There will be no truth which is entiiely true, juat as there will be no error which is totally false. With all alike, if taken strictly, it will be a question of amount. and will be a matter of more or less:"—Ibid:, p, 321.
2. "An error can be total only in this sense that, when it is turned into truth, its particular nature will have vanished,"--Ibid., p. 232,
3, "The amount of survival in each case...gives the degree of truth and reality."—Ibid., p. 232.

ब्रैडले 'सत्य' तथा 'सत्' शब्दों का साथ-साथ प्रयोग करते हैं। निर्णय 'सत्य' को व्यंजित करना चाहता है यह कहना उतना ही ठीक है जितना यह कहना कि वह 'अस्तित्व' को यानी 'सत्' को व्यंजित करना चाहता है। ऐसे विचार की कल्पना उनकी दृष्टि में भ्रामक है जो 'सत्' से—अन्य शब्दों में, 'अस्तित्व' से नितान्त असम्बद्ध हो और जब विचार सम्पूर्ण सत्य की प्राप्ति कर लेगा तो वह सत् रूप में अवस्थित हो जायेगा। विचार और अस्तित्व के वर्तमान द्वैत का वह अतिक्रमण करके 'अनुभूति' रूप में स्थायी रूप से अवस्थित हो जायेगा।

इस 'सम्पूर्ण अनुभूति' की चर्चा करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि इसमें 'न्यूनाधिक' का प्रश्न ही नहीं उठता है।[1] जब विचार सत् से तादाम्य स्थापित कर 'अनुभूति' रूप में अवस्थित हो जायेगा तब उस 'सम्पूर्णता' में, जो स्वयं निर्णयों के सत्य की न्यूनाधिक मात्रा का आधार है, मात्रा का क्या प्रश्न हो सकता है ? सत् 'संपूर्णता' है और प्रश्न स्वाभाविक है कि वह किस प्रकार की 'सपूर्णता' होगी, यदि उससे अधिक और संगतिपूर्ण संपूर्णता की कल्पना हमारे लिए संभव हो।

इस 'सम्पूर्ण अनुभूति' को ब्रैडले अति—बौद्धिक अनुभूति[2] की संज्ञा देते हैं। वह अधो-बौद्धिक अनुभूति से इस बात में सदृशता रखती है कि उनमें सम्बन्धात्मक चेतना के स्तर का तद् और किम् का विभाजन पुनः लुप्त हो जाता है और सत्ता का अविभाज्य रूप में साक्षात् होता है।

सत् एवम् जगत की सम्बद्धता पर विचार : भावात्मक अथवा निषेधात्मक ?

विचार के माध्यम से सत् के स्वरूप को प्रकाशित करने के उपरान्त तथा उससे सम्बद्ध कुछ महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार करने के पश्चात् ब्रैडले

---

1. "The Absolute has of course no degrees, for it is perfect, and there can be no more or less in perfection" —Ch. XX. "Such predicates belong to, and have a meaning only in the world of appearance,"—Ibid., p. 318.
2. "Supra-rational experience' or 'supra relational immediacy.'

सत् तथा तथ्यात्मक जगत के सम्बन्ध के प्रश्न को लेते हैं। प्रश्न महत्वपूर्ण है और आलोचकों की दृष्टि में एक तत्ववाद के समर्थकों द्वारा इस प्रश्न का उन्हें कोई संतोषजनक उत्तर नहीं मिलता। उसके विचार में एक तत्ववादियों का परम सत् विश्व के वैविध्य का अतिक्रमण करने वाला सत् है। किन्तु वह उसे सूत्रबद्ध नहीं कर पाता। दार्शनिक दृष्टि की पर्याप्तता के लिए यह आवश्यक है कि वह एक ऐसे सत् का समर्थन करे जो वैविध्य का अतिक्रमण करते हुए उसे सूत्रबद्ध भी करे। पाश्चात्य दर्शन में स्पिनोजा, हेगल और ब्रैडले और भारतीय दर्शन में शंकराचार्य के दर्शन के विरुद्ध उन्होंने कुछ इसी प्रकार की आपत्तियाँ प्रस्तुत की हैं। इन आपत्तियों पर विचार आगामी पृष्ठों में किया जायगा। वर्तमान में तो इस प्रश्न पर ब्रैडले के अपने विचार प्रस्तुत किये जायेंगे जो महत्वपूर्ण ही नहीं, प्रत्युत अपने दृष्टिकोण का विशेष अर्थ में प्रतिनिधित्व करने वाले भी हैं।

'आभास' शब्द के अर्थ का स्पष्टीकरण करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि सामान्यत: इसके साथ जो निषेधात्मक ध्वनि जुड़ी हुई है और जिसके कारण उसके विरुद्ध हम एक तीव्र प्रतिक्रिया करते हैं उससे हमें सतर्क रहना चाहिए। जिसे 'आभास' की संज्ञा दी जाती है वस्तुत: उसकी 'तथ्यता' असंदिग्ध है, उसके विषय में किसी प्रकार का संदेह हो ही नहीं सकता। किन्तु उसकी 'तथ्यता' से इंकार न करते हुए भी उसकी परिवर्तनीयता तथा उसकी सापेक्षता के कारण उसे अन्तिमता नहीं प्रदान की जा सकती है। जो 'आभास' है वह स्वातिक्रमणीय है और उसकी स्वातिक्रमणीयता उसे निरन्तर बाधित होने के लिए प्रवृत्त करती है अन्य शब्दों में, जो स्वातिक्रमणीय है वह तद्-किम् के विरोध से पीड़ित है साथ ही उस विरोध से मुक्त होने के लिए सतत् प्रयत्नशील भी है, किन्तु यदि वह स्वयं अपने वर्तमान स्वरूप से असन्तुष्ट है और उस स्वरूप के अतिक्रमण में ही उसे संतोष की प्राप्ति होनी है, तो उसके इस स्वरूप को जिसका अन्तत: निषेध होना है अन्तिमता किस प्रकार प्रदान की जा सकती है ? इस प्रश्न पर अपने विचार व्यक्त करते हुये ब्रैडले कहते हैं 'सभी वस्तुओं में वर्तमान अन्तर्विरोध, उद्विग्नता एवं प्रत्ययात्मकता इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि यद्यपि इस प्रकार की वस्तुएं है फिर भी उनका अस्तित्व एक आभास मात्र है।''[1]

1. This contradiction, this unrest and ideality of all things existing is a clear proof that, though Such things are, their being is but an appearance."—Appearance and Reallity, p. 404.

विपरीतत: यह कह सकते हैं कि परम सत्ता वह अनुभूति है जो निरपेक्ष है, प्रत्ययात्मकता के दोप से सर्वथा मुक्त है और इसी कारण स्थिर और संगतिपूर्ण है। पुन: इस सत्ता में ही सम्पूर्ण तथ्यों को अपनी परिपूर्णता की प्राप्ति होती है। अत: परम सत्ता तथा आभास का एक विशेष अर्थ में भावात्मक सम्बन्ध है, यदि सम्बन्ध शब्द का प्रयोग वर्तमान संदर्भ में किया जा सकता है।[1] 'भावात्मक' इसलिए कि सभी सान्त इकाइयां पृथक्—पृथक् तथा समवेत रूप से इस परिपूर्णता में अपनी मूल आकांक्षा को यथार्थ देखती हैं, जो हमारा आदर्श है, जिसकी प्रेरणा के अधीन होकर सभी सांत इकाइयां निरंतर विस्तारित होती हैं, जिसमें अवस्थित होकर वे स्थायी संतोष की प्राप्ति करती हैं, उससे यदि उनका भावात्मक सम्बन्ध नहीं तो फिर कैसा सम्बन्ध होगा ?

किन्तु एक भिन्न दृष्टिकोण से इस सम्बन्ध को यदि हम प्रस्तुत करें तो सम्बन्ध निषेधात्मक भी कहा जा सकता है और 'विचार' के संदर्भ में इसी पक्ष को ब्रैडले ने प्रस्तुत करने की चेष्टा भी की है। जिस 'आदर्श' तथा 'परिपूर्णता' से प्रेरित होकर सान्त इकाइयाँ सतत् विस्तारित होती हैं, उसके कारण पग—पग 'वर्तमान' का उनमें अनिवार्यत: एक महत्वपूर्ण अर्थ में निषेध भी होता है। किसी प्रकार की परिपूर्णता का अर्थ वर्तमान अपूर्णता का समर्पण है और जब तक इकाई संपूर्ण परिपूर्णता को प्राप्त नहीं कर लेती उसे अपनी समस्त उपलब्धियों का क्रमश: उसी अर्थ में समर्पण करना ही होगा। इनमें से किसी एक के प्रति आसक्ति उसकी परिपूर्णता की प्राप्ति में निश्चित ही बाधक होगी। अत: निष्कर्षता: यह कहा जा सकता है कि सांत इकाई को स्थायी एवं सम्पूर्ण 'परिपूर्णता' में अवस्थित होने के लिए अपनी सान्तता का, व्यष्टित्व का, समर्पण करना ही होगा। विचार के संदर्भ में इसी तथ्य को प्रस्तुत करते हुए ब्रैडले कहते हैं 'संपूर्णता' के लिए विचार को

---

१. 'सम्बन्ध' शब्द का प्रज्ञा के स्तर पर एक विशेप अर्थ होता है। दो सांत इकाइयों में, जो ब्रैडले की भाषा में स्वातिक्रमणीय है, भावात्मक अथवा अभावात्मक सम्बन्ध हो सकता है, किन्तु परम सत्ता का इन सभी सांत इकाइयों में, सम्बन्ध 'भावात्मक' होते हुए भी सामान्य से भिन्न अर्थ में सार्थक है और इसका हमें सदैव वर्तमान संदर्भ में स्मरण रखना चाहिए।

आत्महत्या करनी ही होगी।[1] जो 'विचार' के लिए सत्य है, वह प्रत्येक सान्त इकाई के लिए भी सत्य है।

समर्पण से सम्बन्धित भ्रांति का निराकरण :
सम्पूर्ण में सभी समन्वित हैं :

किन्तु, उपर्युक्त निष्कर्ष से सम्बन्धित भ्रांति का निराकरण करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि सांत इकाइयों का अपने व्यष्टित्व के समर्पण का यह अर्थ नहीं है कि उसके पश्चात् उनके पास कुछ भी शेष नहीं रह जाता यानी वे अपना सभी कुछ समर्पित कर देती हैं। जो 'व्यष्टित्व' की दृष्टि से सीमा का समर्पण है वह 'तत्त्वत:' अपने को पाना है। परम अनुभूति की इस परिपूर्णता की चर्चा करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि इसमें वस्तुत: एक भी आभास नष्ट नहीं होता—सभी समवेत रूप से उस पूर्णता में पूरक पक्षों के रूप में समाविष्ट हैं।[2] सामान्य अनुभव के आधार पर भी इस बात का समर्थन किया जा सकता है। भावी प्रगति में वर्तमान की विफलताओं तथा सफलताओं—दोनों का ही योग रहेगा और इस प्रकार अपने प्रभावों के रूप में वे उसमें सुरक्षित रहेंगी। पुन: मूल्य की दृष्टि से उनमें किसी एक के लिए कहना कि वह सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, उचित नहीं, और न ही यह कहना उचित है कि उनमें से कोई भी नितान्त आकस्मिक है और मूल्य की दृष्टि से शून्यप्राय है। अपनी सीमित दृष्टि से—सीमित प्रयोजन की दृष्टि से, यह कहा जा सकता है कि अमुक वस्तु सर्वाधिक मूल्यवाली है और शेष साधन रूप में महत्वपूर्ण या नगण्य मूल्यवाली वस्तुएं हैं। किन्तु हमारा ऐसा सोचना हमारे दृष्टिकोण की एकान्तिकता का परिणाम है। साधन रूप में महत्वपूर्ण दिखने वाली—यही नहीं नगण्य मूल्य रखने वाली वस्तुएं भी उस दृष्टिकोण से बाह्य नहीं प्रत्युत् उससे आन्तरिक रूप से सम्बद्ध हैं। और परम अनुभूति की दृष्टि से तो इनमें से कोई भी नितान्त आकस्मिक नहीं है। इस निष्कर्ष को प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं। 'परम सत् में तो कोई भी वस्तु मात्र

---

1 'Thought must commit suicide in order to become whole.'

2 "In the Absolute no appearance can be lost. Each one contributes and is essential to the unity of the whole."
—Ibid., p. 404

सांयोगिक या मात्र अतिरिक्त नहीं है [1]।"

पुनः वे कहते हैं, सतही तौर से देखने पर कभी—कभी विश्व को हम ऐसे खण्डों में वितरित पाते हैं जिनके मध्य किसी प्रकार की आन्तरिक सम्बद्धता दिखाई नहीं देती। वे स्वतंत्र, पृथक, तथा असम्बद्ध प्रतीत होते हैं और उनकी सम्बद्धता यदि हो भी तो नितान्त आकस्मिक प्रतीत होती है। किन्तु एक व्यापक समन्वित दृष्टिकोण से वे सभी उपादान हैं और परस्पर सम्बद्ध हैं और परिपूर्णता की दृष्टि से इनमें से किसी के भी योगदान की उपेक्षा नहीं की जा सकती [2] और न ही इनमें से किसी एक घटक को इतना अधिक महत्वपूर्ण मान लिया जा सकता है कि उसे ही 'पदार्थ' की संज्ञा दी जाय और शेष उसके 'विशेषण' के रूप में प्रस्तुत किये जांय।

परम अनुभूति इन सभी में 'प्रेरणा' रूप में विद्यमान है इसलिए इनमें से कोई भी सम्पूर्ण रूप असत् नहीं है। किन्तु इन सभी में प्रेरणा रूप में विद्यमान होने के बावजूद वह सभी में समान रूप से व्यंजित नहीं हो हो रही है, व्यंजना की दृष्टि से इनमें परिमाण का भेद है। जिस अनुपात में किसी तथ्य ने विसंगति का समर्पण कर दिया है उसी अनुपात में वह सत् के अधिक निकट है। विपरीततः जितने अनुपात में वह स्वतोव्याघाती है, वह उससे दूर है।

सामान्य अनुभूतियों से परम सत् को एकीकृत करना उचित नहीं :

पुनः 'परम अनुभूति' को सामान्य अनुभूतियों से पृथक् करते हुए वे

---

1 "There is nothing in the Absolute which is barely contingent or merely accessory." —Ibid., P. 404.

2 "There are are main aspects of the universe of which nono can be resolved into the rest. Hence from this ground we cannot say of thess emain aspects that one is higher in rank or better than another. They are factors not independent, since each of itself implies and calls in something else to complete its defect, and since all are over-ruled in that final whole which perfects them." —Ibid., P. 404

कहते हैं कि इनमें से कोई भी पृथक्—पृथक् या समवेत रूप से उस 'परिपूर्णता' का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती जिनमें उन्हें अपने व्यष्टित्व का समर्पण कर परिपूर्णता प्राप्त करनी है।

सर्वप्रथम वे सुख—दुख को लेते हैं। इनमें से कोई भी सत् नहीं क्योंकि न तो ये इस अर्थ में एक मात्र सत्ताएं हैं कि इनके अतिरिक्त कुछ और है ही नहीं और न ही ये परस्पर असम्बद्ध इकाइयां ही हैं।

वस्तुत: ये दोनों सापेक्ष इकाइयां हैं और दोनों में विरोध है और इनका यह विरोध इस बात का प्रमाण है कि ये किसी वृहत् परिपूर्णता की अपेक्षा करती हैं। प्रश्न स्वाभाविक है कि क्या इस व्यापक परिपूर्णता को, जिनमें ये घटक रूप में समाविष्ट है और जिनमें इनका पूर्व का विरोध संगति में परिवर्तित हो चुका है, हम सुख अथवा दुख की संज्ञा दे सकते हैं? इसमें यदि सुख की बहुलता भी हो तब भी इसे 'सुख' नहीं कहा जा सकता।

पुन: वे कहते हैं सुख तथा दुख वस्तुत: सुखात्मक तथा दुखात्मक विषयों में से अपकर्षण की प्रक्रिया के आधार पर अपकर्षित किसी पक्षविशेष का समर्थन है। उनकी सापेक्षता और अन्तत: किसी व्यापक परिपूर्णता की अपेक्षा इस बात का प्रमाण है कि वे आभास हैं और उन्हें अन्तिमता नहीं प्रदान की जा सकती। निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि वे निरपेक्ष रूप से सत् नहीं है।

सुख तथा दुख के पश्चात् 'भावना' का विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए ब्रैडले कहते है एक महत्वपूर्ण अर्थ में भावना मूल एवं प्रारंभिक है, क्योंकि शेष सभी अनुभूतियों का इसी से उद्भव हुआ है। इस दृष्टि से इसे पूर्व—सम्बन्धात्मक या अधो—सम्बन्धात्मक कहना ही उचित होगा किन्तु 'मूल' एवं प्रारंभिक होने के बावजूद यह 'प्रत्ययात्मकता' के दोष से दूषित है। अन्य शब्दों में, बाह्य तत्वों से नियंत्रित होने के कारण इसका 'अन्तर्विषय इसे विस्तारित होने के लिए—अन्य से सम्बन्धित होने के लिए, विवश करता है और तद्—किम् की मूल आरंभिक एकता स्वयमेव नष्ट हो जाती है।

अतः यह कहा जा सकता है कि जो अस्थायी हो, परिवर्तनीय हो और जिसे अन्य के संदर्भ में ही परिपूर्णता प्राप्त हो—भले ही वह सापेक्ष परिपूर्णता ही क्यों न हो, वह किस प्रकार निरपेक्षत: परिपूर्ण हो सकती है? भावना के इस पक्ष को प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं: 'आगामी विकासों

प्रात्यक्षिक प्रक्रिया द्वारा समर्थित रूप से भिन्न होगा।[1] अन्य शब्दों में, उसके उस रूप के समर्थन के साथ प्रात्यक्षिक प्रक्रिया को अपना व्यष्टित्व कायम रखना असंभव होगा। और यदि हम 'विषय' की दृष्टि से उपरोक्त अनुभूति को देखें तो उसका अन्तर्विषय अपनी समर्थित सीमा का सतत् अतिक्रमण करता दिखाई देता है। सुस्पष्ट व्यष्टित्व से सम्पन्न होने की उसकी आकांक्षा उसे अनिवार्यत: अन्य से सम्बद्ध करती है और इस प्रकार अन्य के माध्यम से विस्तारित होने की यह प्रक्रिया अनन्तता तक प्रसारित होती रहती है। पुन: वह कितना भी विस्तारित क्यों न हो जाय, और विस्तारित होकर परिपूर्ण ही क्यों न हो जाय उसके लिए प्रात्यक्षिक चेतना तथा उसके अपने बीच के द्वैत का—विषयी—विषय द्वैत का अतिक्रमण करना असंभव है। अत: विस्तार एवं संगति की प्रेरणा से अनुप्रेरित होने के बावजूद प्रात्यक्षिक चेतना अपने व्यष्टित्व को कायम रखते हुए किसी भी स्थिति में 'परिपूर्णता' को प्राप्त नहीं कर सकती अर्थात् असंगति से विमुक्ति की स्थिति में अवस्थित नहीं हो सकती और यदि किसी भी स्थिति में उसके लिए ऐसा संभव हो जाय तो निश्चित ही उसे अपने को आमूल रूप से रूपान्तरित करना होगा।

परम अनुभूति की अज्ञेयता का समर्थन :

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है क्योंकि तद् एवं किम् का यह विरोध उसकी स्थायी विशेषता है, इस कारण प्रात्यक्षिक अनुभूति आभास है, सत् नहीं। अपने निष्कर्षों की पुष्टि में ब्रैडले कहते हैं कि सामान्य अनुभूतियों में से कोई भी अनुभूति कितनी भी सूक्ष्म क्यों न हो, वह प्रत्ययात्मकता के दोष से मुक्त नहीं है और इसी कारण इनमें से किसी को भी अंतिमता नहीं प्रदान की जा सकती है। अन्य शब्दों में, परम अनुभूति को इनमें से किसी भी एक के साथ एकीकृत नहीं किया जा सकता। इस कारण उसके विषय में यह कहना ही उचित होगा कि वह 'अज्ञेय' है किन्तु उसे 'अज्ञेय' कहने का यह अभिप्राय नहीं कि वह 'अनुभूति' ही नहीं है बल्कि यह कहना कि वह एक

---

1. "The world can hardly stand there to be found, when its essence appears to be inseparable from the process of finding, and when assuredly it would not be the whole world unless it included within itself both the finding and the finder."—Ibid., P. 508.

का वह मूल एवं आधार है पर वह एक ऐसा आधार है जो उनको निरन्तर अपने से च्युत होकर ही पोषित करता है।"[1]

भावना के पश्चात् प्रात्यक्षित चेतना की चर्चा करते हुये वे उसे भी प्रत्ययात्मकता के दोष से दूषित और अन्तत: आभास ही सिद्ध करते हैं। 'भावना' में तद्—किम् की एकता भंग नहीं होती, किन्तु भंग होने की दिशा में वह निश्चित ही सक्रिय रहती है। प्रात्यक्षिक चेतना के आविर्भाव के साथ 'किम्' का 'विषय' रूप में विस्तार होता है। और वह अनिवार्यत: पृष्ठभूमि में विद्यमान 'विषयी' की अपेक्षा करता है वस्तुत: विषयी—विषय के द्वैत का आविर्भाव प्रात्यक्षिक चेतना की ही नहीं प्रत्युत् सभी प्रकार की सम्बन्धात्मक अनुभूतियों की सामान्य विशेषता है। इस पर द्वैत का अतिक्रमण इनमें से कोई भी अनुभूति अपने स्तर पर नहीं कर पाती।

पुन: विषय रूप में प्रस्तुत 'किम्' 'विषयी' से स्वतंत्र एवं पृथक् अपने अस्तित्व का समर्थन करता है। ऐसा प्रतीत होता है, मानों उसकी अपनी इकाई के निर्माण में प्रात्यक्षिक प्रक्रिया का कोई हाथ नहीं है। वह उससे स्वतंत्र है और स्वतंत्र होकर ही प्रात्यक्षिक प्रक्रिया का निर्देशन करता है, किन्तु वस्तुत: ऐसा नहीं है। सतही तौर पर न देखकर यदि 'विषय' के स्वरूप को ठीक से देखा जाय तो स्पष्ट हो जायेगा कि तथ्य ठीक इसके विपरीत है। 'विषय' के निर्माण में प्रात्यक्षिक प्रक्रिया का एक महत्पूर्ण योगदान है और इसका स्पष्ट बोध हमें 'असामान्य प्रत्यक्ष'[2] में होता हैं। अतएव प्रात्यक्षिक चेतना में विषय के स्वरूप में वर्तमान इस विरोध का विलय उसके अपने स्तर पर संभव नहीं है। पुन: विषय रूप में समर्थित विश्व के अन्तर्गत प्रात्यक्षिक प्रक्रिया का एक महत्वपूर्ण अर्थ में सम्मिलित है और जब तक ज्ञाता—ज्ञेय की यह कृत्रिम विभाजन रेखा बनी रहेगी, 'विषय' स्वत: अधूरा रहेगा। और किसी प्रकार यदि प्रात्यक्षिक प्रक्रिया को सम्मिलित कर वह सम्पूर्ण हो भी जाय तो निश्चित ही उसका वह रूप

1 "It is the ground and foundation of further developments, but it is a foundation that bears them only by a ceaseless lapse from itself." —Appearance and Reality, p. 407.

2 Abnormal perception.

प्रात्यक्षिक प्रक्रिया द्वारा समर्थित रूप से भिन्न होगा।[1] अन्य शब्दों में, उसके उस रूप के समर्थन के साथ प्रात्यक्षिक प्रक्रिया को अपना व्यष्टित्व कायम रखना असंभव होगा। और यदि हम 'विषय' की दृष्टि से उपरोक्त अनुभूति को देखें तो उसका अन्तर्विषय अपनी समर्थित सीमा का सतत् अतिक्रमण करता दिखाई देता है। सुस्पष्ट व्यष्टित्व से सम्पन्न होने की उसकी आकांक्षा उसे अनिवार्यतः अन्य से सम्बद्ध करती है और इस प्रकार अन्य के माध्यम से विस्तारित होने की यह प्रक्रिया अनन्तता तक प्रसारित होती रहती है। पुनः वह कितना भी विस्तारित क्यों न हो जाय, और विस्तारित होकर परिपूर्ण ही क्यों न हो जाय उसके लिए प्रात्यक्षिक चेतना तथा उसके अपने बीच के द्वैत का—विषयी—विषय द्वैत का अतिक्रमण करना असंभव है। अतः विस्तार एवं संगति की प्रेरणा से अनुप्रेरित होने के बावजूद प्रात्यक्षिक चेतना अपने व्यष्टित्व को कायम रखते हुए किसी भी स्थिति में 'परिपूर्णता' को प्राप्त नहीं कर सकती अर्थात् असंगति से विमुक्ति की स्थिति में अवस्थित नहीं हो सकती और यदि किसी भी स्थिति में उसके लिए ऐसा संभव हो जाय तो निश्चित ही उसे अपने को आमूल रूप से रूपान्तरित करना होगा।

परम अनुभूति की अज्ञेयता का समर्थन :

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है क्योंकि तद् एवं किम् का यह विरोध उसकी स्थायी विशेषता है, इस कारण प्रात्यक्षिक अनुभूति आभास है, सत् नहीं। अपने निष्कर्षों की पुष्टि में ब्रैडले कहते हैं कि सामान्य अनुभूतियों में से कोई भी अनुभूति कितनी भी सूक्ष्म क्यों न हो, वह प्रत्ययात्मकता के दोष से मुक्त नहीं है और इसी कारण इनमें से किसी को भी अंतिमता नहीं प्रदान की जा सकती है। अन्य शब्दों में, परम अनुभूति को इनमें से किसी भी एक के साथ एकीकृत नहीं किया जा सकता। इस कारण उसके विषय में यह कहना ही उचित होगा कि वह 'अज्ञेय' है किन्तु उसे 'अज्ञेय' कहने का यह अभिप्राय नहीं कि वह 'अनुभूति' ही नहीं है बल्कि यह कहना कि वह एक

---

1. "The world can hardly stand there to be found, when its essence appears to be inseparable from the process of finding, and when assuredly it would not be the whole world unless it included within itself both the finding and the finder."—Ibid., P. 508.

ऐसी अनुभूति है, जिसका हमें सामान्य चेतना के स्तर पर बोध नहीं होता।[1] ब्रैडले अतिप्राज्ञ स्तर पर उसके साक्षात् की संभावना की ओर संकेत करते हैं किन्तु इस संभावना को विस्तृत रूप से प्रस्तुत करने का वह प्रयास नहीं करते उनकी दृष्टि में तत्वमीमांसा प्रज्ञा के स्तर पर सत् को प्रस्तुत करने का प्रयास है और इस स्तर पर सम्पूर्ण सत् की विस्तृत प्रस्तुति संभव नहीं है। निषेधात्मक रूप से उसके विषय में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि उसमें अनिवार्यत: प्रज्ञात्मक चेतना की प्रत्ययात्मकता का अतिक्रमण होगा और भावनात्मक रूप से यह कि उसमें चेतना अबाधित रूप से स्थायी संगति की स्थिति में अवस्थित हो जायेगी। ऐसी परम अनुभूति की संभावना को बोध के वर्तमान स्तर पर एक 'नियामक प्रत्यय' के रूप में ही प्रस्तुत किया जा सकता है और उसे उसी रूप में ब्रैडले स्वीकार भी करते हैं। किन्तु वह एक ऐसा 'नियामक प्रत्यय' है, जो 'प्रामाणिकता' के दायरे का अतिक्रमण तुलना में उसका स्थान अपूर्व है।

जी० वाट्स कनिंगहम की आलोचना :

प्रज्ञा के स्तर पर ही उसके अन्तरतम की मांग के रूप में अतिप्राज्ञ सत् का समर्थन—ब्रैडले के दर्शन की विशेषता है पर अनेक आलोचकों ने इस प्रश्न को लेकर अनेक कारणों से उनके दृष्टिकोण की आलोचना की है। जी० वाट्स कनिंगहम ब्रैडले के विचारों में विद्यमान मूल विसंगति की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं।

ब्रैडले के अनुसार तत्वमीमांसा में बौद्धिक संतोष ही प्राथमिकता रखता है, किन्तु तत्वमीमांसीय दृष्टि से वे जिस 'सत्' को प्रस्तुत करते हैं वह अन्तत: बुद्धि के अतिक्रमण तथा उसके निषेध की अपेक्षा करता है। क्या किसी भी इकाई के लिए यह संभव है कि वह अपने व्यष्टित्व का शत-प्रतिशत समर्पण कर दे? और क्या उस समर्पण से उसे संतोष मिल सकेगा? परम अनुभूति में अवस्थित होने के लिए तथा अपनी परिपूर्णता को प्राप्त

1. "We never have, or are a state which is the perfect unity of all aspects, and we must admit that in their special natures they remain inexplicable."—Ibid, P. 415.

करने के लिए बुद्धि को अपने व्यष्टित्व का समर्पण करना आवश्यक है। किन्तु क्या इस समर्पण द्वारा उसे वस्तुत: सन्तोष की प्राप्ति होगी?[1]

स्पष्ट है कि कनिंगहम का उत्तर निषेधात्मक है। परम सत् को ब्रैडले जिस रूप में प्रस्तुत करते हैं उसमें बुद्धि के संतोष की प्राप्ति का तो प्रश्न ही नहीं उठता। संभवत: उससे एक काल्पनिक निम्न-सम्बन्धात्मक अपरोक्षानुभूति, जिसे वे 'भावना' शब्द से भी व्यक्त करते हैं, को संतोष मिल जाय। स्पष्ट है ब्रैडले अपने दर्शन में विद्यमान इस मूल विसंगति से अनभिज्ञ थे और इसीलिए उन्होंने इसे दूर करने का कहीं भी प्रयास नहीं किया। उनका 'परम सत्' अविश्लेष्य और इस नाते 'अविज्ञेय' भी है। वह 'अनिवार्य' हो सकता है, परम सत् भी हो सकता है, किन्तु बुद्धि के लिए नहीं। ऐसे अतिप्राज्ञ परम सत् को विज्ञेय मान लेना उचित नहीं है।[2]

इसमें कोई संदेह नहीं कि परम सत् के समर्थन के साथ अपरोक्षानुभूति की महत्ता का भी समर्थन ब्रैडले के दर्शन की विशेषता है किन्तु जिस अपरोक्षानुभूति को वे महत्वपूर्ण मानते हैं, वह एक काल्पनिक अधोसम्बन्धात्मक अपरोक्षानुभूति नहीं, जो सम्बन्धात्मक चेतना के संदर्भ में मूल और प्राथमिक है। इस अधो–सम्बन्धात्मक अपरोक्षानुभूति को उपरोक्त संदर्भ में उन्होंने केवल सापेक्षत: मूल और प्राथमिक माना है और इस रूप में उसे प्रस्तुत करते हुए भी उसे अन्तिमता प्रदान करने से इन्कार किया है। जो स्वातिक्रमणीय हो, प्रत्ययात्मकता के दोष से दूषित हो और जिसे दूर करने के लिए बस सतत् प्रयत्नशील हो, उसे किस प्रकार 'सत्' कहा जा सकता है? वह आभास है, सत् नहीं। अनेक प्रसंगों में ब्रैडले ने इस निष्कर्ष को बार–बार प्रस्तुत किया है।

---

1. "The part which intelligence has played in the drama, so far as I can see, is sadly to submit the destruction of all its results in the name of a merely immediate experience."—G. Watts Cunningham.
2. "It may be "necessary but it is not so for intelligence, it may be the ultimately real, but if so intelligence and its works are illusory and there is no virtue in them. To call the non–relational Absolute intelligible is vain, all the billows of unintelligibility have gone over it."—Ibid.

तो फिर वे किस अर्थ में अपरोक्षानुभूति को अन्तिमता प्रदान करते हैं? ब्रैडले अपरोक्षानुभूति के लिए 'अव्यवहितत्व' और कहीं—कहीं 'भावना' शब्द का प्रयोग दो भिन्न अर्थों में करते हैं। और यही द्वयर्थकता संभवत: कनिंगहम की इस भ्रांति का आधार है कि वे निम्न—सम्बन्धात्मक अपरोक्षानुभूति को ही अपने दर्शन में मूल और प्राथमिक मान लेते हैं। वस्तुत: ऐसा नहीं है। जिस अपरोक्षानुभूति को वे अन्तिम मानते हैं, वह अधो—सम्बन्धात्मक, सम्बन्धात्मक, व्यावहारिक—इन सभी की परिपूर्णता होने के कारण इनमें से किसी के भी साथ एकीकृत नहीं हो सकती। वह आधारभूत चेतना है जिसे ग्रीन ने विभिन्न संदर्भों में शाश्वत आध्यात्मिक नियम के रूप में और काण्ट ने अतीन्द्रिय एकता के रूप में प्रस्तुत किया है। उपनिषद् में इसे ही 'भूमा' कहा है।

ए० सेठ प्रिंगल पैटिसन तथा लाफ्ट—हाउस :

ब्रैडले के परम सत् की आलोचना भिन्न कारणों से ए० सेठ प्रिंगल पैटिसन तथा लाफ्ट—हाउस द्वारा भी हुई है। ब्रैडले का परम सत् मानव की धार्मिक आकांक्षाओं के साथ न्याय करने में असमर्थ है, इसलिए वह असन्तोषप्रद है। प्रिंगल पैटिसन की आलोचना शांकराद्वैत के विरुद्ध भारतीय दार्शनिक अरविंद की आलोचना का स्मरण कराती है। वे कहते हैं परम सत् या ईश्वर हमें तभी स्थायी रूप से संतोष प्रदान कर सकता है जब वह जीवन के विविध पक्षों एवं अनुभूतियों में विद्यमान हो। यही नहीं, वह हमारे सुख—दुख में भी सम्मिलित हो। एक अनुभवातीत तेरम सत् जो विश्व के वैविध्य का मात्र अति-क्रमण करे और उससे किसी प्रकार आंतरिक रूप से संयुक्त न हो, किस प्रकार हमें संतोप प्रदान कर सकता है? [1]

ईश्वर की अपूर्व शक्तिमत्ता, उसकी शुभता वं प्रेम', साथ ही उद्धार

---

1. "No God or Absolute existing in solitary bliss and perfection, but a God who lives in the perpetual giving of himself, who shares in the life of his finite creatures, bearing in and with them the whole burden of their finitude, their sinful wanderings and sorrows, and the suffering without which they cannot be made perfect."—Idea of God, p. 411.

करने की उसकी अपरिमित सामर्थ्य--इन सबकी अवज्ञा निर्वैयक्तिकवाद[1] ने की है, और इसी कारण ये ईश्वरवादी दार्शनिक ब्रैडले के परम सत् की आलोचना करते हैं। लाफ्ट-हाउस ईसाई धर्म में स्वीकृत ईश्वर के स्वरूप की ओर निष्ठावान हैं और निर्वैयक्तिक परम को अस्वीकार करते हैं क्योंकि उनकी दृष्टि में ऐसा सत् हमारे जीवन का संबल बनने का अधिकारी नहीं है--वह निष्क्रिय एवं निष्प्राण है और उसकी अपेक्षा जीवन का वैविध्य अधिक सार्थक प्रतीत होता है।[2]

---

1. Imqersonalism.

2. "If we were to set such a being by the side of Bradley's Absolute we should have no difficulty in showing that, in contrast to the Absolute, it implies a view of our life and our world which inspires a courage, a buoyancy and a hope which is beyond anything that is possible for the Absolute's unreachable equability. To pass from the former to the latter is to pass from the warmth and pulsing variety of life if not to the night where, as Hegel remarked, all cows are black, atleast to the twilight in which the owl of minerva takes wings". पुन: निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं :

   "The fundamental difference which marks off the God of theistic and more especially Christian Faith from the Absolute is that the form or is more than aperfectly harmonious existence. It brings that existence into boing. Harmony is not only enjoyed but accomplished by it. Theism is not content to assert with Bradley 'that somehow experiences are reconciled in the Absolute. There must either be some further agent for this result, or the Absolute must itself bring about the reconciliation which on Bradley's showing is impossible. Theism boldly maintains that the gap between reality and this imperfect world is already bridged and that God who is himself reality, is working on this side of it."—W. F. Lofthouse, F. H. Bradley, pp. 218—19

ब्रैडले के निरपेक्ष सत् से लाफ्ट-हाउस का असंतोष इस कारण है कि उनका परम सत् एक ऐसी अनुभूति है जो अतीन्द्रिय है, और इस प्रकार के——अनुभवातीत 'सत्' से स्थायी संतोष की प्राप्ति किस प्रकार संभव है? सुविज्ञ आलोचक की दृष्टि से परम सत् 'किसी प्रकार संगतिपूर्ण है' पर इस कथन के स्थान पर यह कहना अधिक उचित होता कि वह विश्व में संगति की स्थापना के लिए सक्रिय है। ईश्वरवाद जिस सत्ता को स्वीकार करता है, वह एक ऐसी ही सजीव इकाई है, जो विश्व के वैविध्य में विद्यमान है और पल-पल पर उसका सक्रिय निर्देशन कर रही है।

लाफ्ट-हाउस का उपरोक्त कथन अरविंद की भागवती चेतना की शाश्वत् अपरिमित सक्रियता का हमें स्मरण कराता है। भागवती चेतना को उन्होंने 'मां' शब्द से सम्बोधित किया है और वह अपने सशक्तशाली हाथों द्वारा विश्व को अतिप्राज्ञ के अवतरण की दिशा की ओर लिये जा रही है। प्रज्ञा के आधार पर नहीं प्रत्युत् आस्था, समर्पण और भागवती कृपा के अवतरण के लिए अपने में संवेदनशीलता विकसित करने से ही उसके कार्य को हम सुलभ कर सकेंगे—ऐसा था योगी अरविंद का अखंड विश्वास। और यह उनका ही नहीं प्रत्येक ईश्वरवादी का विश्वास है, इसीलिए परम सत् की निर्वैयक्तिकता उन्हें स्वीकार्य नहीं :

निर्वैयक्तिक 'परम' के समर्थन में दो शब्द :

किन्तु यहां पर 'निर्वैयक्तिक परम' के समर्थन में एक शब्द कहना आवश्यक है। जब दार्शनिक निर्वैयक्तिक परम सत् को अन्तिमता प्रदान करते हैं तो वे ईश्वरवाद में समर्थित सत् की तथ्यता की अवहेलना नहीं करते। वस्तुतः वैयक्तिक परम सत् की स्वीकृति में विद्यमान विसंगति को दूर करके ही उनके लिए निर्वैयक्तिक का समर्थन संभव है। ब्रैडले ने भी ऐसा ही करने का प्रयास किया है। उनका परम सत् 'परिपूर्ण' है और इस दृष्टि से वह अविशिष्ट है। वह न नैतिक चेतना के माध्यम से समर्थित 'शुभ' से और न ही धार्मिक चेतना के माध्यम से समर्थित ईश्वर से एकीकृत हो सकता है। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि धार्मिक चेतना जिस 'परम सत्' का समर्थन करती है, उसे यदि आंतरिक असंगति से मुक्त कर दिया जाय तो वह ही निर्वैयक्तिकवाद के 'निर्वैयक्तिक परम' में परिवर्तित हो जायेगा।

अतएव ब्रैडले की ओर से यह कहा जा सकता है कि ईश्वरवादियों

की उपरोक्त आपत्ति वस्तुत: दार्शनिक से भिन्न अभिरुचियों का परिणाम है और दर्शन के क्षेत्र में इन रुचियों को प्राथमिकता देना अनुचित है। इसमें कोई संदेह नहीं कि तत्वमीमांसा द्वारा समर्थित सत्य को अन्तत: जीवन के सभी पक्षों के समन्वित समाधान के रूप में ही व्यंजित होना चाहिए। फिर भी उसका प्रमुख उद्देश्य प्रज्ञा को ही संतुष्ट करना है।[1] और यदि प्रज्ञा से भिन्न अभिरुचियों को दर्शन के क्षेत्र में अत्यधिक महत्व दिया गया तो उसके कारण चिंतन में विषमता आना स्वाभाविक है।

परम सत् तथा विश्व के सम्बन्ध की यथोचित व्याख्या प्रज्ञा की सीमाओं के बीच सम्भव नहीं, प्रिंगल पैटिसन इस बात को स्वयं स्वीकार करते हैं फिर भी वे निर्वैयक्तिक परम सत् के समर्थकों से इस बात की अपेक्षा करते हैं कि वे अनन्त एवं सान्त के सम्बन्ध का स्पष्टीकरण करें नहीं तो उनकी अपनी दृष्टि में इस वाद के अन्तर्गत विश्व के वैविध्य तथा सत् के एकत्व के बीच एक ऐसी खायी बनी रहेगी जिसे पूरा करना उस सिद्धान्त के दायरे के भीतर संभव न होगा। अन्य शब्दों में 'परम सत्' से विश्व के वैविध्य के आविर्भाव की स्वीकृति महत्वपूर्ण है और इस हेतु परम सत् में अभिकर्तृत्व का आरोपण नितान्त अनिवार्य है।

ईश्वरवादी दृष्टिकोण की सीमाएं स्वयं उनकी ही स्वीकृतियों द्वारा स्पष्ट हो जाती हैं पर इसके बाद भी यदि वे एक अनुचित प्रश्न के उत्तर का हठ करें तो यह उनकी अबोधता का ही परिचायक है। अपनी पुस्तक 'आइडिया आफ गाड' में प्रिंगल पैटिसन स्वयं इस प्रश्न की विषमता को व्यक्त करते हुए कहते हैं : "मैं कहता हूं कि इस प्रश्न की प्रकृति ही कुछ ऐसी

---

1. "Philosophy like other things has a business of its own, and like other things it is bound, and it must be allowed to go about its own business in its own way. Except within its own limits, it claims no supremacy, and, unless outside its own limits, it cannot and it must not accept any dictation. Everything to Philosophy is a consideration, in the sense that everything has a claim and a right to be considered. But how it is to be considered is the affair of Philosophy alone, and here no external consideration can be given even the smallest hearing." Essays on Truth and Reality, p. 15.

है कि हमारे लिए उस 'सम्बन्ध' को पूर्णतः समझ लेना या पूर्ण स्पष्टता से उसे प्रस्तुत करने का प्रयास करना असंभव है। क्योंकि ऐसा करने का अर्थ यह होगा कि हम अपने व्यष्टित्व की स्थितियों का अतिक्रमण करें, यही नहीं, सान्त अस्तित्व की स्थितियों की पृष्ठभूमि का अवलोकन करते हुए सृजन की प्रक्रियाओं की पुनरावृत्ति करते हुए परम अनुभूति का आस्वादन करें।"[1]

हालदर के विचार :

लाघट-हाउस तथा प्रिंगल पैटिसन की भांति भारतीय हेगेलवादी हालदर भी ब्रैडले के निर्वैयक्तिक परम सत् के प्रति असंतोष व्यक्त करते हुए कहते हैं कि ब्रैडले के निषेधात्मक निष्कर्ष तथा भावात्मक निष्कर्ष के बीच कोई सम्बन्ध नहीं दिखाई देता। अपनी पुस्तक 'एपियरेन्स एण्ड रियेलिटी' के प्रथम खंड में वे प्रज्ञा द्वारा समर्थित विश्व को आभास मानते हैं और अपने द्वितीय खंड में वे परम सत् का उसकी परिपूर्णता में समर्थन करते हैं, किन्तु प्रथम खंड के निष्कर्ष द्वितीय के लिए कोई आधार प्रस्तुत नहीं करते। इस दृष्टि से हेगेल का दर्शन ब्रैडले की अपेक्षा अधिक युक्तियुक्त है। इस सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए वे कहते हैं : "बिना किसी विवेक के समान रूप से सभी घटनाओं का ध्वंस करके और उन्हें पुनः परम सत् में पुनर्जीवित करा देना यद्यपि परिवर्तित रूप में एक ऐसी पद्धति है जो समझ में नहीं आती और एक अलौकिक घटना जैसी ही प्रतीत होती है।"[2]

---

1. "It is, I say, in the nature of the case, impossible that we should understand, and be able to construct for ourselves. the relation in question, for to do so would be to transcend the conditioning our own individuality, to get, as it were, behind the conditions of finite existence and actually repeat the process of creation and realize the absolute experience."—The Idea of God, p. 292.
2. "To demolish all phenomena indiscriminately and equally and to revivify them at a stroke in the Absolute, albeit in a changed form. is a procedure searcely intelligible, and looks like a miracle."—Neo-Hegelianism, p. 150.

पुनः वे कहते हैं "आभास से सत् तक का जो आकस्मिक संक्रमण है वह चकित करने वाला है और कुछ-कुछ इसमें हमें वैसी ही अगम्य प्रक्रिया की झलक मिलती हैं, जिसके द्वारा रहस्यवादी सामान्य अनुभव के क्षेत्र के बाहर हो जाता है।"[1]

ऊपर के खंड में परम सत् के निर्वैयक्तिक निर्विशेष स्वरूप के विरुद्ध लायी हुई कतिपय महत्वपूर्ण आपत्तियों को प्रस्तुत करने के साथ ही उनकी सीमाओं को भी स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। अनेक प्रसंगों में ब्रैडले ने परम सत् के इस स्वरूप का सोत्साह समर्थन ही सहीं किया हैं, प्रत्युत् उससे सम्बद्ध भ्रांतियों का भी निराकरण किया है। एक महत्वपूर्ण संदर्भ यहाँ पर विशेष उल्लेखनीय है और उसे प्रस्तुत करने के उपरांत इस प्रश्न से सम्बद्ध खंड को समाप्त किया जायगा।

एक महत्वपूर्ण प्रश्न पर विचार : 'अशुभ' की तथ्यता क्या परम सत् के लिए चुनौती है ?

सामान्य लोगों के मन में यह प्रश्न उठता है कि यदि विश्व का अन्तिम सत् एक सम्पूर्ण चेतना है तो 'अशुभ' से उसकी संगति कैसे ? क्या इससे अच्छे विश्व के निर्माण की संभावना उसमें नहीं थी ? यदि नहीं तो फिर वह कैसी सम्पूर्णता है, जो अपूर्णता के माध्यम से ही अपने को व्यंजित करती है ? 'अशुभ' की तथ्यता से ब्रैडले इंकार नहीं करते। 'अशुभ' का तथ्य रूप में अस्तित्व है किन्तु इसकी तथ्यता परम सत् के समर्थकों के लिए किसी प्रकार की चुनौती नहीं प्रस्तुत करती। विपरीततः उनका विश्वास है कि शुभ—अशुभ और इसी प्रकार के अन्य सभी द्वन्द्वों की मध्यस्थता से ही परम सत का समर्थन संभव है। 'परम सत् का समर्थन सभव है। 'परम सत्' जीवन के तथ्यों पर कृत्रिम वाह्य एवं आकस्मिक रूप से आरोपित कोई अनानुभविक सत्ता विशेष नहीं है—वह जीवन से आंगिक रूप से सम्बद्ध और उसी के द्वारा समर्थित सत् है।

---

1. "The abrupt transition from appearanee to reality takes one breath away and savours too much of the incomprehensible process by which the mystic is transported beyond region ef ordinary experience."—Ibid, p. 151.

है कि हमारे लिए उस 'सम्बन्ध' को पूर्णतः समझ लेना या पूर्ण स्पष्टता से उसे प्रस्तुत करने का प्रयास करना असंभव है। क्योंकि ऐसा करने का अर्थ यह होगा कि हम अपने व्यष्टित्व की स्थितियों का अतिक्रमण करें, यही नहीं, सान्त अस्तित्व की स्थितियों की पृष्ठभूमि का अवलोकन करते हुए सृजन की प्रक्रियाओं की पुनरावृत्ति करते हुए परम अनुभूति का आस्वादन करें।"[1]

हालदर के विचार :

लापट-हाउस तथा प्रिंगल पैटिसन की भांति भारतीय हेगेलवादी हालदर भी ब्रैडले के निर्वैयक्तिक परम सत् के प्रति असंतोष व्यक्त करते हुए कहते हैं कि ब्रैडले के निषेधात्मक निष्कर्ष तथा भावात्मक निष्कर्ष के बीच कोई सम्बन्ध नहीं दिखाई देता। अपनी पुस्तक 'एपियरेन्स एण्ड रियेलिटी' के प्रथम खंड में वे प्रज्ञा द्वारा समर्थित विश्व को आभास मानते हैं और अपने द्वितीय खंड में वे परम सत् का उसकी परिपूर्णता में समर्थन करते हैं, किन्तु प्रथम खंड के निष्कर्ष द्वितीय के लिए कोई आधार प्रस्तुत नहीं करते। इस दृष्टि से हेगेल का दर्शन ब्रैडले की अपेक्षा अधिक युक्तियुक्त है। इस सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए वे कहते हैं : "बिना किसी विवेक के समान रूप से सभी घटनाओं का ध्वंस करके और उन्हें पुनः परम सत् में पुनर्जीवित करा देना यद्यपि परिवर्तित रूप में एक ऐसी पद्धति है जो समझ में नहीं आती और एक अलौकिक घटना जैसी ही प्रतीत होती है।"[2]

---

1. "It is, I say, in the nature of the case, impossible that we should understand, and be able to construct for ourselves. the relation in question, for to do so would be to transcend the conditioning our own individuality, to get, as it were, behind the conditions of finite existence and actually repeat the process of creation and realize the absolute experience."—The Idea of God, p. 292.
2. "To demolish all phenomena indiscriminately and equally and to revivify them at a stroke in the Absolute, albeit in a changed form, is a procedure searcely intelligible, and looks like a miracle."—Neo-Hegelianism, p. 150.

पुनः वे कहते हैं "आभास से सत् तक का जो आकस्मिक संक्रमण है वह चकित करने वाला है और कुछ-कुछ इसमें हमें वैसी ही अगम्य प्रक्रिया की झलक मिलती है, जिसके द्वारा रहस्यवादी सामान्य अनुभव के क्षेत्र के बाहर हो जाता है।"[1]

ऊपर के खंड में परम सत् के निर्वैयक्तिक निर्विशेष स्वरूप के विरुद्ध लायी हुई कतिपय महत्वपूर्ण आपत्तियों को प्रस्तुत करने के साथ ही उनकी सीमाओं को भी स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। अनेक प्रसंगों में ब्रैडले ने परम सत् के इस स्वरूप का सोत्साह समर्थन ही नहीं किया है, प्रत्युत् उससे सम्बद्ध भ्रांतियों का भी निराकरण किया है। एक महत्वपूर्ण संदर्भ यहाँ पर विशेष उल्लेखनीय है और उसे प्रस्तुत करने के उपरांत इस प्रश्न से सम्बद्ध खंड को समाप्त किया जायगा।

एक महत्वपूर्ण प्रश्न पर विचार : 'अशुभ' की तथ्यता क्या परम सत् के लिए चुनौती है ?

सामान्य लोगों के मन में यह प्रश्न उठता है कि यदि विश्व का अन्तिम सत् एक सम्पूर्ण चेतना है तो 'अशुभ' से उसकी संगति कैसे ? क्या इससे अच्छे विश्व के निर्माण की संभावना उसमें नहीं थी ? यदि नहीं तो फिर वह कैसी सम्पूर्णता है, जो अपूर्णता के माध्यम से ही अपने को व्यंजित करती है ? 'अशुभ' की तथ्यता से ब्रैडले इंकार नहीं करते। 'अशुभ' का तथ्य रूप में अस्तित्व है किन्तु इसकी तथ्यता परम सत् के समर्थकों के लिए किसी प्रकार की चुनौती नहीं प्रस्तुत करती। विपरीततः उनका विश्वास है कि शुभ—अशुभ और इसी प्रकार के अन्य सभी द्वन्द्वों की मध्यस्थता से ही परम सत का समर्थन संभव है। 'परम सत् का समर्थन सभव है। 'परम सत्' जीवन के तथ्यों पर कृत्रिम वाह्य एवं आकस्मिक रूप से आरोपित कोई अनानुभविक सत्ता विशेष नहीं है—वह जीवन से आंगिक रूप से सम्बद्ध और उसी के द्वारा समर्थित सत् है।

---

1. "The abrupt transition from appearanee to reality takes one breath away and savours too much of the incomprehensible process by which the mystic is transported beyond region of ordinary experience."—Ibid, p. 151.

पुनः वे कहते हैं, जिन लोगों के सामने 'अशुभ' एक चुनौती के रूप में आता है, उनकी प्रमुख भूल यह है कि वे परम सत् को 'शुभ' से एकीकृत कर लेते हैं। यही कारण है कि फिर उनके लिए 'अशुभ' से उसकी संगति स्थापित करना कठिन प्रतीत होता है। शुभ–अशुभ, सुन्दर–असुन्दर और इसी प्रकार सत्य—असत्य सभी इस वैविध्यपूर्ण जगत के तथ्य हैं और परस्पर सापेक्ष हैं। 'शुभ' का अस्तित्व और उसकी सार्थकता एक महत्वपूर्ण अर्थ में 'अशुभ' पर निर्भर करती है। 'अशुभ' के विरोध में, उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप ही वस्तुतः शुभ का आविर्भाव होता है। यदि 'अशुभ' न हो तो संभवतः 'शुभ' का भी स्वरूप वह न हो जिस रूप में हम उसे जानते हैं और इस दृष्टि से यदि 'अशुभ' को हम देखें तो वह सर्वथा निरर्थक नहीं है। प्रिय न होते हुए भी जीवन में उसका विशिष्ट स्थान और उपादेयता है और इस दृष्टि से वह स्वतः अपनी सार्थकता का समर्थन करता है। जो किसी भी स्थिति में, किसी भी रूप में, अनिवार्य हो उसे नितान्त अवांछनीय या अयुक्त कैसे कहा जा सकता है?

अतः यह कहा जा सकता है कि अपनी सम्पूर्णता एवं सार्थकता के लिए 'शुभ' अशुभ की अपेक्षा करता है। वह स्वतः अपने में अपूर्ण है, अपने विरोधी को आत्मसात् करने की प्रवृत्ति रखता है और विरोधी को आत्मसात् करने में ही उसकी सार्थकता है। उसकी वर्तमान अपूर्णता तथा आंतरिक विरोध की स्थिति को ब्रैडले ने 'प्रत्ययात्मकता' शब्द से व्यंजित किया है और उनकी सुपरिचित युक्ति के आधार पर जो प्रत्ययात्मकता के दोष से दूषित है, वह सत् नहीं हो सकता, वह आभास ही है, अतः परम सत् को उससे एकीकृत नहीं किया जा सकता। पुनः 'शुभ' की परिपूर्णता की स्थिति यानी प्रत्ययात्म-कता से उसकी संपूर्ण वियुक्ति की स्थिति की यदि कल्पना की जाय तो निश्चित है कि उसे न 'शुभ' ही कहा जा सकता है और न ही अशुभ। उपरोक्त स्थिति को उसमें समाविष्ट घटकों में से किसी एक के भी साथ उसका तादात्म्य संभव नहीं है। अधिक से अधिक उसके विषय में यह कहा जा सकता है कि वह इस द्वन्द्व का अतिक्रमण करने वाली—इन्हें इनकी सार्थकता तथा परिपूर्णता प्रदान करने वाली वृहत् इकाई है। 'वह' शुभ है, यह कहना उसके लिए उतना ही अनुचित है जितना यह कहना है कि वह 'अशुभ' है। किन्तु 'वह शुभ है' इस कथन का जब ब्रैडले निषेध करते हैं तो इसका यह अर्थ नहीं है कि वह 'शुभ' से कम है अथवा उससे निम्न है। वह

ठीक उसी अर्थ में अति—शुभ है, जिस अर्थ में वह अतिप्राज्ञ और निर्वैयक्तिक है। वस्तुत: जब सामान्य अनुभूतियों को व्यंजित करने वाले शब्दों का प्रयोग उस 'सत्' के लिए किया जाता है तो कठिनाइयों का उत्पन्न होना स्वाभाविक हैं क्योंकि सामान्य अनुभूतियों और उन्हें व्यंजित करने वाले शब्दों के साथ जो सीमायें हैं उनका हमेशा ध्यान रखना संभव नहीं है।

यही कारण है कि उसके अतिप्राज्ञ, निर्वैयक्तिक अति—नैतिक स्वरूप के पीछे विद्यमान विशेष ध्वनि की अवहेलना कर 'अशुभ' से उसकी असंगति का प्रश्न उठाया जाता है। प्रश्न सर्वथा अनुचित है और एक अनुचित प्रश्न का उत्तर कैसे दिया जा सकता है? इसके अनौचित्य के स्पष्टीकरण में ही वस्तुत: इस समस्या का समाधान है और ब्रैडले ने यही करने का प्रयास भी किया है।

भूमिका

एपियरेन्स एण्ड रियेलिटी

(आभास एवं सत्)

तत्वमीमांसा का स्वरूप एवं उसका महत्व :

अध्यात्मवाद इंगलैण्ड के लिए एक नवीन विचारधारा थी। वहां की दार्शनिक परंपरा में 'प्रथम सत्यों' यानी 'आधारभूत सत्यों' के अध्ययन का कोई स्थान नहीं था। इस दिशा में ब्रैडले ने निश्चित ही एक महत्वपूर्ण कदम उठाया। अत: आंग्ल अध्यात्मवादी दार्शनिकों में ब्रैडले एक महत्वपूर्ण स्थान रखते है। ब्रैडले के ही समकालीन दार्शनिक—बोसांक्वे तथा ग्रीन ने भी हेगेल के दर्शन से प्रभावित होकर निरपेक्ष अध्यात्मवाद का सोत्साह समर्थन किया। इनमें ग्रीन, हेगेल से प्रभावित होते हुए भी, अपने दार्शनिक चिंतन के आरम्भ बिंदु के रूप में कांट के ज्ञानमीमांसीय तर्क[1] को स्वीकार करते है। परंतु ब्रैडले इससे भिन्न सत्तामूलक तर्क[2] का प्रयोग करते हैं और इसके आधार पर निरपेक्ष अध्यात्मवाद[3] का समर्थन करते हैं। वे जगत की विभिन्न इकाइयों के स्वरूप का विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं और उसी के आधार पर अपने दार्शनिक निष्कर्षों को स्थापित करते हैं। ब्रैडले का विश्वास है कि 'तत्वमीमांसा' निरपेक्ष सत् का ज्ञान है और इस ज्ञान को वह विचार के माध्यम से विचार के स्तर पर ही प्राप्त करती है। यही कारण है कि यदि हम ब्रैडले के संपूर्ण दर्शन पर एक विहंगम दृष्टि डालें तो देखेंगे कि उसका मुख्य ध्येय 'विचार' की प्रकृति को प्रस्तुत करना है और वह भी इस विशेष दृष्टि से कि हमें उसके माध्यम से 'सत्' के स्वरूप को जानना है। और इस सभी के पीछे उनका दृढ़ विश्वास प्रतिध्वनित होता है कि तत्वमीमांसा मुख्यत: विचार से सम्बन्धित है।

1- Epistemological argument
2- Ontological argument
3- Absolute Idealism

यूं तो सत्ता के स्वरूप को जानने के लिए विचार, भावना, संकल्प आदि अनेक रास्ते हैं, परन्तु ब्रैडले के अनुसार तत्वमीमांसा विचार का ही मध्यस्थता से सत्ता को प्रस्तुत करने का प्रयास है। यही नहीं, सत्ता को जानने का विचार एक निश्चित रास्ता है। और साथ ही उनका यह भी विश्वास है कि विचार के माध्यम से जिस 'सत्' को प्राप्त किया जाता है उसे अन्ततः हमारे सम्पूर्ण व्यक्तित्व को—संकल्प, विचार एवं भावना को समवेत रूप से, अनिवार्यतः संतुष्ट करने वाला होना चाहिए। पुनः ब्रैडले कहते है जिस परम निरपेक्ष सत्ता का अध्ययन ब्रैडले अपने तत्वमीमांसीय ग्रन्थ 'एपियरेन्स एण्ड रियेलिटी' में प्रस्तुत करते हैं वह ऐसा निरपेक्ष तत्व है जिसकी विचार मांग करता है वह जिस मांग के पूरा हो जाने पर वह स्थायी संतोष प्राप्त करता है। इस कारण ब्रैडले ने अपने इस ग्रन्थ में सत्ता के स्वरूप को जानने के प्रयास में विचार का ही विस्तृत विश्लेषण किया है। वे इस दृष्टि से उनकी पुस्तक 'एपियरेंस एण्ड रियेलिटी' विचार में निहित 'निरपेक्ष' के अनावरण का एक प्रयास है।

इस दृष्टि से ब्रैडले के दर्शन को 'परिकल्पनात्मक तत्वमीमांसा'[1] कहा जा सकता है पर ब्रैडले के बाद अध्यात्मवाद को छोड़कर प्रायः सभी वादों में इस तत्वमीमांसा का विरोध भी हुआ है। इतिहास इस बात का साक्षी है। पर ब्रैडले का चिंतन जर्मन अध्यात्मवाद से प्रभावित होने के नाते परिकल्पनात्मक अनुचिंतन को ही अपने दार्शनिक निष्कर्षों का आधार बनाता है। 'तत्वमीमांसा' दृश्य जगत (आभास) के आधार पर निरपेक्ष सत् के चित्र को अङ्कित करने का प्रयास है—ये सभी अध्यात्मवादियों का विश्वास है। अतएव ब्रैडले के विचार में 'आभास के पृथक् सत् को जानने का प्रयास तत्वमीमांसा है'। या यूं कहा जाय कि मूल तत्वों या अन्तिम सत्यों का अध्ययन या फिर संसार को खंड-खंड या अंशों में नहीं वरन् किसी प्रकार उसे समग्र रूप में जान लेना ही तत्व ज्ञान[2] है।

अर्थात् तत्वमीमांसा का कार्य जगत के उन आधारभूत सिद्धान्तों का अध्ययन है जिनको हम चिंतन की प्रक्रिया से स्थापित करते हैं व जिनके प्रति संशय व्यक्त नहीं किया जा सकता है। इन स्वतःसिद्ध सिद्धान्तों की ही

1. Speculative metaphysics.

तत्वमीमांसा खोज करता है[१] व ब्रैडले यह मानते हैं कि आलोचनात्मक पद्धति से इनको जाना जा सकता है और यह पद्धति वही है, जिसका प्रयोग डेकार्ट्स ने किया था अर्थात् संशयवाद।[२] इस पद्धति के अनुसार जितने भी पूर्वाग्रह हैं, जो अनुसंधान में बाधक होते हैं, उन सभी से मुक्त होना आवश्यक है और ब्रैडले भी ऐसे ही सिद्धान्त चाहते हैं जिनके आधार पर पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर नये सिद्धान्त स्थापित किये जा सकें। वर्तमान संदर्भ में संदेह से ब्रैडले का तात्पर्य विशेष सत्यों के प्रति अविश्वास व्यक्त करना नहीं है बल्कि पूर्वाग्रहों से मुक्त होना है व उन सत्यों का स्थापन करना है जिनके अस्तित्व में किसी प्रकार का संदेह न हो सके।[३] इस प्रकार के दृष्टिकोण द्वारा हम स्वतन्त्र चिंतन कर सकेंगे व केवल उन्हीं सत्यों को स्वीकार करेंगे जिनपर सब लोग एक मत हो सकें।

पुन: ब्रैडले कहते हैं कि चूंकि तत्वयीमांसा संसार को अंशों या खण्ड॰ में नहीं वरन् उसकी समग्रता में जानने का प्रयास है अत: तत्व ज्ञान का कार्य समग्र दृष्टि को प्राप्त करना है। अन्य शब्दों में सत् को उसकी समग्रता में ग्रहण करना है। सारांशत: तत्व ज्ञान एक ऐसे सम्पूर्ण सत् को ग्रहण करना चाहता है जिसके परिप्रेक्ष्य में विश्व की व्याख्या की जा सके। विश्व इतना व्यापक है और और उसमें निरन्तर इतनी घटनायें घटित हो रही हैं, कि यदि बुद्धि उसे खण्डों में बांटकर ग्रहण करना चाहे तो वह अपने प्रयासों में कभी भी सफल न हो सकेगी अत: विश्व की सार्थकता को तत्वमीमांसीय दृष्टि से एक पूर्ण सत् के संदर्भ में ही समझा जा सकता है।

ब्रैडले के शब्दों में—"तत्वज्ञान का लक्ष्य विश्व को समझना तथा सभी तथ्यों पर विचार करने के लिये एक निर्विरोध पद्धति को ढूंढ़ निकालना है।"[४]

---

1 "This volume is meant to be a critical discussion of first Principles, and its object is to stimulate inquiry and doubt".—A & R (Preface), Page VII.

2 Scepticism.

3 "By Scepticism is not meant doubt about or disbelief in some tenet or tenets. I understand by it an attempt to become aware of and to doubt all preconception".—A & R (preface), Page VIII.

4 "The end of metaphysics is to understand the universe to find a way of thinking about facts in general which is free from contradictions".—Ibid., p. 103.

अन्य शब्दों में 'एक ऐसी सामान्य दृष्टि को ढूंढ़ निकालना है, जो बुद्धि संगत हो।"[1]

वे पुनः कहते हैं "जबतक प्रयत्न न किया जाय तब तक ज्ञान की प्राप्ति सम्भव नहीं है और निश्चित दिशा में ढंग से सोचना व प्रयत्न करना, यही तत्वमीमांसा की मांग है।"[2]

ब्रैडले अपनी तत्वमीमांसा में जिस सत् को अनावृत करना चाहते हैं, वह पूर्ण समग्र इकाई विभिन्न खण्डों का केवल जोड़ नहीं वरन् इन सबसे अधिक है। निष्कर्षतः सत्ता का वास्तविक रूप सामने रख सकें यही तत्वमीमांसा का कार्य है।

परन्तु ब्रैडले की इस तत्वमीमांसीय धारणा[3] के विरुद्ध आलोचना की संभावना से इन्कार नहीं किया जा सकता। ब्रैडले स्वयं कुछ आपत्तियों की कल्पना पूर्वपक्ष में करते हैं व उनका उत्तर भी देते हैं। ब्रैडले पूर्व कल्पना करते हैं कि इस तत्वमीमांसा के सिद्धान्त के विरुद्ध तीन मुख्य प्रकार के आक्षेप आलोचकों द्वारा लगाये जा सकते हैं।

प्रथम आपत्ति : तत्वज्ञान असम्भव है :

सर्वप्रथम आलोचक कह सकते हैं कि इस प्रकार का तत्वविज्ञान पूर्णतया असम्भव है अर्थात् जो ज्ञान तत्वज्ञान का लक्ष्य है उसे प्राप्त करना ही असम्भव[4] है, क्योंकि यह सत्ता के जिस स्वरूप को जानना चाहता है, उसे विचार की ही मध्यस्थता से व्यक्त करने की चेष्टा करता है और चूंकि हम सीमित हैं व हमारे विचार भी सीमित हैं अतः इन सीमित सत्ताओं के आधार

---

1. "The object of metaphysics is to find a general view which will satisfy the intellect"—Ibid., P. 491.
2. "One never knows until he tries... . If we are to think we should sometimes try to think properly".—Ibid., P. 2-3.
3. Synoptic metaphysics.
4. "The knowledge which it desires to obtain is impossible altogether; or, if possible in some degree, is yet practically useless; or that... we can want nothing beyond the old philosophies".—Ibid., p. 1.

पर असीमित सत्ता का ज्ञान प्राप्त करना कैसे सम्भव हो सकता है ? अर्थात् असम्भव है।

इस प्रथम आपत्ति के उत्तर में ब्रैडले अपनी पुस्तक 'एपियरेंस एण्ड रियेलिटी' में कहते हैं कि जो आलोचक यह कहते हैं कि तत्वमीमांसा असम्भव है व तत्व को नहीं जाना जा सकता, उनसे मेरा (ब्रैडले का) अनुरोध है कि वे मेरी पुस्तक 'एपियरेंस एण्ड रियेलिटी' का अध्ययन करें और मेरे विचारों को समझें, तब उनके अन्दर इस प्रकार के संदेह की गुंजाइश ही नहीं रहेगी। और यदि वे ऐसा न करना चाहें व अपने ही दृष्टिकोण के साथ न्याय करना चाहें तो भी वे बलपूर्वक अपनी स्थिति नहीं बनाये रह सकते। क्योंकि जब वे कहते हैं कि 'सत्ता ज्ञान से परे है' तो ऐसा कहने मात्र से ही वे स्वयं तत्व-मीमांसक हो जाते हैं। क्योंकि सत्ता के बारे में कुछ भी कहने का अर्थ तो यह हुआ कि सत्ता का उनको कुछ न कुछ भावात्मक ज्ञान अवश्य है, जिसके आधार पर वे इस निष्कर्ष पर पहुँचें कि सत्ता मानवीय ज्ञान से परे है। अतः ऐसा कहने वाले स्वयं साथी तत्वमीमांसक है।[1] क्योंकि उनकी भी एक निश्चित दृष्टि हैं व उन्होंने भी चिंतन किया है। अर्थात् उनका निषेधात्मक निष्कर्ष इस बात का प्रमाण है कि वे तत्वज्ञान की सम्भावना को स्वीकार करके चिंतन प्रारम्भ करते हैं।

अन्य शब्दों में यदि हम यह कहें कि अन्तिम यथार्थ सत्ता हमारे ज्ञान के लिये किये जाने वाले सभी प्रयासों का फल असफलता है, अथवा यह कहें कि उसके विषय में समग्र अनुभूति सम्भव नहीं है तो यह भी तो उसको जानने के प्रयास की परिणति है। सत्ता अज्ञेय है यह कहना भी एक प्रकार का ज्ञान है।[2] क्योंकि इससे 'सत्ता है' कम से कम इतना ज्ञान तो हमें है ही और वह अज्ञेय है यह ज्ञान भी हमें है। अतः यदि कोई यह कहे कि सत् हमारे ज्ञान की पहुँच से बाहर है तो इसका अर्थ है कि वह सत् को जानने का दावा करता है और इस नाते वह स्वयं एक तत्वमीमांसक के रूप में अपने को प्रस्तुत करता है।[3]

---

1 "He is a brother metaphysician with a rival theory of first principles".—Appearance and Reality. p. 1.

2 "To say that reality is such that our knowledge cannot reach it is a claim to know reality"—Ibid., p. 1.

3 "The "objectionist" is a brother metaphysician with a rival theory of his own", Preface 1.

इस प्रकार ब्रैडले इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि कोई भी व्यक्ति तत्व-मीमांसा से इंकार नहीं कर सकता और सुविज्ञ आलोचकों का यह कथन भी कि तत्वज्ञान असंभव है, तत्वमीमांसा के संबंध में ही एक कथन है, यद्यपि निषेधात्मक ही है।

द्वितीय आपत्ति : तत्वज्ञान का कोई मूल्य नहीं :

ब्रैडले की तत्वमीमांसा के विरुद्ध द्वितीय आक्षेप यह लगाया जा सकता है कि यदि यह मान भी लिया जाय कि तत्वज्ञान सम्भव है और यदि असीमित सत्ता का ज्ञान हमें किसी प्रकार से कुछ अंश तक हो जाय तो उससे क्या लाभ ? उस ज्ञान की कोई उपयोगिता नहीं है, अतः वह ज्ञान व्यवहारिक दृष्टि से व्यर्थ ही है क्योंकि उस असीमित सत्ता के ज्ञान से अपने व्यावहारिक जीवन में हमें लाभ कोई नहीं। संक्षेप में आलोचकों की दृष्टि में तत्वमीमांसा अनुपयोगी है।

इस द्वितीय आपत्ति के प्रत्युत्तर में ब्रैडले कहते हैं कि इस आपत्ति के पीछे एक पूर्व विश्वास कार्य करता है कि दर्शन से सम्बद्ध समस्याएं सदा एक सी रहती हैं। जो दार्शनिक समस्याएं पहले थीं, जिस रूप में थीं, वे ही आज भी हैं और आगे भी वही रहेंगी। यदि इन समस्याओं का समाधान आज तक नहीं हो सका है, तो भविष्य में इनका कभी समाधान हो सकेगा इसकी आशा करना व्यर्थ है। ब्रैडले कहते हैं कि आलोचकों का यह विश्वास, कि दर्शन से सम्वद्ध समस्याएं एक सी ही रही हैं, उनमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ है—गलत है। क्योंकि इस बात को स्वीकार करना वैसा ही है, जैसा यह कहना कि मानवीय प्रकृति अपरिवर्तनीय है अथवा मानव स्वभाव बदला नहीं है। इसके विपरीत हम जब यह मानते हैं कि मानवीय 'प्रकृति परिवर्तन-शील है तो हमें यह भी मानना होगा कि दार्शनिक प्रश्नों के स्वरूप में भी परिवर्तन आता रहा है। तब यह कहना कि 'दार्शनिक प्रश्न पुरातन है, इनमें रुचि रखना व्यर्थ है,' गलत है।

विपरीततः ब्रैडले बताते हैं कि मनुष्य की प्रकृति ही ऐसी है, कि दर्शन की प्रवृत्ति उसके लिए स्वाभाविक है। प्रत्येक व्यक्ति में यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि वह जाने कि विश्व क्या है ? उसका रूप कैसा है ? विश्व का बोध व उसकी प्रकृति के विषय में जिज्ञासा या चिंतन करना मानव के लिए स्वाभाविक है और यह जिज्ञासा ही तत्वज्ञान का मूल है। जब तक

ऐसी प्रकृति वाला मनुष्य है तब तक उसमें जिज्ञासा बनी रहेगी। अतः यह जिज्ञासा व अनुचिंतन आवश्यक है। भले ही इसका स्तर व रूप भिन्न हो जाय पर चिंतन को नष्ट नहीं किया जा सकता। अतः तत्वमीमांसा की शाश्वत् उपयोगिता व महत्व है। जब मनुष्य का जीवन कुछ ऐसा हो जाय कि साहित्य, कला, धर्म में उसकी कोई रुचि न रहे, अन्य शब्दों में प्रकृति के रहस्यों के उद्घाटन के प्रति हमारे अन्दर कोई जिज्ञासा न जगे, इच्छा न रहे—ऐसी कुंठित प्रकृति हो जाने पर ही हम कह सकते हैं कि तत्वमीमांसा अनुपयोगी है, अन्यथा नहीं।[1] अन्य शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि तत्वमीमांसा की उपयोगिता को यदि हम अस्वीकारकरें तो आगे यह भी कहा जा सकता है कि कला, धर्म, साहित्य भी अनुपयोगी हैं। परन्तु यदि हम पाशविक स्तर से ऊंचे है तो यह निश्चित है कि हम कला, धर्म, साहित्य की उपेक्षा नहीं कर सकते। ब्रैडले कहते हैं कि मनुष्य में एक उच्चतर चेतना और आकांक्षा है और दर्शन वह ज्ञान है जो हमारे उच्चतम व्यक्तित्व को संतोष प्रदान करता है। स्वयं विचार भी निरपेक्ष परम सत् की मांग करता है व उससे स्थायी रूप से संतुष्ट होना चाहता है। सारांशतः अपने भीतर स्थित बुद्धि को नष्ट करके ही हम दर्शन की अवज्ञा कर सकते है अन्यथा नहीं। अतः दार्शनिक वृत्ति या समग्र दृष्टि मानव के लिए उपयोगी व आवश्यक है। अतः तत्वविज्ञान की उपादेयता का प्रश्न उठाना व्यर्थ है क्योंकि इसका महत्व तो शाश्वत् है। ऐसा व्यक्ति जो तत्वज्ञान में विश्वास नहीं करता वह अव्यवस्थित चिंतन चाहता है, अथवा यह चाहता है कि हम चिंतन करना ही छोड़ दें, और इन दोनों में से एक भी बात मनुष्य के लिए संभव नहीं।[2]

---

1. "When poetry, art and religion have ceased wholly to interest, or when they show no longer any tendency to struggle with ultimate problems and to come to an understanding with them, then metaphysics will be worthless."—Ibid, p. 3.
2. "It is possible to abstain form thought about the Universe ? And the opponent of metaphysics, it appears to me, is driven to a dilemma. He must either condemn all reflection on the essence of things—and if so, he breaks, or rather, tries to break, with part of the highest side of human nature – or else he allows us to think, but not to think strictly."—Ibid., p. 3–4.

आगे ब्रैडले यह कहते हैं कि हम सबके जीवन में ऐसे अवसर आते हैं जब हम भौतिक सत्ता से पृथक होकर किसी अन्य महान् पावन सता के सम्पर्क में आते हैं जो हमें अपनी सीमितता का बोध कराती है। यदि वह महान् व असीम सत्ता है तो उसका बोध भी व्यक्ति को कई स्तरों पर हो सकता हैं, जैसे विचार-भावना, संकल्प आकि के स्तर पर। कुछ व्यक्तियों के लिए उस असीम सत्ता का साक्षात्कार बुद्धि की मध्यस्थता से ही संभव है। अतः ऐसे व्यक्तियों के लिए तत्वमीमांसा अत्यंत आवश्यक है, क्योंकि वह बौद्धिक स्तर पर अनन्तता से साक्षात्कार करने का प्रयास करता है।[1]

और यही नहीं, प्रत्येक व्यक्ति को इस साक्षात्कार से सुख प्राप्त करने की स्वतंत्रता भी होनी चाहिये। यही कारण है कि दर्शन नित्य नवीन रूप में प्रस्तुत होता रहा है।

तृतीय आपत्ति : पूर्णसंतोष की प्राप्ति की असंभवता :

पुनः एक और आपत्ति की संभावना प्रस्तुत करते हुये ब्रैडले कहते हैं कि तत्वमीमांसा के प्रति यह आलोचना भी लाई जा सकती है कि इस चिंतन से हमें क्या कुछ ऐसा प्राप्त होगा जो हमें पूर्ण रूप से संतोष प्रदान करेगा ? जब हम पिछली शताब्दियों में दर्शन पर किये गये अनुसधानों का अध्ययन करते हैं तो पाते हैं कि दर्शन की समस्याएं सुलझने के स्थान पर उलझती गयी हैं अतः हमारे मष्तिक में यह आपत्ति उठाना स्वाभाविक है कि इस प्रकार के तत्वमीमांसीय चिंतन से हमें ऐसा कुछ भी प्राप्त न होगा जो हमें स्थायी रूप से संतुष्ट कर सके। अतः सत्ता के अन्वेषण का यह असफल प्रयास क्यों किया जाय ? पहले जिन अनेकों दार्शनिकों ने सत्ता को खोजने का प्रयास किया तथा अपने निष्कर्ष भी दिये तो क्या उन्ही के निष्कर्षों को हम काम में नहीं ला सकते ? इसके प्रत्युत्तर में ब्रैडले कहते है कि यह समझना गलत है कि ग्रीक युग से लेकर आज तक की दार्शनिक समस्याए एक जैसी ही हैं। वास्तविकता तो यह है कि हमारी समस्याओं की समझ और प्रस्तुति में निरन्तर सुधार और परिपक्वता आई। हमारे प्रयासों ने हमें लाभ पहुंचाया है। प्रत्येक युग में समस्याओं के अलग-अलग ढंग से प्रस्तुत करके उनका हल

---

1. "With certain persons, the intellectual effort to understand the universe is a principal way of thus experiencing the deity."—Ibid., p. 5.

खोजा गया है। यद्यपि इन प्रयासों में हमें आंशिक सफलता ही मिली है तब भी उनका योगदान यह है कि उन्होंने दार्शनिक समस्याओं को समय-समय पर नया रूप दिया है। ब्रैडले कहते हैं कि यह ठीक है कि अभी तक हमको आंशिक सफलता ही मिली है, परन्तु यह भी संभव है कि भविष्य में हमें पूर्ण सफलता मिल जाय। भविष्य पर हम कोई प्रतिबन्ध नहीं लगा सकते। संभव है कि तत्वज्ञान के माध्यम से भविष्य में ऐसा कुछ मिल जाय जो हमें पूर्ण रूप से संतुष्ट कर सके। अतः जब तक मनुष्य विकासशील है तब तक वह पुराने समाधानों से, पुराने दार्शनिक निष्कर्षों से पूर्ण रूप से संतुष्ट नहीं हो सकता। प्रत्येक युग में समस्या नये रूप में हमारे समक्ष आती है व नये रूप में ही उसका समाधान होता है। प्रत्येक युग की अपनी मांग होती है, जिसके अनुसार उसका अपना प्रश्न होता है जिसका समाधान वह अपने ही ढंग से चाहती है। जब तक हम बदलते रहेंगे तब तक हमें सदा ही नवीन तत्वमीमांसा की आवश्यकता होती रहेगी व हम उन्हें अपनायेंगे।[1]

इसी प्रसंग में एक और प्रश्न की चर्चा ब्रैडले करते हैं कि क्या तत्वज्ञान वांछनीय भी है? प्रत्युत्तर में वे कहते हैं कि तत्वज्ञान वांछनीय है, क्योंकि यह हमें पूर्वाग्रहों से मुक्त कराता है व स्वतंत्र चिंतन के लिए प्रेरित करता है। जो लोग चिंतन के माध्यम से परम सत् का साक्षात्कार करना चाहते हैं, उनके लिए तत्वज्ञान आवश्यक है।

इस प्रकार ब्रैडले तत्वज्ञान को इन आक्षेपों से बचा लेते हैं व कहते हैं कि तत्वमीमांसा अत्यावश्यक है। ब्रैडले का कथन है कि मनुष्य की प्रकृति ही ऐसी है, कि वह रहस्यों को समझने का प्रयत्न करता है। वह जानना चाहता है कि इस जगत् के पीछे कौन सी सत्ता है; और उसका क्या स्वरूप है? मनुष्य की इस जिज्ञासा संतुष्टि के लिए तत्वज्ञान आवश्यक है। ब्रैडले कहते हैं कि इसी मानवीय प्रकृति के आधार पर दर्शन या तत्वज्ञान खड़ा है। वे कहते हैं—

"मेरा अनुमान है कि न्यूनाधिक रूप में हममें से सभी लोग साधा-

---

1. "For whether there is progress or not, at all events there is change; and the changed mind of each generation will require a difference in what has to satisfy their intellect. Hnece there seems as much reason for new philosophy as there is for new poetry,"
—Ibid., p. 5

रण तथ्यों के क्षेत्र से बाहर चले जाते हैं कोई किसी रूप में और कोई किसी रूप में।"

निष्कर्षतः ब्रैडले का यह कथन कि—तत्वज्ञान संभव है, उपयोगी है, अनिवार्य तथा वांछनीय है, उचित ही है। तत्वज्ञान के प्रति ब्रैडले ने निज संभव आपत्तियों की पूर्व कल्पना की है, व जिनका उत्तर भी दिया है, वह निश्चित ही सराहनीय है व उससे किसी सीमा तक सहमत भी हुआ जा सकता है। इस प्रकार ब्रैडले के अनुसार तत्वज्ञान का उद्देश्य वह सामान्य दृष्टि प्राप्त करना है जो बुद्धि को संतुष्ट कर सके, और जो कुछ इस कार्य में सफल हो वही सत्य और यथार्थ है।

खण्ड एक

आभास

खण्ड—एक

आभास

१. मूलगुण और उपगुण[1]

सभी अध्यात्मवादी दार्शनिकों ने अपने तरीके से बुद्धि की कोटियों को अपर्याप्तता को स्वीकार किया है। इस शताब्दी के सर्वाधिक महत्वपूर्ण आंग्ल दार्शनिक फ्रांसिस हर्बर्ट ब्रैडले अपनी पुस्तक 'एपियरेन्स एण्ड रियेलिटी' को दो खंडों में वितरित करते है व प्रथम खण्ड में यह सिद्ध करना चाहते हैं कि प्रज्ञा की जितनी भी कोटियां[2] हैं, जिनके माध्यम से हम सत्ता के स्वरूपको प्रस्तुत करने का प्रयास करते हैं वे व्यावहारिक दृष्टि से भले ही महत्वपूर्ण हों पर तात्विक दृष्टि से निश्चित ही अपर्याप्त है।

ब्रैडले कहते हैं कि हम जानना चाहते हैं कि सत् क्या है और इसके लिए हम बुद्धि और उसकी कोटियों का सहारा लेते हैं। परन्तु बुद्धि और उसकी कोटियां सत्ता को उसकी पूर्णता में जानने के प्रयास में सफल नहीं होती, यानी, बुद्धि की ये कोटियां सत् को उसकी समग्रता में प्रस्तुत करने में असमर्थ हैं। इसका कारण यह है कि ये सभी कोटियाँ आंतरिक विसंगतियों[3] से युक्त हैं।

अतएव इस खंड में ब्रैडले एक-एक करके बुद्धि की सभी कोटियों का परीक्षण प्रस्तुत करते हैं—उन्हें तार्किक कसौटी पर कसते हैं और सिद्ध करते हैं कि वे सभी कोटियाँ असंगतिपूर्ण, एवं सामंजस्यपूर्ण हैं[4] इसलिए अपर्याप्त हैं, अतः उन्हें अंतिमता नहीं प्रदान की जा सकती। इनके प्रयोग से हमारा उद्देश्य वस्तुतः संगति और सामंजस्य को प्राप्त करना है और इस उद्देश्य की पूर्ति इनके माध्यम से नहीं हो पाती।

अपनी पुस्तक 'एपियरेंस एण्ड रियेलिटी' के प्रथम, अध्याय में ब्रैडले

---

1. Primary and secondary qualities.
2. Categories.
3. Inconsistencies.
4. Inharmonious.

जिस कोटि का सर्व प्रथम परीक्षण प्रस्तुत करते हैं वह मूलगुण और उपगुण[1] की कोटि है। आधुनिक दर्शन में मूलगुण और उपगुण का यह विभेद यद्यपि देकार्त में भी मिलता है फिर भी अपने स्पष्टतम रूप में वह हमें आंग्ल अनुभववादी दार्शनिक लॉक में मिलता है। उसके अनुसार हमारा संपर्क सीधा द्रव्य से न होकर उसके गुणों से ही होता है। ये गुण दो प्रकार के होते है— मूलगुण और उपगुण ।

मूलगुण द्रव्य के अनिवार्य गुण हैं और शाश्व रूप से उसमें उपस्थित रहते हैं। ठोसपन, विस्तार और आकार आदि मूलगुणों के उदाहरण हैं। इसके विपरीत उपगुण द्रव्य के आगतुक गुण हैं और द्रव्य में नहीं पाये जाते। रंग, भार, स्वाद, गंध आदि इसके उदाहरण हैं। ब्रैडले मूल तथा उपगुण के अन्तर को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं। संक्षेप में, हमारे द्वारा दृष्टिगत एवं अनुभूत पदार्थों के जो पक्ष दिक् से सम्बन्ध रखते हैं वे ही मूलगुण हैं और शेष उपगुण हैं ।[2]

लॉक 'वस्तु जैसी है'[3] और 'वस्तु जैसी दिखाई देती है'[4] में भेद करते हैं। उसके अनुसार प्रथम वस्तु का मूल और द्वितीय उसका गौण रूप है। प्रथम वस्तुनिष्ठ और द्वितीय व्यक्तिनिष्ठ है। प्रथम (मूलगुण) इन्द्रिय निरपेक्ष है और दृष्टा से बाहर वस्तु में स्थित है। द्वितीय (उपगुण) व्यक्ति सापेक्ष है व इन्द्रियों की विशेष स्थिति में ही इनका अविर्भाव होता है। इनको वस्तुगत न मानकर दृष्टा सापेक्ष ही मानना चाहिए। नेत्र की परिधि में जब कोइ वस्तु आती है तो उसके रूप, रंग आदि का प्रत्यक्ष होता है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न उपगुणों का ज्ञान भिन्न-भिन्न इन्द्रियों के माध्यम से होता है ।[5]

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता कि मूलगुण वस्तु की संरचना से संवद्ध है और उपगुण वस्तु की मूल संरचना से सम्बद्ध नहीं हैं। उपगुण

---

1. Primary and secondary qualities.
2. "The Primary qualities are those aspects of what we percive or feel, which, in a ward are spatial and the residue is secondary."— Appearance and Reality. p. 9.
3. Thing as it is.
4. Thing as it appears.
5. "Things have secondary qualities only for an organ."
—Appearance and Reelity, p 11 .

मूलगुणों तथा इन्द्रियों से सम्बद्ध एवं व्युत्पन्न है।[1] अतएव एक महत्वपूर्ण अर्थ में वे मूल गुणों पर आश्रित हैं।

उपगुणों की आत्म-निष्ठता का परीक्षण :

सामान्यतः स्वीकृत इस अन्तर का परीक्षण प्रस्तुत करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि क्या उपगुण वास्तव में आत्मनिष्ठ ही हैं ? यह ठीक है कि स्थिति विशेष में ही ये प्रकट होते हैं यानी जब मूलगुणों से युक्त वस्तु इन्द्रियों की परिधि में आती है तब उन्हें हम जानते हैं और यह भी कि हम उन्हें उन परिस्थितियों से पृथक् नहीं जान सकते। परन्तु इसके बाद भी प्रश्न यह है कि हम कैसे कह सकते हैं कि उपगुणों का इन स्थितियों से पृथक् अपना कोई अस्तित्व ही नहीं ? ऐसी वस्तुओं की कल्पना की जा सकती है, जिनका विशेष स्थितियों में ही आविर्भाव होता है, पर इस नाते वे आत्मनिष्ठ नहीं हो जातीं। उपगुणों की वस्तुनिष्ठता के लिए तर्क प्रस्तुत करने के बाद वे एक आपत्ति प्रस्तुत करते हैं : यदि यह स्वीकार कर भी लिया जाए कि परिस्थितियों से स्वतन्त्र इनका अपना कोई निजी अस्तित्व है तो फिर प्रश्न उठता है कि हम कैसे कह सकते हैं कि उनका वह रूप कैसा है और यह कि वह ठीक वैसा ही है जैसा कि विशेष परिस्थितियों के अन्तर्गत व्यक्त होता है। यह संभव है कि परिस्थितियों से निरपेक्ष इनका अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व हो और उनका यह रूप उनके स्थिति-सापेक्ष रूप से भिन्न हो अर्थात् उपगुणों के संबंध में उनके दोहरे रूप तथा दोहरे अस्तित्व की बात हम सोच सकते हैं। अतएव निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि उनका एक रूप वह है जो इन्द्रियों के संपर्क में आने पर प्रकट होता है और दूसरा रूप वह है जो इन्द्रिय निरपेक्ष है।

इस प्रकार ब्रैडले सर्वप्रथम यह सिद्ध करते हैं कि उपगुण मात्र आत्मनिष्ठ ही नहीं, वे वस्तुनिष्ठ भी हो सकते हैं पुनः उनकी वस्तुनिष्ठता स्थापित करने के उपरांत वे इस स्वीकृति से सम्बद्ध कठिनाइयों को भी प्रस्तुत करते हैं। यानी उपगुणों के स्थिति-निरपेक्ष रूप के समर्थन के बाद इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि स्थिति विशेष में ही वे बोधगम्य होते हैं। तो फिर प्रश्न शेष रह जाता है कि उनके स्थिति-निरपेक्ष रूप का समर्थन हम किस आधार पर करें और इससे भी अधिक कठिन प्रश्न, जिसका समाधान

1. Derivative.

जिस कोटि का सर्व प्रथम परीक्षण प्रस्तुत करते हैं वह मूलगुण और उपगुण[1] की कोटि है। आधुनिक दर्शन में मूलगुण और उपगुण का यह विभेद यद्यपि देकार्त में भी मिलता है फिर भी अपने स्पष्टतम रूप में वह हमें आंग्ल अनुभववादी दार्शनिक लॉक में मिलता है। उसके अनुसार हमारा संपर्क सीधा द्रव्य से न होकर उसके गुणों से ही होता है। ये गुण दो प्रकार के होते है— मूलगुण और उपगुण ।

मूलगुण द्रव्य के अनिवार्य गुण हैं और शाश्व रूप से उसमें उप॰ स्थित रहते हैं। ठोसपन, विस्तार और आकार आदि मूलगुणों के उदाहरण हैं। इसके विपरीत उपगुण द्रव्य के आगतुक गुण हैं और द्रव्य में नहीं पाये जाते। रंग, भार, स्वाद, गंध आदि इसके उदाहरण हैं। ब्रैडले मूल तथा उपगुण के अन्तर को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं। संक्षेप में, हमारे द्वारा दृष्टि॰ गत एवं अनुभूत पदार्थों के जो पक्ष दिक् से सम्बन्ध रखते हैं वे ही मूलगुण हैं और शेष उपगुण हैं ।[2]

लॉक 'वस्तु जैसी है'[3] और 'वस्तु जैसी दिखाई देती है'[4] में भेद करते हैं। उसके अनुसार प्रथम वस्तु का मूल और द्वितीय उसका गौण रूप है। प्रथम वस्तुनिष्ठ और द्वितीय व्यक्तिनिष्ठ है। प्रथम (मूलगुण) इन्द्रिय निरपेक्ष है और दृष्टा से बाहर वस्तु में स्थित है। द्वितीय (उपगुण) व्यक्ति सापेक्ष है व इन्द्रियों की विशेष स्थिति में ही इनका अविर्भाव होता है। इनको वस्तुगत न मानकर दृष्टा सापेक्ष ही मानना चाहिए। नेत्र की परिधि में जब कोइ वस्तु आती है तो उसके रूप, रंग आदि का प्रत्यक्ष होता है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न उपगुणों का ज्ञान भिन्न-भिन्न इन्द्रियों के माध्यम से होता है ।[5]

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता कि मूलगुण वस्तु की संरचना से संबद्ध है और उपगुण वस्तु की मूल संरचना से सम्बद्ध नहीं हैं। उपगुण

---

1. Primary and secondary qualities.
2. "The Primary qualities are those aspects of what we percive or feel, which, in a ward are spatial and the residue is secondary."— Appearance and Reality. p. 9.
3. Thing as it is.
4. Thing as it appears.
5. "Things have secondary qualities only for an organ."

—Appearance and Reelity, p 11 .

मूलगुणों तथा इन्द्रियों से सम्बद्ध एवं व्युत्पन्न है।[1] अतएव एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में वे मूल गुणों पर आश्रित हैं।

उपगुणों की आत्म-निष्ठता का परीक्षण :

सामान्यतः स्वीकृत इस अन्तर का परीक्षण प्रस्तुत करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि क्या उपगुण वास्तव में आत्मनिष्ठ ही हैं? यह ठीक है कि स्थिति विशेष में ही ये प्रकट होते हैं यानी जब मूलगुणों से युक्त वस्तु इन्द्रियों की परिधि में आती है तब उन्हें हम जानते हैं और यह भी कि हम उन्हें उन परिस्थितियों से पृथक् नहीं जान सकते। परन्तु इसके बाद भी प्रश्न यह है कि हम कैसे कह सकते हैं कि उपगुणों का इन स्थितियों से पृथक् अपना कोई अस्तित्व ही नहीं? ऐसी वस्तुओं की कल्पना की जा सकती है, जिनका विशेष स्थितियों में ही आविर्भाव होता है, पर इस नाते वे आत्मनिष्ठ नहीं हो जाती। उपगुणों की वस्तुनिष्ठता के लिए तर्क प्रस्तुत करने के बाद वे एक आपत्ति प्रस्तुत करते हैं : यदि यह स्वीकार कर भी लिया जाए कि परिस्थितियों से स्वतन्त्र इनका अपना कोई निजी अस्तित्व है तो फिर प्रश्न उठता है कि हम कैसे कह सकते हैं कि उनका वह रूप कैसा है और यह कि वह ठीक वैसा ही है जैसा कि विशेष परिस्थितियों के अन्तर्गत व्यक्त होता है। यह संभव है कि परिस्थितियों से निरपेक्ष इनका अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व हो और उनका यह रूप उनके स्थिति-सापेक्ष रूप से भिन्न हो अर्थात् उपगुणों के संबंध में उनके दोहरे रूप तथा दोहरे अस्तित्व की बात हम सोच सकते हैं। अतएव निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि उनका एक रूप वह है जो इन्द्रियों के संपर्क में आने पर प्रकट होता है और दूसरा रूप वह है जो इन्द्रिय निरपेक्ष है।

इस प्रकार ब्रैडले सर्वप्रथम यह सिद्ध करते हैं कि उपगुण मात्र आत्म-निष्ठ ही नहीं, वे वस्तुनिष्ठ भी हो सकते हैं पुनः उनकी वस्तुनिष्ठता स्थापित करने के उपरांत वे इस स्वीकृति से सम्बद्ध कठिनाइयों को भी प्रस्तुत करते हैं। यानी उपगुणों के स्थिति-निरपेक्ष रूप के समर्थन के बाद इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि स्थिति विशेष में ही वे बोधगम्य होते हैं। तो फिर प्रश्न शेष रह जाता है कि उनके स्थिति-निरपेक्ष रूप का समर्थन हम किस आधार पर करें और इससे भी अधिक कठिन प्रश्न, जिसका समाधान

1. Derivative.

सरल नहीं, यह है कि स्थिति-निरपेक्ष स्वरूप और स्थिति-सापेक्ष रूप के एकत्व को कैसे सिद्ध किया जाय। स्पष्ट है यह ऐसी कठिनाई है, जिसका सरलता से हल सम्भव नहीं। अत: उपगुण मात्र आभास ही है।

मूलगुणों की वस्तुनिष्ठता का परीक्षण :

अपनी युक्ति के द्वितीय खंड में ब्रैडले मूलगुणों की वस्तुनिष्ठता का परीक्षण करते हुए प्रश्न करते हैं कि क्या ये सचमुच में व्यक्ति-निरपेक्ष और वस्तुनिष्ठ है? क्या वास्तव में ये जगत की मूल संरचना से सम्बद्ध है? वे सिद्ध करते हैं कि ऐसा नहीं है। मूलगुण भी वस्तुत: उतने ही व्यक्तिनिष्ठ हैं, जितने कि उपगुण हैं, यानी, मूलगुण भी उपगुणों की भांति एक व्यक्ति एवं स्थिति–सापेक्ष हैं। अन्य शब्दों में, जिस प्रकार उपगुणों का आविर्भाव विशेष परिस्थि• तियों पर निर्भर करते है।[1]

सामान्यत: विस्तार को पदार्थ का वस्तुनिष्ठ गुण यानी मूलगुण माना जाता है पर यदि हम ध्यान से देखें तो स्पष्ट हो जायगा कि 'विस्तार' का अनुभव भी हमें इन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा ही होता है। एक से अधिक इन्द्रियों यानी दृश्य और स्पर्श इन्द्रियों के माध्यम से ही हमें विस्तार का अनुभव होता है। अत: 'विस्तार' भी इन्द्रिय प्रत्यक्ष एवं सापेक्ष है। ब्रैडले के विचार में 'विस्तार' उसी अर्थ में और उन्हीं कारणों से आभास है जिस अर्थ में व जिस कारण से पूर्ण खंड में उपगुणों को आभास माना गया है। वे कहते हैं, यदि हम मूलगुणों के इन्द्रिय प्रत्यक्ष निरपेक्ष रूप का समर्थन करते हैं तो यहाँ पर भी उसके दो रूपों के द्वैत का समर्थन करते हैं, जिसका कोई औचित्य नहीं है।[2] यही नहीं

---

1. "If a thing is known to have a qualilty only under a certain condition, there is no process of reasoning from this which will justify the conclusion that the thing if unconditioned, is yet the same."

—Appearance and Reality: p. 13.

2. "If we have no other source of information, if the quality in question is non-existent for us except in one relalion, then for us to assert its reality away from that relation is more than unwarranted: It is, to speak"　　—Contd,

पूर्व की भांति हम यह भी स्वीकार करते हैं कि उसका स्थिति-निरपेक्ष रूप बोधगम्य नहीं क्योंकि जानने का माध्यम इन्द्रिय प्रत्यक्ष ही है। फिर यह कहना कि उसके दो रूपों में एकत्व है तो और भी कठिन है। निष्कर्षतः ब्रैडले मूलगुणों की वस्तुनिष्ठता का खण्डन करते हुए उन्हें उपगुणों की श्रेणी में ही ले आते हैं।

दोनों ही युक्तियों के अवलोकन से जो सहज प्रश्न हमारे मस्तिष्क में उठता है वह यह कि फिर क्या मूलगुण और उपगुण का यह सामान्यतः स्वीकृत भेद उचित है? यदि मूलगुण और उपगुण समान रूप से स्थिति सापेक्ष है तो इनमें कोई भेद नहीं रह जाता। अन्य शब्दों में यदि मूलगुण और उपगुण दोनों एक जैसे ही हैं तो इनमें से किसी को मूलगुण और किसी दूसरे को उपगुण कहने का कोई औचित्य नहीं प्रतीत होता। अतएव यह विभाजन नितान्त अर्थहीन है।

विशुद्ध विस्तार अपकर्षण का परिणाम है :

पुनः ब्रैडले कहते हैं कि कि शुद्ध विस्तार का हम कभी भी प्रत्यक्ष नहीं करते। यदि 'विस्तार' की अनुभूति से सम्बद्ध तथ्यों का हम सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन करें तो यह पता चलेगा कि विस्तार (मूलगुण) कभी भी स्वतन्त्र रूप से हमारे सामने नहीं आता। विस्तार किसी न किसी उपगुण के साहचर्य म ही आता है। ब्रैडले के शब्दों में "विस्तार की कल्पना में किसी न किसी उप-गुण का समावेश आवश्यक है।"[1] विशुद्ध विस्तार जिसमें रूप, रंग, गंध आदि न हों, अस्तित्व नहीं रखता। जब हम इस तथाकथित मूलगुण का प्रत्यक्ष करते

plainly, an attempt in the end without meaning."

Again,

"If materialsm is to stand, it must somehow get to the existence of primary qualities in way which avoids their relation to an organ. But since as we shall here-after see (Ch. IV) their very essence is relative, even this refuge is closed."—Appearance and Reality, p. 13

1. Extension can not be presented, or thought of except as one with a quality that is secondary."

—Ibid., p. 14.

हैं तो हमें किसी न किसी उपगुण से अनिवार्य रूप से सम्बद्ध मिलता है।[1] मूलगुण और उपगुण साथ-साथ दिखाई देते हैं। शुद्ध विस्तार मात्र अपकर्षण का परिणाम है। हम कभी-कभी किसी विशेष प्रयोजन से केवल विस्तार (मूलगुण) की ही चर्चा करते हैं और अन्य गुणों की उस समय उपेक्षा कर देते हैं।

इस प्रकार ब्रैडले सिद्ध करते हैं कि मूलगुण और उपगुण सह-अस्तित्व-वान होकर ही हमारे सामने आते हैं अत: "यदि उपगुण आभास हैं तो मूलगुण भी अकेले नहीं टिक सकते।"[2] इस प्रकार ब्रैडले मूलगुण और उपगुण दोनों ही को आभास सिद्ध करते हैं और कहते है कि इनके माध्यम से हम सत् को उसकी समग्रता में ग्रहण नहीं कर सकते "बुद्धि की इस कोटि के माध्यम से जाना गया विश्व अपनी अन्तिमता का खण्डन स्वयं करता है अत: वह सत् नहीं आभास है।"[3]

इसी संदर्भ में यह स्मरणीय है कि भौतिकवाद[4] मूलगुणों को अन्तिमता प्रदान करता है और ब्रैडले मूलगुणों के इस स्वीकृत स्वरूप के खण्डन के साथ ही साथ परोक्षत: भौतिकवाद का भी खण्डन करते हैं। भौतिकवाद इन्द्रिय प्रत्यक्ष निरपेक्ष मूलगुणों को अन्तिमता प्रदान करता है और ब्रैडले कहते हैं कि उसकी इस स्वीकृति का कोई तार्किक आधार नहीं है।

मूलगुण एवं उपगुण की संबद्धता की अस्पष्टता :

पुन: ब्रैडले कहते हैं यदि इस विभान को स्वीकार कर भी लिया जाय

---

1. "Without secondary quality extension is not conceivable, and no one can bring it, is existing, before his mind if he keeps it quite pure: In short, it is the violent abstraction of one aspect from the rest, and the mere confinement of attention to a single side of things, a fiction which, forgetting itself, takes a ghost for solid reality."
—Ibid., p, 14.
2. "If the secondary qualities are appearances, the primary qualities are certainly not able to stand by themselves."
—Ibid., p. 15.
3. "The world as so understood cotradicts itself and is therefore appearance, and not reality." —Ibid :, p. 9.
4. Materialism.

तो दोनों तत्वों के बीच के सम्बन्ध की बात उठेगी और निश्चित है इसका समाधान स्वयं बुद्धि के लिये संभव न होगा—यह निष्कर्ष एक आगामी अध्याय में (अध्याय चार में) सिद्ध किया जायगा। फलतः यह कहा जा सकता है कि मूलगुण तथा उपगुणों का यह कृत्रिम विभाजन व्यावहारिक दृष्टि से भले ही उपयोगी हो पर वस्तु की तत्वमीमांसीय प्रस्तुति की दृष्टि से सर्वथा असन्तोषपूर्ण है—वह आन्तरिक विसंगति से युक्त है। अतः इसके माध्यम से सत्ता के स्वरूप की संगतिपूर्ण प्रस्तुति किसी भी प्रकार संभव नहीं।

२. गुणी और गुण[1]

पिछले अध्याय में यह सिद्ध किया जा चुका है कि मूलगुण और उपगुण का विभाजन अन्ततः असन्तोषपूर्ण है क्योंकि तात्विक दृष्टि से हम इस विभाजन को अन्तिमता नहीं दे सकते। इसलिए ब्रैडले अब बुद्धि की एक अन्य कोटि के अध्ययन की ओर प्रवृत्त होते हैं। वे कहते हैं कि विश्व की विभिन्न इकाइयों को सामान्यतः हम उसके विभिन्न गुणों के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं। अतः प्रश्न उठता है कि इन दोनों का फिर क्या सम्बन्ध है ? यह सच है कि व्यावहारिक स्तर पर इस प्रकार की प्रस्तुति के विरुद्ध कोई आपत्ति लायी नहीं जाती, पर तत्वमीमांसीय दृष्टि से उसकी युक्तता का परीक्षण आवश्यक है।

वस्तु की क्या प्रकृति है ?

ब्रैडले कहते हैं इस दृष्टि से वस्तु की प्रकृति को जब समझने की कोशिश की जाती है तो अनेक विकल्प हमारे सामने आते हैं। सर्वप्रथम हम वस्तु को किसी एक गुण विशेष से एकीकृत कर सकते हैं। पर प्रथम दृष्टि में ही यह असम्भव प्रतीत होता है। कोई भी वस्तु निश्चित ही एक से अधिक गुणों का संघात होती है। तो क्या यह संभव है कि वह अनेक गुणों का संघात ही है ? प्रत्युत्तर में कहा जा सकता है कि गुणों के साथ वस्तु के एकत्व की कल्पना भी सम्मिलित रहती है। उदाहरणार्थ यदि शक्कर की डली को लें तो उसमें उसी श्वेतता, मधुरता एवं ठोसता के अतिरिक्त हम वस्तु की एकता को भी स्वीकार करते हैं—यानी इन सब विभिन्नताओं के बावजूद वह एक भी है पर इस एकता को चाहे जिस रूप में हम प्रस्तुत करें, उसे बाह्य अथवा आन्तरिक मानें, वस्तु की एकता का स्पष्टीकरण हमारे लिये असम्भव है।

वे पुनः कहते हैं गुणों की विभिन्नता और वस्तु की एकता की

---

1. Substantive and Adjective.

अन्तर्सम्बद्धता भी विचारणीय है और स्पष्ट है हमारी बुद्धि के लिए यह असंभव है।

'एकता' का समर्पण :

अतएव ब्रैडले कहते हैं इस 'एकता' का समर्पण ही वांछनीय प्रतीत होता है। यह बहुत मुमकिन है कि हमारी सारी कठिनाइयां इस एक हठ के कारण ही है। फलत: इस नवीन विकल्प के अन्तर्गत केवल गुण अपनी परस्पर अन्तर्सम्बन्धता के साथ वस्तु के अस्तित्व का निर्माण करते हैं। [1] प्रश्न है क्या इस कल्पना के आधार पर हमारी समस्याओं का हल संभव है ?

इस विकल्प का विश्लेषण करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि इसके अन्तर्गत गुण 'एक्स' गुण 'वाई' से संबंधित है। प्रश्न है उनके इस संबंधित होने का क्या अर्थ है ? यानी अंग्रेजी के वाक्य—'एक्स' इज इन रिलेशन टु 'वाई' में कोपुला 'इज' तथा 'इन रिलेशन टु वाई' का अर्थ है। स्पष्ट है उपर्युक्त वाक्य दोनों गुणों की एकात्मकता की ध्वनि नहीं निकलती। दोनों गुण यदि दो हैं तो स्पष्ट है कि वे अभिन्न नहीं हो सकते। पुन: वे कहते हैं कि उपर्युक्त वाक्य के अनुसार किसी भी एक पद उदाहरणार्थ 'एक्स' की शेष पद समूह यानी 'इज इन रिलेशन टु वाई' से एकात्मकता नहीं हो सकती। निश्चित है कि संबंध के साथ युक्त द्वितीय पद प्रथम पद से एकात्मकता नहीं रख सकता। संबंध तो पदों के बीच होता है यानी वह इन पदों को अपने से पूर्व ही अस्तित्ववान् मानता है। एक अन्य संभावना पर अपने विचार व्यक्त करते हुये ब्रैडले कहते हैं कि क्या उपर्युक्त वाक्य के कोपुला 'इज' से अंग्रेजी शब्द 'हैज' की ध्वनि निकलती है पर उनके विचार में इस संभावना को स्वीकार करने से समस्या सुलझने के बजाय और उलझ ही जायेगी। किस प्रकार पद विशेष संबंध को उस रूप में स्वीकार करता है जिसमें 'हैज' शब्द का प्रयोग किया जाता है, यह कहना हमारे लिये संभव न होगा। निष्कर्षत: वे कहते हैं 'यदि उद्देश्य का विधेय उससे भिन्न रखा जाय तो निश्चित है कि उद्देश्य को अपने वास्तविक से भिन्न रूप

1. "When white hard, sweet and the rest co-exist in a certain way that is surely the secret of the thing. The qualities are and are in relation."

—Appearance and Reality. P. 16.

में प्रस्तुत किया गया है और यदि उसे एक ऐसे विधेय के माध्यम से प्रस्तुत किया जाय जो उससे भिन्न नहीं है, तो वस्तुत: कुछ कहा ही नहीं गया है।"[1] इसी को वे विधेयपन की दुविधा[2] कहते हैं और इससे छुटकारा पाना असंभव है।

पुन: एक अन्य संभावना की चर्चा करते हुए वें कहते हैं कि यदि संबंध को दोनों ही पदों की अनिवार्य विशेषता के रूप में स्वीकार कर लिया जाय तो भी कठिनाइयां स्वाभाविक हैं। क्योंकि संबंध तो दोनों पदों के पूर्व अस्तित्व की कल्पना करता है। और यदि यह कहा जाय कि पद संबंध से अलंकृत होकर ही संबंधित होते हैं तो वह उचित न होगा।

स्वतंत्र पद के रूप में 'संबंध' की स्वीकृति :

ब्रैडले कहते हैं यदि संबंध को एक स्वतन्त्र अस्तित्व के रूप में स्वीकार किया जाय तो भी उससे समस्या का हल नहीं मिलता। क्योंकि स्वतन्त्र अस्तित्व के रूप में संबंध को स्वीकार कर लेने पर प्रश्न उठता है कि ये सम्बन्ध पदों को सम्बन्धित कैसे करते हैं। और यदि यह मान लिया जाय कि दो पद एक तृतीय से सम्बन्धित हो सकते हैं, तो फिर इस तृतीय को पहले दो पदो से संबंधित करने का प्रश्न उठेगा और इस प्रकार हमारे चिंतन में अनावस्था दोष आ जायेगा। अत: सम्बन्धों को स्वतन्त्र अस्तित्व प्रदान करने पर भी समस्या का कोई समाधान दिखाई नहीं देता। अपने निष्कर्ष को प्रस्तुत करते हुए ब्रैडले कहते हैं 'या तो सम्बन्ध को एक नये सम्बन्ध की स्वयं आवश्यकता पड़ती है और यह क्रम कभी समाप्त नहीं होता या फिर हम वहीं के वहीं कठिनाई में पड़े रह जाते हैं।"[3] अतएव सम्बन्धों को मुक्त पदों के रूप में स्वीकार करना उचित नहीं। उन्हें तो उन पदों के भीतर ही किसी प्रकार स्वीकार करना होगा। अन्य शब्दों में पदों की परस्पर सम्बद्धता का प्रश्न हमें

---

1. If you predicate what is different, you ascribe to the Subject what it is 'not' and if you predicate what is not different, you say nothing at all." —Ibid., p. 17
2. Dilemma of Predication.
3. "If either it self demands a new relation, and so on without end, or it leaves us where we were, entangled in difficulties."—Affearance and Reality, P. 18.

उन पदों की पृष्ठभूमि में वर्तमान किसी ऐसी 'एकता' की ओर ले जाता है उन विभिन्न पदों को समन्वित करने की शक्ति रखती है।[1]

ब्रैडले कहते हैं यह देखने में आता है कि 'पद' कहीं परस्पर संगति में है और कहीं विरोध में। जो संगति में है उन्होंने अपने उक्त भावात्मक धरातल को प्राप्त कर लिया है जो उन्हें संगति प्रदान करता है। विपरीततः जो विरोध में हैं उन्हें अभी उस भावात्मक धरातल को प्राप्त करना है जो उन्हें संगतिपूर्ण बना सकता है।[2]

पर इसके साथ यह भी सच है कि जहाँ पदों में संवद्धता एवं संगति है वहाँ भी उस मूल एकत्व ने अपनी एकता का किंचित् समर्पण करते हुए ही गुणों एवं संबंधों का बाना पहना है।[3]

पुनः इसी विकल्प पर अपने विचार व्यक्त करते हुए ब्रैडले कहते हैं यह विकल्प भी सर्वथा संतोषपूर्ण नहीं क्योंकि इसके आधार पर हम इतना ही कह सकते हैं कि मूल 'एकता' अपने एकत्व का समर्पण करते हुए विरोधी पदों को सह-अस्तिवान् इकाइयों में रूपांतरित करते हुए उनके विरोध को समाप्त करती है। पर इस 'व्यवस्था' का औचित्य प्रस्तुत करना हमारे लिए असंभव हैं। और जब तक हम इस व्यवस्था के औचित्य को न जान लें उसे स्वीकार करना

---

1. "It seems as if a reality possessed differences, A and B, incompatible with one another and also with itself. And so in order, without contradiction to retain its various properties, this whole consents to wear the form of relations between them. And this is why qualities are found to be some incompatible and some compatible. They are all different, and, on the other hand, because belonging to one whole, are all forced to come together. And it is only where they come together distantly by the help of a relation, that they cease to conflict."

—Ibid., PP. 18-19.

2. Contrary is that "which cannot find the relation which serves to compel them apart. It is marriage attempted without a modus vivendi",—Ibid., p. 19.

3. "Where the whole, relaxing its untity, takes the form of an arrangement, there is co-existence with concord."

—Ibid., p. 19

में प्रस्तुत किया गया है और यदि उसे एक ऐसे विधेय के माध्यम से प्रस्तुत किया जाय जो उससे भिन्न नहीं है, तो वस्तुतः कुछ कहा ही नहीं गया है।"[1] इसी को वे विधेयपन की दुविधा[2] कहते हैं और इससे छुटकारा पाना असंभव है।

पुनः एक अन्य संभावना की चर्चा करते हुए वे कहते हैं कि यदि संबंध को दोनों ही पदों की अनिवार्य विशेषता के रूप में स्वीकार कर लिया जाय तो भी कठिनाइयां स्वाभाविक हैं। क्योंकि संबंध तो दोनों पदों के पूर्व अस्तित्व की कल्पना करता है। और यदि यह कहा जाय कि पद संबंध से अलंकृत होकर ही संबंधित होते हैं तो वह उचित न होगा।

स्वतंत्र पद के रूप में 'संबंध' की स्वीकृति :

ब्रैडले कहते हैं यदि संबंध को एक स्वतन्त्र अस्तित्व के रूप में स्वीकार किया जाय तो भी उससे समस्या का हल नहीं मिलता। क्योंकि स्वतन्त्र अस्तित्व के रूप में संबंध को स्वीकार कर लेने पर प्रश्न उठता है कि ये सम्बन्ध पदों को सम्बन्धित कैसे करते हैं। और यदि यह मान लिया जाय कि दो पद एक तृतीय से सम्बन्धित हो सकते हैं, तो फिर इस तृतीय को पहले दो पदों से संबंधित करने का प्रश्न उठेगा और इस प्रकार हमारे चिंतन में अनावस्था दोष आ जायेगा। अतः सम्बन्धों को स्वतन्त्र अस्तित्व प्रदान करने पर भी समस्या का कोई समाधान दिखाई नहीं देता। अपने निष्कर्ष को प्रस्तुत करते हुए ब्रैडले कहते हैं 'या तो सम्बन्ध को एक नये सम्बन्ध की स्वयं आवश्यकता पड़ती है और यह क्रम कभी समाप्त नहीं होता या फिर हम वहीं के वहीं कठिनाई में पड़े रह जाते हैं।"[3] अतएव सम्बन्धों को मुक्त पदों के रूप में स्वीकार करना उचित नहीं। उन्हें तो उन पदों के भीतर ही किसी प्रकार स्वीकार करना होगा। अन्य शब्दों में पदों की परस्पर सम्बद्धता का प्रश्न हमें

---

1. If you predicate what is different, you ascribe to the Subject what it is 'not' and if you predicate what is not different, you say nothing at all." —Ibid., p. 17
2. Dilemma of Predication.
3. "If either it self demands a new relation, and so on without end, or it leaves us where we were, entangled in difficulties."—Affearance and Reality, P. 18.

उन पदों की पृष्ठभूमि में वर्तमान किसी ऐसी 'एकता' की ओर ले जाता है उन विभिन्न पदों को समन्वित करने की शक्ति रखती हैं।[1]

ब्रैडले कहते हैं यह देखने में आता है कि 'पद' कहीं परस्पर संगति में है और कहीं विरोध में। जो संगति में है उन्होंने अपने उक्त भावात्मक धरातल को प्राप्त कर लिया है जो उन्हें संगति प्रदान करता है। विपरीतत: जो विरोध में हैं उन्हें अभी उस भावात्मक धरातल को प्राप्त करना है जो उन्हें संगतिपूर्ण बना सकता है।[2]

पर इसके साथ यह भी सच है कि जहाँ पदों में संबद्धता एवं संगति है वहाँ भी उस मूल एकत्व ने अपनी एकता का किंचित् समर्पण करते हुए ही गुणों एवं संबंधों का बाना पहना है।[3]

पुनः इसी विकल्प पर अपने विचार व्यक्त करते हुए ब्रैडले कहते हैं यह विकल्प भी सर्वथा संतोषपूर्ण नहीं क्योंकि इसके आधार पर हम इतना ही कह सकते हैं कि मूल 'एकता' अपने एकत्व का समर्पण करते हुए विरोधी पदों को सह-अस्तित्वान् इकाइयों में रूपांतरित करते हुए उनके विरोध को समाप्त करती है। पर इस 'व्यवस्था' का औचित्य प्रस्तुत करना हमारे लिए असंभव हैं। और जब तक हम इस व्यवस्था के औचित्य को न जान लें उसे स्वीकार करना

---

1. "It seems as if a reality possessed differences, A and B, incompatible with one another and also with itself. And so in order, without contradiction to retain its various properties, this whole consents to wear the form of relations between them. And this is why qualities are found to be some incompatible and some compatible. They are all different, and, on the other hand, because belonging to one whole, are all forced to come together. And it is only where they come together distantly by the help of a relation, that they cease to conflict."

—Ibid., PP. 18-19.

2. Contrary is that "which cannot find the relation which serves to compel them apart. It is marriage attempted without a modus vivendi",—Ibid., p. 19.

3. "Where the whole, relaxing its untity, takes the form of an arrangement, there is co-existence with concord."

—Ibid., p. 19

में प्रस्तुत किया गया है और यदि उसे एक ऐसे विधेय के माध्यम से प्रस्तुत किया जाय जो उससे भिन्न नहीं है, तो वस्तुतः कुछ कहा ही नहीं गया है।''[1] इसी को वे विधेयपन की दुविधा[2] कहते हैं और इससे छुटकारा पाना असंभव है।

पुनः एक अन्य संभावना की चर्चा करते हुए वें कहते हैं कि यदि संबंध को दोनों ही पदों की अनिवार्य विशेषता के रूप में स्वीकार कर लिया जाय तो भी कठिनाइयां स्वाभाविक हैं। क्योंकि संबंध तो दोनों पदों के पूर्व अस्तित्व की कल्पना करता है। और यदि यह कहा जाय कि पद संबंध से अलंकृत होकर ही संबंधित होते हैं तो वह उचित न होगा।

स्वतंत्र पद के रूप में 'संबंध' की स्वीकृति :

ब्रैडले कहते हैं यदि संबंध को एक स्वतन्त्र अस्तित्व के रूप में स्वीकार किया जाय तो भी उससे समस्या का हल नहीं मिलता। क्योंकि स्वतन्त्र अस्तित्व के रूप में संबंध को स्वीकार कर लेने पर प्रश्न उठता है कि ये सम्बन्ध पदों को सम्बन्धित कैसे करते हैं। और यदि यह मान लिया जाय कि दो पद एक तृतीय से सम्बन्धित हो सकते हैं, तो फिर इस तृतीय को पहले दो पदो से संबंधित करने का प्रश्न उठेगा और इस प्रकार हमारे चिंतन में अनावस्था दोष आ जायेगा। अतः सम्बन्धों को स्वतन्त्र अस्तित्व प्रदान करने पर भी समस्या का कोई समाधान दिखाई नहीं देता। अपने निष्कर्ष को प्रस्तुत करते हुए ब्रैडले कहते हैं 'या तो सम्बन्ध को एक नये सम्बन्ध की स्वयं आवश्यकता पड़ती है और यह क्रम कभी समाप्त नहीं होता या फिर हम वहीं के वहीं कठिनाई में पड़े रह जाते हैं।''[3] अतएव सम्बन्धों को मुक्त पदों के रूप में स्वीकार करना उचित नहीं। उन्हें तो उन पदों के भीतर ही किसी प्रकार स्वीकार करना होगा। अन्य शब्दों में पदों की परस्पर सम्बद्धता का प्रश्न हमें

---

1. If you predicate what is different, you ascribe to the Subject what it is 'not' and if you predicate what is not different, you say nothing at all.'' —Ibid., p. 17
2. Dilemma of Predication.
3. "If either it self demands a new relation, and so on without end, or it leaves us where we were, entangled in difficulties.''—Affearance and Reality, P. 18.

३. संबंध एवं गुण[1]

पिछले अध्यायों में ब्रैडले जब 'मूलगुण और उपगुण' तथा 'गुणी और गुण' जैसी महत्त्वपूर्ण कोटियों का परीक्षण प्रस्तुत करते हैं तो उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि बुद्धि की कोटियाँ आंतरिक विसंगति से पूर्ण हैं। अतएव इनके माध्यम से सत् को उसकी समग्रता में नहीं जाना जा सकता। प्रस्तुत अध्याय में भी ब्रैडले इसी निष्कर्ष को पुन: स्थापित करते हैं और कहते हैं कि 'सम्बन्ध और गुण' के सामान्यत: स्वीकृत विभाजन के माध्यम से यद्यपि सत्ता को प्रस्तुत करना हमारे लिए सहज और स्वाभाविक है, व्यावहारिक दृष्टि से अनिवार्य और उपयोगी भी है, परन्तु इस कोटि के माध्यम से सत्ता को उसकी समग्रता में प्रस्तुत कर पाना असंभव है। अतएव तत्वमीमांसीय दृष्टि से बुद्धि के इस कोटि के औचित्य का समर्थन नहीं किया जा सकता।

पुन: वे कहते हैं यद्यपि सम्बन्ध एवं गुण' विभाजन के माध्यम से विचार सत्ता को प्रस्तुत करने का प्रयास करता है और यह उसकी विपिष्ट शैली भी है, तथापि इसे अन्तिमता नहीं प्रदान की जा सकती क्योंकि यह कोटि सत् के यथार्थ स्वरूप के साथ न्याय नहीं कर पाती। ब्रैडले कहते हैं कि "किन्हीं दिये गये तथ्य को संबंधों और गुणों में प्रस्तुत करना व्यवहार की दृष्टि से कितना ही आवश्यक क्यों न हो परन्तु सैद्धांतिक दृष्टि से वह संगति-पूर्ण नहीं है इसीलिए वह बुद्धि को संतोष प्रदान करने में असमर्थ है। अत: इस कोटि के माध्यम से प्रस्तुत सत् वास्तविक सत् न होकर आभास ही है।"[2]

तत्वमीमांसीय दृष्टि से इस की अपर्याप्तता ब्रैडले सिद्ध करते हुये कहते हैं कि किसी तथ्यविशेष को "गुण एव सम्बन्ध में" के विभाजन के माध्यम से

---

1. Relation and Quality.
2. "The arrangement of given facts into relations and qualities may be necessary in practice, but it is theoretically unintelligible. The reality so characterized is not true reality but is appearance."—Ibid., 21

हमारे लिये असंभव है। निष्कर्षतः हम यह कह सकते हैं कि यह सारी योजना कामचलाऊ है।[1] उससे तथ्यों का स्पष्टीकरण असम्भव है।

भेद आत्मगत है :

ब्रैडले पुनः कहते हैं, यह कहा जा सकता है कि वस्तु में जिस भेद को हम देखते हैं वह हमारी ही कृति है—वस्तु स्वयं अपनी अविच्छिन्न एकता में ज्यों की त्यों बनी रहती है। पर इस विकल्प के साथ भी अनेक कठिनाइयाँ है। क्योंकि तब यह प्रश्न उठेगा कि उस 'वस्तु' का अपना निजी रूप फिर क्या है ? और क्या इस रूप को जानना हमारे लिए असंभव होगा ? पुनः इस विभेद के साथ हमारी समस्यायें भी दुगुनी हो जायेंगी।

निष्कर्षतः ब्रैडले कहते हैं कि गुणी एवं गुण के विभाजन के आधार पर सत् को प्रस्तुत करने से जो अनेक समस्यायें उत्पन्न होती हैं उनका बुद्धि के स्तर पर समाधान असंभव है। वास्तव में इन समस्याओं के मूल में विचार की प्रस्तुति संबंधी विशेष शैली है, जो सत् को ग्रहण करने की प्रक्रिया में उसे अनगिनत खंडों में वितरित कर देती है और फिर उन्हीं कृत्रिम खंडों के माध्यम से पुनः उस एकत्व को संश्लेपित करती है। वास्तव में इस संपूर्ण प्रक्रिया का कोई तात्विक आधार नहीं है। अतएव सत् की अविभाज्य एकता को उसके माध्यम से प्रस्तुत करने के सभी प्रयासों का भले ही व्यावहारिक महत्व हो तत्वमीमांसीय दृष्टि से उनकी स्पष्ट सीमायें हैं।

---

1. "The thing avoids contradiction by its disappearance into relations, and by its admission of the adjectives to a standing of their own. But it avoids contradiction by a kind of sucide" "Such an arrangement may work but the theoretical problem is not solved. The whole device is a clear makeshift."　—Ibid., p. 19,

३. संबंध एवं गुण[1]

पिछले अध्यायों में ब्रैडले जब' मूलगुण और उपगुण' तथा 'गुणी और गुण' जैसी महत्त्वपूर्ण कोटियों का परीक्षण प्रस्तुत करते हैं तो उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि बुद्धि की कोटियाँ आंतरिक विसंगति से पूर्ण हैं। अतएव इनके माध्यम से सत् को उसकी समग्रता में नहीं जाना जा सकता। प्रस्तुत अध्याय में भी ब्रैडले इसी निष्कर्ष को पुन: स्थापित करते हैं और कहते हैं कि 'सम्बन्ध और गुण' के सामान्यत: स्वीकृत विभाजन के माध्यम से यद्यपि सत्ता को प्रस्तुत करना हमारे लिए सहज और स्वाभाविक है, व्यावहारिक दृष्टि से अनिवार्य और उपयोगी भी है, परन्तु इस कोटि के माध्यम से सत्ता को उसकी समग्रता में प्रस्तुत कर पाना असंभव है। अतएव तत्वमीमांसीय दृष्टि से बुद्धि के इस कोटि के औचित्य का समर्थन नहीं किया जा सकता।

पुन: वे कहते हैं यद्यपि सम्बन्ध एवं गुण' विभाजन के माध्यम से विचार सत्ता को प्रस्तुत करने का प्रयास करता है और यह उसकी विषिष्ट शैली भी है, तथापि इसे अन्तिमता नहीं प्रदान की जा सकती क्योंकि यह कोटि सत् के यथार्थ स्वरूप के साथ न्याय नहीं कर पाती। ब्रैडले कहते हैं कि "किन्हीं दिये गये तथ्य को संबंधों और गुणों में प्रस्तुत करना व्यवहार की दृष्टि से कितना ही आवश्यक क्यों न हो परन्तु सैद्धांतिक दृष्टि से वह संगति-पूर्ण नहीं है इसीलिए वह बुद्धि को संतोष प्रदान करने में असमर्थ है। अत: इस कोटि के माध्यम से प्रस्तुत सत् वास्तविक सत् न होकर आभास ही है।"[२]

तत्वमीमांसीय दृष्टि से इस की अपर्याप्तता ब्रैडले सिद्ध करते हुये कहते हैं कि किसी तथ्यविशेष को "गुण एव सम्बन्ध में" के विभाजन के माध्यम से

---

1. Relation and Quality.
2. "The arrangement of given facts into relations and qualities may be necessary in practice, but it is theoretically unintelligible. The reality so characterized is not true reality but is appearance."—Ibid., 21

प्रस्तुत करने में गुण तथा सम्वन्ध दोनों ही को निरपेक्ष इकाइयों के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। ये दोनों कल्पनाएं अन्ततः भ्रामक हैं।

प्रथम खंड : अपने आप में गुण[1] का प्रत्यय भ्रामक :

अतएव युक्ति के प्रथम खंड में वे 'गुण' के स्वतंत्र सम्वन्ध निरपेक्ष अस्तित्व की कल्पना की और द्वितीय में वे सम्बन्धों के गुण-निरपेक्ष रूप की कल्पना की भ्रामकता सिद्ध करते हैं

ब्रैडले कहते हैं कि सामान्यतः जब हम 'सम्वन्ध' और 'गुण' शब्द का प्रयोग करते हैं तो उससे जो ध्वनि निकलती है,वह यह है कि ये दोनों ही एक दूसरे से पृथक् और स्वअस्तित्ववान् इकाइयाँ हैं। यथार्थवादी इस मत का समर्थन करते हुये कहते हैं कि गुण की अपनी निजी सत्ता है। गुण का पहले अपना एक अस्तित्व है और तत्पश्चात् वह किसी अन्य गुण से सम्बद्ध होता है। ब्रैडले हमारे सामान्य दृष्टिकोण का और यथार्थवाद के इस मूल विश्वास का खंडन करते हैं और कहते हैं कि सम्वन्धों से पृथक् गुणों का कोई अस्तित्व नहीं है। सम्वन्धों के विना गुणों की अपनी कोई सत्ता नहीं है।[२] पुनः गुणों की प्राप्ति सम्वन्धों से पृथक् हो ही नहीं सकती।[३–४]

मनोवैज्ञानिक युक्ति :

गुण की इस सापेक्षता को सिद्ध करते हुए सर्वप्रथम ब्रैडले मनोवैज्ञानिक मुक्ति देते हुये कहते हैं कि यदि हम गुणों के स्वरूप का अध्ययन करें तो यह पायेंगे कि प्रायः ये वदलते हुये संदर्भो के साथ वदलते रहते हैं। यानी दृष्टा एवं परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ इन गुणों में भी परिवर्तन होता रहता है मनोवैज्ञानिक अध्ययन से यह स्पष्ट है कि सम्वन्धों के परिवर्तन से गुणो में भी परिवर्तन आ जाता है।

इस युक्ति की व्याख्या और समर्थन के लिये किसी भी वस्तु का उदा-

---

1. Quality-in-itself.
2. Qualities ar nothing without relations" –Ibid., p. 21.
3. "You ca never, we may argue, find qualities without rela tions." —Ibid., Page 22.
4. "To find qualities without relations is surely impossible." —Ibid., Page 22.

हरण दिया जा सकता है। यथा गुलाब के फूल की लालिमा। गुलाब की लालिमा भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न रूप में प्रस्तुत होती है। अतएव यह सत्य ही है कि अपनी विशिष्टताओं के लिए कोई भी वस्तु भौतिक परिवेश और दृष्टा की स्थिति आदि तथ्यों पर निर्भर करती है। मनोविज्ञान पर आधारित इस प्रमाण से यही सिद्ध होता है कि सम्बन्धों के हेरे-फेर से गुणों में परिवर्तन हो जाता है।[1]

परन्तु ब्रैडले कहते हैं कि वर्तमान प्रयोजन की दृष्टि से हम इस युक्ति को अधिक महत्व देना नहीं चाहेंगे। यद्यपि यह युक्ति गुण की सापेक्षता को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है, तो भी तत्वमीमांसीय दृष्टि से हम इसको बहुत महत्व नहीं दे सकते। और यह भी कहा जा सकता है कि इसके बावजूद संभवतः मूल एवं स्वतंत्र गुणों का किसी न किसी रूप में अस्तित्व हो।

तत्वमीमांसीय युक्ति :

मनोवैज्ञानिक युक्ति के बाद ब्रैडले तात्विक युक्ति देते हुए कहते हैं कि वर्तमान संदर्भ में हम 'गुणों' शब्द का प्रयोग करते हैं, यानी अनगिनत गुणों की चर्चा करते हैं जिसका सीधा अर्थ हुआ कि हम उनके पार्थक्य को भी स्वीकार करते हैं। यानी उनके वैविध्य की चर्चा के साथ-साथ उनके पार्थक्य का भी समर्थन करते है। परन्तु पार्थक्य परोक्षतः एक निषेधात्मक सम्बन्ध को स्वीकार करता है। अन्य शब्दों में जब हम गुणों के क्षेत्र में वैविध्य की चर्चा करते हैं तो प्रच्छन्न रूप से गुणों की सापेक्षता या सम्बन्धों के अस्तित्व को भी स्वीकार कर लेते हैं। ब्रैडले कहते हैं "सम्बन्धों के बिना अनेकता का प्रत्यय कोरा शब्द मात्र है, जो कुछ भी अर्थ नहीं रखता।'[2] यही नहीं सम्बन्धों के माध्यम से ही अनेकता अपने सम्पूर्ण अर्थ को प्राप्त करती है।"[3] अन्यत्र वे कहते हैं—

---

1. Thiss furnishedby psychology, would attempt to show how qualities are variable by change of relation."
—Ibid., Page 21.
उदाहरण अपने हैं प्रत्यय के स्पष्टीकरण के लिए दिये गये हैं।
2. "Diversity without relation seems a word without meaning."
—Ibid., Page 24.
3. "Their plurality gets for us all its meaning through relations."
—Ibid., Page 22.

"पार्थक्य के सम्बन्ध के अभाव में अनेकता एवं पार्थक्य अर्थ शून्य हैं।"[1]

इसी बात को एक भिन्न रूप में प्रस्तुत करते हुए ब्रैडले कहते है कि यदि भेद न हो तो गुण भी नहीं होंगे परन्तु यदि भेद का अस्तित्व है तो इसका अर्थ यह है कि सम्बन्ध का भी अस्तित्व हैं।'[2] "गुणों की अनेकता सम्बन्ध पर आश्रित है, विना उस सम्बन्ध के वह विशिष्ट नहीं और यदि वह विशिष्ट नहीं तो भिन्न नहीं इसलिये गुण नहीं।[3] मस्तिष्क किसी एकता के संदर्भ में ही वैविध्य की व्याख्या करता है अत: वैविध्य के साथ-साथ एकता और सम्बद्धता का भी हमें समर्थन करना होगा।

यथार्थवाद स्वीकार करता है कि सभी गुण अपने मूल रूप में असम्बद्ध है। विपरीतत: अध्यात्मवाद यह सिद्ध करता है कि जिन्हें मूलत: हम स्वतंत्र और पृथक् इकाइयां मानते हैं, वह आन्तरिक रूप से सम्बद्ध है। व्यावहारिक दृष्टि से भले ही हम उन्हें असम्बद्ध मान लें और सम्भव है कि तात्कालिक उद्देश्य की पूर्ति में हमें किसी प्रकार की बाधा का सामना भी न करना पड़े और तात्विक दृष्टि से हमें उन्हें सम्बद्ध मानना ही पड़ेगा। और ब्रैडले अध्यात्मवादी होने के नाते इस बात को स्वीकार ही नहीं करते वरन् इसके समर्थन में उपयुक्त युक्ति भी देते हैं:

संभव आपत्ति पर विचार :

निम्न सम्बन्धात्मक स्तर पर 'गुणों' के अस्तित्व पर विचार :

इसी प्रश्न से सम्बद्ध एक अन्य संभव आपत्ति प्रस्तुत करते हुये ब्रैडले कहते हैं कि यह कहा जा सकता है कि सम्बन्धो की स्थापना सामान्यत: बुद्धि

---

1. "Plurality and separataness without a relation of separation seem really to have no meaning."
—Ibid, Page., 101.
2. "If there are no differences, there are no qualities .... But if there is any diffrence then that implies a relation."
—Ibid., Page 25.
3. "Their pturality depends on relation, and, without that relation, they are not distinct. But if not distinct, then not different and therefore not qualities."
—Ibid., Page 24.

के कारण ही होती है, यानी प्रज्ञा के माध्यम से जब हम गुणों को समझने का प्रयास करते हैं तो उन्हें एक दूसरे से सम्बद्ध कर देते हैं। अत: क्या यह मुमकिन नहीं कि प्रज्ञा से निम्न किसी बोध—जिसे 'निम्न सम्बन्धात्मक बोध[1] की संज्ञा दी जा सकती है'—के स्तर पर हमें गुण सहज विशुद्ध रूप का साक्षात्कार हो। निश्चित ही इस संभावना की अवहेलना नहीं की जा सकती कि चेतना के इस स्तर पर हमें नितान्त असम्बद्ध गुणों की प्राप्ति हो सकती है।

प्रत्युत्तर में ब्रैडले कहते हैं कि पूर्व-सम्बन्धात्यक चेतना के स्तर पर यदि सम्बन्ध नहीं है, तो उस स्तर पर स्वतंत्र और असम्बद्ध इकाइयों के रूप में गुण भी अस्तित्ववान नहीं होंगे। यह निम्न सम्बन्धात्मक निर्विकल्प बोध की स्थिति होगी जिसमें भेद और पार्थक्य बीज रूप में तो होंगे पर स्पष्ट रूप में वे व्यक्त न होंगे। अत: गुणों का विभाजन, उनका स्वतंत्र अस्तित्व आदि का इस स्तर पर प्रश्न ही नहीं उठता। यह सरलतम बोध की स्थिति है और इसमें मात्र अस्तित्व की उपस्थिति का बोध होता है। गुणों के रूप में उसकी व्याख्या तो बाद की उपलब्धि है जिसे विचार अपने स्तर पर विकसित करता है। निम्न सम्बन्धात्मक बोध तो विचार से पूर्व की चेतना है अत: चेतना के इस स्तर पर मुक्त इकाइयों के रूप में गुणों के अस्तित्व का प्रश्न ही नहीं उठता। अन्य शब्दों में, इकाइयों के रूप में किसी भी प्रकार का स्पष्ट विभाजन इस स्तर पर प्रारम्भ ही नहीं हुआ है। यह विभाजन तो बाद की अवस्था में ही यानी सम्बन्धात्मक चेतना के स्तर पर ही सम्भव है। और चेतना के जिस स्तर पर ये एक दूसरे से पृथक् होते हैं उसी स्तर पर ये सम्बन्धित भी होते हैं।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि यदि आप निम्न सम्बन्धात्मक चेतना के स्तर पर जाते हैं, तो वहाँ पर न तो गुण ही हैं और न ही सम्बन्ध। परन्तु जैसे ही आप विचार या सम्बन्धात्मक चेतना के स्तर पर लौटते हैं, तुरन्त ही गुणों के पार्थक्य के साथ आप स्पष्टत: सम्बन्धों के आविर्भाव को भी अनिवार्यत: देखते हैं।[2] दोनों सापेक्ष इकाइयाँ हैं, निरपेक्ष नहीं।

---

1. Pre-relational consciousness or infra-relational consciousness.
2. "If you go back to mere unbroken feeling, you have no qualities. But if you come to what is distinct, you get relations at once." —Ibid., Page 22.

गुणों की मूल असम्बद्धता पर एक अन्य दृष्टिकोण: गुणों के 'पार्थक्य' का आवास कहां ?

गुणों के साथ-साथ सम्बन्धों की अनिवार्यता को ब्रैडले एक दूसरे रं
भी सिद्ध करते हैं। एक संभव विकल्प को प्रस्तुत करते हुये वे कहते हैं : य
कहा जा सकता है कि गुणों का जब हम प्रत्यक्ष करते हैं, तो वे अनिवार्यत
दृष्टा सापेक्ष हो जाते हैं पर जब वे प्रत्यक्षीकृत नहीं होते तो वे अपने मू
रूप में स्वतंत्र, पृथक् एवं निरपेक्ष हैं।

इस प्रश्न पर ब्रैडले के विचार स्पष्ट हैं। वे कहते हैं आप गुणों क
एक दूसरे से भिन्न मानते हैं और इस दृष्टि से परोक्षत: स्वयं उनकी सापेक्षत
का भी समर्थन करते हैं।

पुन: वे कहते हैं कि यदि दो गुण पृथक् और भिन्न हैं और इस नाते
असम्बद्ध भी हैं तो स्वाभाविक प्रश्न उठेगा कि इनके पार्थक्य का आवास कह
है ? इस संदर्भ में दो विकल्प हमारे सामने आते है ?

(क) पहले विकल्प के अनुसार पार्थक्य स्वयं उस इकाई में ही वर्तमा
है। पर इस विकल्प में कठिनाइयां हैं। यदि स्वयं इकाई 'अ' में इसके अस्तित्
को हम स्वीकार कर लें तो हम देखेंगे कि उसका प्रवेश 'अ' की आन्तरि
एकता को नष्ट कर देगा। अत: उसके कारण उस कल्पित इकाई में ह
आन्तरिक विभेद हो जाता है। वह उसे दो भागों में विभाजित कर देता है
एक भाग में तो 'अ' अन्य गुणों, यानी 'व' और 'स' से सम्बन्धित हैं औ
दूसरे भाग में वह स्वयं 'अ' रूप में अपना अस्तित्व बनाये हुये है। यानी उनसे
अपने पार्थक्य का समर्थन करता है। परिणाम स्वरूप मूलत: एक इकाई होते
हुए वह आन्तरिक दृष्टि से दो इकाइयों में परिवर्तित हो जाता है। प्रश्न है
कि इस विभेद की हम कैसे व्याख्या करें। यह विभानन उस मूल समस्या की
ओर हमें अनिवार्यत: ले जाता है जिससे कि इस अध्याय का प्रारंभ हुआ है
और अन्तत: हमें अनवस्था दोष की ओर ले जायेगा। यानी मूल समस्यायें
ज्यों की त्यों बनी रहेंगी।

(ख) दूसरा विकल्प यह हो सकता है कि हम इस भेद की उपस्थिति
को इन इकाइयों के बाहर मानें। उदाहरणार्थ 'भेद' का प्रतीक है और

इसका अस्तित्व 'अ' और 'ब' के बाहर है।
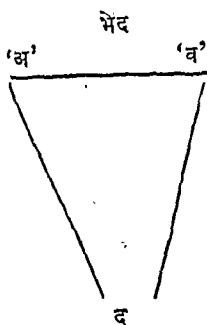
पर यदि भेद का अस्तित्व इकाइयों के बाहर है, तो यदि 'द' उन्हें पृथक् करता है तो साथ ही साथ उन्हें संयुक्त भी तो करता है। रेल के दो डिब्बों या दीवार को उदाहरण के रूप में यहां प्रस्तुत किया जा सकता है। दीवार यदि दो कमरों को पृथक् करती है तो उन्हें संयुक्त भी तो करती है।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि दोनों विकल्पों की अपनी कठिनाइयां हैं और इनके आधार पर हम भेद या असम्बद्धता का समर्थन नहीं कर सकते। निष्कर्षतः ब्रैडले कहते हैं कि 'गुणों' का अपने आप में संबंध-निरपेक्ष अस्तित्व नहीं है। संबंधों से पृथक् गुण पाये ही नहीं जाते।[2] असम्बद्ध गुणों की कल्पना निरर्थक है।[3] गुणों का अस्तित्व अवश्य है, पर साथ ही साथ उनके सम्बन्धों का भी।[4] दोनों सापेक्ष इकाइयां हैं, जिनकी कल्पना एक दूसरे की पूरक हैं।

द्वितीय खंड : अपने आप में संबंध का प्रत्यय भ्रामक :

द्वितीय खंड में ब्रैडले यह सिद्ध करते हैं कि अपने आप में 'संबंधों' का भी कोई गुण-निरपेक्ष अस्तित्व नहीं है। गुणों से पृथक् संबंधों की कल्पना भी नहीं की जा सकती।[5] अन्य शब्दों में सम्बन्ध स्वअस्तित्ववान इकाइयाँ नहीं

१. उदाहरण अपने हैं, प्रत्यय के स्पष्टीकरण के लिए दिये गये हैं।

2. "In fact the two are never found apart."—P. 24.

3. "Qualities taken without relations have no intelligible meaning."—P. 25.

4. "The qualities must be, and must also be related." —P. 26.

5. "A relation without quality is nothing."

है। ये गुणों की अपेक्षा करते हैं और यदि अपने आप में संबंधों के अस्तित्व को हम स्वीकार करते हैं तो यह प्रश्न स्वाभाविक है कि यह किन इकाइयों के बीच का सम्बन्ध है, और तब हमें गुणों के अस्तित्व को स्पष्टतः स्वीकार करना ही पड़ेगा। अतः हमारे सामने यह प्रश्न आता है कि ये सम्बन्ध उन इकाइयों को जिन्हें वे सम्बन्धित करते हैं, प्रभावित करते हैं अथवा नहीं ? इस सिलसिले में दो संभव विकल्प हमारे सामने आते हैं—

(क) पहले विकल्प के अनुसार सम्बन्ध उन इकाइयों को प्रभावित नहीं करते जिन्हें वे सम्बन्धित करते हैं। परन्तु यहाँ पर प्रश्न उठता है कि यदि वे उन्हें किसी प्रकार भी प्रभावित नहीं करते तो फिर उन्हें सम्बन्धित कैसे करते हैं ? अन्य शब्दों में, किस विशेष अर्थ में, फिर वे उन इकाइयों के सम्बन्ध है ? सम्बन्धों से इकाइयों को प्रभावित होना ही चाहिए। यदि सम्बन्धों से इकाइयां अछूती हैं तो इसका सीधा अर्थ यह है कि वे वास्तव में उन्हें सम्बन्धित नहीं करते।

(क) पुनः यदि दूसरे विकल्प की संभावना को स्वीकार करते हुए हम यह कहें कि इकाइयां सम्बन्धों से प्रभावित होती हैं, तो ऐसा करने के लिए इन सम्बन्धों को किसी न किसी रूप में अपने निजी अस्तित्व को कायम रखना होगा। अन्य शब्दों में यदि इन इकाइयों को वह प्रभावित करता है तो उसे अपनी पृथक् सत्ता को बनाये रखना होगा। अब हमारे सामने यह समस्या आती हैं कि यदि वह गुणों को सम्बन्धित करने के लिए अपने पृथक् अस्तित्व को कायम रखता है तो वह तत्काल अपने को एक नवीन इकाई में रूपान्तरित कर लेता है। उदाहरणार्थ यदि 'अ' और 'ब' इकाइयों के बीच 'र' सम्बन्ध मानें तो सम्बन्ध 'र' भी 'अ' और 'ब' की तरह एक स्वतन्त्र इकाई में रूपान्तरित हो जायेगा और हमारे सामने यह प्रश्न आयेगा कि तब 'अ' और 'र' तथा 'ब' और 'र' में क्या सम्बन्ध है ? इस सम्बन्ध में स्पष्टीकरण के लिए फिर किन्हीं दो सम्बन्धों 'र' और 'र^{२}' की कल्पना करनी पड़ेगी और पुनः यह प्रश्न उठेगा कि 'अ' और 'र' का 'र^{२}' तथा 'ब' और 'र' का 'र^{१}' से क्या सम्बन्ध है ? यह समस्या सुलझने के बजाय और उलझती चली जाती है। और स्वभावतः इस विकल्प में भी अनावस्था दोष आ जाता है।

इस प्रकार ब्रैडले सम्बन्धों की ओर से युक्ति देते हुए सम्बन्धों के गुण-निरपेक्ष रूप का खंडन करते हैं। वे कहते हैं कि न ही इस रूप में सम्बन्धों को और न ही गुणों को स्वीकार किया जा सकता है। वस्तुतः गुण और सम्बन्ध

सापेक्ष हैं अतएव एक दूसरे के पूरक हैं।[1] सम्बन्ध अपने में गुणों को अनिवार्यतः स्वीकार कर लेता है और गुण सम्बन्ध को।[1] दोनों एक महत्वपूर्ण अर्थ में एक दूसरे को अर्थ प्रदान करते हैं। निष्कर्षतः गुणों की अनुपस्थिति में संबंधों की और संबंधों की अनुपस्थिति में गुणों की कल्पना सार्थक कल्पना नहीं।

एक अन्य विकल्प पर विचार :

पुनः ब्रैडले कहते हैं कि यदि हम गुणों और सम्बन्धों को साथ-साथ लें तो भी संगति की दृष्टि से स्थिति में कोई सुधार नहीं आयेगा। स्पष्टीकरण के लिए युक्ति देते हुए वे कहते हैं कि सम्बन्धों के होने के लिए गुणों का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व होना ही चाहिये परन्तु यदि हम उनके स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार कर लेते हैं तो प्रत्येक इकाई में हमें अनिवार्यतः एक आंतरिक विभाजन को स्वीकार करना पड़ेगा। गुण 'अ' तब दो पक्षों में विभक्त हो जायेगा। एक पक्ष में वह अपने स्वातन्त्र्य को बनाये रखेगा और दूसरे पक्ष में वह अन्य इकाइयों से संबंधित होगा। अन्य शब्दों में अपने एक पक्ष में 'अ' 'ब' से पृथक् होगा और दूसरे पक्ष में वह उससे सम्बन्धित भी होगा। ऐसी स्थिति में प्रश्न उठता है कि तब किस प्रकार ये दोनों पक्ष एक ही इकाई में समन्वित है ? इस समस्या का समाधान' वे कहते है प्रज्ञा के स्तर पर असंभव है।

इस प्रकार ब्रैडले 'अपने आप में गुण', 'अपने आप में संबंध' तथा 'सम्बन्ध एवं गुण' का परीक्षण प्रस्तुत करते हैं और उन्हें असंगतिपूर्ण घोषित करते हैं। निष्कर्षतः वे कहते हैं 'जिस निर्णय पर मैं पहुंचा हूं वह यह है कि सम्बन्धमूलक विचार शैली—जो व्यंजकों तथा उनके पारस्परिक संबंध को लेकर चलती है, केवल आभास ही उपस्थित करती है, सत् नहीं।[2]

ब्रैडले के इसी निष्कर्ष को मेट्ज अपनी पुस्तक 'ए इंड्रेड इयर्स आफ

---

1. Relations must depend upon terms just as much as terms upon relations." —Ibid., 26.
2. "Relation presupposes quality and quality relations": —p. 21.
3. "The conclusion to which I am brought is that a relational way of thought—any one that moves by the machinary of terms and relations—must give appearance and not truth...... but in the end most indespensible."

है। ये गुणों की अपेक्षा करते हैं और यदि अपने आप में संबंधों के अस्तित्व को हम स्वीकार करते हैं तो यह प्रश्न स्वाभाविक है कि यह किन इकाइयों के बीच का सम्बन्ध है, और तब हमें गुणों के अस्तित्व को स्पष्टतः स्वीकार करना ही पड़ेगा। अतः हमारे सामने यह प्रश्न आता है कि ये सम्बन्ध उन इकाइयों को जिन्हें वे सम्बन्धित करते हैं, प्रभावित करते हैं अथवा नहीं ? इस सिलसिले में दो संभव विकल्प हमारे सामने आते हैं—

(क) पहले विकल्प के अनुसार सम्बन्ध उन इकाइयों को प्रभावित नहीं करते जिन्हें वे सम्बन्धित करते हैं। परन्तु यहाँ पर प्रश्न उठता है कि यदि वे उन्हें किसी प्रकार भी प्रभावित नहीं करते तो फिर उन्हें सम्बन्धित कैसे करते हैं ? अन्य शब्दों में, किस विशेष अर्थ में, फिर वे उन इकाइयों के सम्बन्ध हैं ? सम्बन्धों से इकाइयों को प्रभावित होना ही चाहिए। यदि सम्बन्धों से इकाइयां अछूती हैं तो इसका सीधा अर्थ यह है कि वे वास्तव में उन्हें सम्बन्धित नहीं करते।

(क) पुनः यदि दूसरे विकल्प की संभावना को स्वीकार करते हुए हम यह कहें कि इकाइयां सम्बन्धों से प्रभावित होती हैं, तो ऐसा करने के लिए इन सम्बन्धों को किसी न किसी रूप में अपने निजी अस्तित्व को कायम रखना होगा। अन्य शब्दों में यदि इन इकाइयों को वह प्रभावित करता है तो उसे अपनी पृथक् सत्ता को बनाये रखना होगा। अब हमारे सामने यह समस्या आती है कि यदि वह गुणों को सम्बन्धित करने के लिए अपने पृथक् अस्तित्व को कायम रखता है तो वह तत्काल अपने को एक नवीन इकाई में रूपान्तरित कर लेता है। उदाहरणार्थ यदि 'अ' और 'ब' इकाइयों के बीच 'र' सम्बन्ध मानें तो सम्बन्ध 'र' भी 'अ' और 'ब' की तरह एक स्वतन्त्र इकाई में रूपान्तरित हो जायेगा और हमारे सामने यह प्रश्न आयेगा कि तब 'अ' और 'र' तथा 'ब' और 'र' में क्या सम्बन्ध है ? इस सम्बन्ध में स्पष्टीकरण के लिए फिर किन्हीं दो सम्बन्धों 'र' और 'र२' की कल्पना करनी पड़ेगी और पुनः यह प्रश्न उठेगा कि 'अ' और 'र' का 'र२' तथा 'ब' और 'र' का 'र१' से क्या सम्बन्ध है ? यह समस्या सुलझने के बजाय और उलझती चली जाती है। और स्वभावतः इस विकल्प में भी अनावस्था दोष आ जाता है।

इस प्रकार ब्रैडले सम्बन्धों की ओर से युक्ति देते हुए सम्बन्धों के गुण-निरपेक्ष रूप का खंडन करते हैं। वे कहते हैं कि न ही इस रूप में सम्बन्धों को और न ही गुणों को स्वीकार किया जा सकता है। वस्तुतः गुण और सम्बन्ध

सापेक्ष हैं अतएव एक दूसरे के पूरक हैं।[1] सम्बन्ध अपने में गुणों को अनिवार्यतः स्वीकार कर लेता है और गुण सम्बन्ध को।[1] दोनों एक महत्वपूर्ण अर्थ में एक दूसरे को अर्थ प्रदान करते हैं। निष्कर्षतः गुणों की अनुपस्थिति में संबंधों की और संबंधों की अनुपस्थिति में गुणों की कल्पना सार्थक कल्पना नहीं।

एक अन्य विकल्प पर विचार :

पुनः ब्रैडले कहते हैं कि यदि हम गुणों और सम्बन्धों को साथ-साथ लें तो भी संगति की दृष्टि से स्थिति में कोई सुधार नहीं आयेगा। स्पष्टीकरण के लिए युक्ति देते हुए वे कहते हैं कि सम्बन्धों के होने के लिए गुणों का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व होना ही चाहिये परन्तु यदि हम उनके स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार कर लेते हैं तो प्रत्येक इकाई में हमें अनिवार्यतः एक आंतरिक विभाजन को स्वीकार करना पड़ेगा। गुण 'अ' तब दो पक्षों में विभक्त हो जायेगा। एक पक्ष में वह अपने स्वातन्त्र्य को बनाये रखेगा और दूसरे पक्ष में वह अन्य इकाइयों से संबंधित होगा। अन्य शब्दों में अपने एक पक्ष में 'अ' 'ब' से पृथक् होगा और दूसरे पक्ष में वह उससे सम्बन्धित भी होगा। ऐसी स्थिति में प्रश्न उठता है कि तब किस प्रकार ये दोनों पक्ष एक ही इकाई में समन्वित है ? इस समस्या का समाधान' वे कहते है प्रज्ञा के स्तर पर असंभव है।

इस प्रकार ब्रैडले 'अपने आप में गुण', 'अपने आप में संबंध' तथा 'सम्बन्ध एवं गुण' का परीक्षण प्रस्तुत करते हैं और उन्हें असंगतिपूर्ण घोषित करते हैं। निष्कर्षतः वे कहते हैं 'जिस निर्णय पर मैं पहुंचा हूं वह यह है कि सम्बन्धमूलक विचार शैली—जो व्यंजकों तथा उनके पारस्परिक संबंध को लेकर चलती है, केवल आभास ही उपस्थित करती है, सत् नहीं।[2]

ब्रैडले के इसी निष्कर्ष को मेट्ज अपनी पुस्तक 'ए इंड्रेड इयर्स आफ

1. Relations must depend upon terms just as much as terms upon relations."
—*Ibid*., 26.
2. "Relation presupposes quality and quality relations":
—p. 21.
3. "The conclusion to which I am brought is that a relational way of thought—any one that moves by the machinary of terms and relations—must give appearance and not truth...... but in the end most indespensible."

ब्रिटिश फिलासफी' में प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि 'विचार की सम्बन्धात्मक पद्धति व्याघातपूर्ण है और इसीलिए उसकी पहुंच आभास तक ही है।[1]

1. "Relational and discursive thinking necessarily involves itself in contradictions and therefore refers only to the world of appearance."—P. 337.

४. कारणता

कारणता बुद्धि की एक महत्वपूर्ण कोटि है । सामान्य जीवन और विज्ञान में तो इस कोटि को आधारभूत मानकर निष्कर्षों को निष्कर्षित किया ही जाता हैं, दर्शन में भी इसके आधार पर निष्कर्षों को प्राप्त किया जाता है । उदाहरणार्थ ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है । परन्तु जब हम तत्वमीमांसीय दृष्टि से इसके स्वरूप को समझना चाहते हैं, तो हमें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है ।

कारणता की कोटि वस्तुत: परिवर्तन के तथ्य के स्पष्टीकरण के लिए स्वीकार की जाती हैं । हम देखते हैं कि इकाई 'अ' कालान्तर में दूसरा रूप ग्रहण कर लेती है, अर्थात् इकाई 'अ' 'ब' में परिवर्तित हो जाती है । हम इस परिवर्तित इकाई 'ब' का कारण 'अ' को मान लेते हैं । इस प्रकार परिवर्तन के तथ्य के स्पष्टीकरण के लिए ही हम 'कारणता' को स्वीकार करते हैं ।

ब्रैडले द्वारा प्रस्तुत इस अध्याय में दो निष्कर्षों को स्थापित करने की चेष्टा की गई है । प्रथम में तो कार्य-कारण संबंध की मूल असंगतियों को अनावृत किया गया है और दूसरे में काल की सातत्यता से उत्पन्न होने वाली कठिनाइयों की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है ।

ब्रैडले कार्य-कारण संबंध का तार्किक परीक्षण करते हुए उससे संबंधित अनेक कठिनाइयों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं ।

कारण एवं कार्य भिन्न हैं अथवा एक ही ?

सर्वप्रथम ब्रैडले, यह प्रश्न करते हैं कि क्या ये इकाइयां (कार्य और कारण) वस्तुत: एक ही हैं अथवा ये एक दूसरे से भिन्न हैं ? प्रत्युत्तर में वे कहते हैं कि ये दोनों इकाइयां—'अ' (करण) और 'ब' (कार्य); एक नहीं हो सकतीं क्योंकि यदि ये एक होतीं तो हम इन्हें भिन्न-भिन्न नामों से व्यक्त न करके एक ही नाम से व्यक्त करते । अन्य शब्दो में यदि ये एक ही होतीं तो इनके लिए हम 'कारण' और 'कार्य' जैसे दो शब्दों का प्रयोग न करते । 'ब'

का कारण 'अ' है—इस कथन का तात्पर्य यह है कि कारण 'अ' कार्य 'ब' में परिवर्तित हो गया है और यह परिवर्तन दोनों की स्थितियों की भिन्नता का द्योतक है। और यदि ये भिन्न नहीं हैं तो फिर 'कारणता' का कोई अर्थ भी नहीं है। इस प्रश्न पर ब्रैडले अपने विचार यूं प्रस्तुत करते हैं: "यदि ये भिन्न नहीं हैं, तो कारण-कार्य सम्बन्ध का कोई अस्तित्व ही नहीं है और इसकी स्वीकृति एक तमाशा मात्र है।"[1]

पर यदि कारण और कार्य को हम भिन्न मानते हैं तो फिर हमारे सामने यह प्रश्न उठता है कि कोई भी इकाई क्यों अपने से भिन्न किसी दूसरी इकाई में परिवर्तित हो जाती है? तथ्यों के आधार पर हम सिर्फ इतना ही कह सकते हैं कि परिवर्तन होता है, पर यह परिवर्तन क्यों होता है, इसका कोई संतोषप्रद उत्तर ढूंढ़ना हमारे लिए संभव नहीं है।[2]

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि यदि परिवर्तन के तथ्य को हम अस्वीकार करते हैं तो कारणता का प्रश्न ही नहीं उठता है और यदि हम उसे स्वीकार करते हैं तो परिवर्तन क्यों होता है इसे समझ नहीं पाते। इसे यूं भी कहा जा सकता है कि यदि कारण और कार्य वस्तुत: एक ही हैं तो 'कारणता' का प्रश्न ही नहीं उठता और यदि ये भिन्न हैं तो इस भिन्नता का बौद्धिक स्तर पर स्पष्टीकरण हमारे लिए संभव नहीं है।

स्पष्टीकरण के प्रयास में दो संभव विकल्पों की चर्चा :

परिवर्तन विषयक उपर्युक्त निष्कर्ष को प्रस्तुत करने के पश्चात् ब्रैडले *उस तथ्य के स्पष्टीकरण की कोशिश भी करते हैं और इस आशय से दो विकल्प* प्रस्तुत करते हैं। प्रथम के अनुसार परिवर्तन का आधार स्वयं 'अ' है और दूसरे के अनुसार 'अ' से पृथक् कोई दूसरी इकाई है जो 'अ' से संयुक्त होकर 'ब' के आविर्भाव को संभव बनाती है।

---

1. "If it is not diffeient, then causation does not exist and its assertion is a force." —Ibid., p. 46.
2. "There must' in other words, be a reason for the change but the endeavour to find a satisfactory reason is fruitless." —Ibid., Page. 46.

यहां पर 'कारण' शब्द 'हेतु' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

कारण स्वयं कार्य के आविर्भाव के मूल में है :

पहले विकल्प को प्रस्तुत करते हुए हम यह कह सकते हैं कि 'अ' स्वयं परिवर्तन को ले आने में सक्षम है। परन्तु इस विकल्प को स्वीकार कर लेने पर भी समस्या ज्यों की त्यों बनी रहती है। क्योंकि हम यह नहीं समझ पाते कि क्यों कोई भी एक इकाई अपने भिन्न इकाई में अन्ततः परिवर्तित हो जाती है। अन्य शब्दों में इस विकल्प के अन्तर्गत परिवर्तन की तथ्यता को केवल स्वीकार किया गया है—परिवर्तन को नियंत्रित करने वाले कारण को प्रस्तुत करने की कोई भी कोशिश नहीं की गयी है।

'कारण' किसी अन्य इकाई से युक्त होकर ही कार्य में परिवर्तित होता है :

पर दूसरे विकल्प को प्रस्तुत करते हुए यह कहा जा सकता है कि यद्यपि 'अ' 'ब' में परिवर्तित होने की सामर्थ्य नहीं रखता परन्तु जब वह किसी दूसरी इकाई, उदाहरणार्थ 'स' से संयुक्त होता है, तो वह 'ब' में परिवर्तित हो जाता है। इसी को प्रस्तुत करते हुए हम यूं कह सकते हैं कि 'अ'+'स' ही वस्तुतः 'ब' का संयुक्त कारण है।

परन्तु ब्रैडले कहते हैं कि इस विकल्प को स्वीकार कर लेने से स्थिति में कोई सुधार होने की आशा नहीं दिखाई देती बल्कि कठिनाइयां बढ़ जाती हैं।

दो भिन्न इकाइयां किस प्रकार संबंधित हो सकती हैं ?

संयुक्त कारण के प्रश्न पर विचार व्यक्त करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि यदि 'अ' और 'स' वे दो इकाइयां है जो संयुक्त रूप से 'ब' का कारण है, तो फिर प्रश्न उठता है कि ये दोनों किस प्रकार सम्बद्ध हैं ? एक पूर्व अध्याय (सम्बन्ध और गुण) में यह स्पष्ट हो चुका है कि दो नितांत पृथक् इकाइयों के बीच सम्बन्ध की युक्तियुक्तता को हम बुद्धि के स्तर पर स्पष्ट नहीं कर सकते। अतः 'अ' और 'स' के सम्बन्ध की समस्या का भी कोई समाधान हमारे लिए संभव नहीं है।

संयुक्त कारण की कल्पना से संबद्ध दो विकल्प :

पुन: ब्रैडले कहते हैं यदि हम 'अ' और 'स' को 'ब' के आविर्भाव के संयुक्त कारण के रूप में मान भी लें और यह भी मान लें कि 'अ' और 'स' के सम्बन्ध की समस्या का भी हल संभव है, तो भी इस संयुक्त कारण की कल्पना में कठिनाइयां बनी रहेंगी। इनकी ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए वे कहते हैं कि संयुक्त कारण की इस कल्पना के अन्तर्गत दो विकल्प संभव हैं। पहला विकल्प तो यह कि 'स' 'अ' को 'ब' का समुचित कारण बनाने के लिए सचमुच में प्रभावित करना है और दूसरा यह हैं कि 'स' 'अ' को वास्तव में प्रभावित नहीं करता बल्कि दोनों का सह-अस्तित्व ही 'ब' के आविर्भाव के लिए पर्याप्त हो जाता है।

प्रथम विकल्प को स्पष्ट करते हुए यह कहा जा सकता हैं कि 'स' जब 'अ' से संयुक्त होता है, तो उसे वास्तव में प्रभावित करता है और इसके फलस्वरूप 'अ' 'अ' में परिवर्तित होकर 'ब' को उत्पन्न करता है। परन्तु इस प्रकार के प्रभाव की संभावना को स्वीकार करके हम ठीक वहीं पहुंच जाते हैं जहाँ से हमने इस चर्चा का आरम्भ किया था। अन्य शब्दों में इस स्वीकृति के साथ कि 'स' यथार्थ में 'अ' को प्रभावित करता है, कारणता की समस्या अपने मूल रूप में पुन: हमारे समक्ष उपस्थित हो जाती है। क्योंकि कारणता की मूल समस्या तो यही थी कि क्या सचमुच में कोई भी इकाई अपने आप अपने से भिन्न किसी इकाई में परिवर्तित हो सकती है? यही नहीं, ब्रैडले कहते हैं कि 'अ' वास्तव में 'स' की मध्यस्थता से 'अ' में परिवर्तित हो सके। इसके लिए हमें 'अ' वास्तव में 'स' के बीच किसी और इकाई उदाहरणार्थ 'द' की मध्यस्थता को स्वीकार करना पड़ेगा और इस प्रकार अनिवार्यत: हमारे चिंतन में अनावस्था दोष आ जायेगा। इसी तथ्य को ब्रैडले अपने शब्दों में इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं "यदि एक कारण कारण होने के लिए अन्य कारण की अपेक्षा करता है तो यह क्रम अशेष रूप से चलता रहता है"।[1] अत: हम इस बात को स्वीकार नहीं कर सकते कि 'स' 'अ' को सचमुच प्रभावित करता हैं।

पुन: यदि द्वितीय विकल्प के अनुसार हम यह मानें कि 'स' 'अ' को

---

1. If the cause is to be the cause, there is some reason for its being thus and so on indefinitely. —Ibid., p. 47.

प्रभावित नहीं करता वरन् 'स' और 'अ' का सह-अस्तित्व ही 'व' के आविर्भाव का कारण है तो इस स्वीकृति से सम्बन्धित भी इकाइयां हैं। प्रश्न स्वाभाविक है कि तब 'अ' और 'स' के सह-अस्तित्व का क्या कारण। 'अ' और 'स' क्यों एक दूसरे के संसर्ग में आते हैं? और यह संसर्ग क्यों 'व' के आविर्भाव का कारण बन जाता है? इन प्रश्नों का कोई उचित उत्तर हमें मिलता दिखाई नहीं देता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'व' के आविर्भाव के लिये किसी वाह्य इकाई 'स' की कल्पना कठिनाइयां ही उत्पन्न करती हैं और इससे हमें कोई तार्किक तथा संतोषजनक हल भी प्राप्त नहीं होता।

इसी विकल्प से सम्बन्धित विचार प्रस्तुत करते हुये ब्रैडले कहते हैं इस 'संयोजन' के बारे में हम दो संभावनाओं की कल्पना कर सकते है। पहली के अनुसार हम यह कह सकते हैं कि यह हमारे सोचने का ही एक तरीका है और तथ्यों से उसका कोई भी सम्बन्ध नहीं है या फिर हम यह भी कह सकते हैं कि यह एक ऐसा कामचलाऊ तरीका है, जिसका प्रयोग व्यावहारिक कारणों से ही किया जाता है।[1] और दूसरी संभावना के अनुसार हम यह कह सकते हैं कि यह हमारे लिये सोचने के उस तरीके को प्रस्तुत करता है, जो तथ्यों की रचना से सम्बन्धित है। यदि ऐसा है, तो हमें उसके औचित्य को भी प्रस्तुत करना चाहिए। पर इस औचित्य को प्रस्तुत करते हुए हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि वह संगतिपूर्ण है। पर क्योंकि हम इसे अस्वीकार ही इसलिए करते है कि वह संगतिपूर्ण नहीं है इसलिए स्पष्ट है कि वह हमारे सोचने का तरीका नहीं है।

पुनः ब्रैडले कहते हैं कि यदि कार्य की ओर से इसी प्रश्न पर विचार किया जाय तो स्पष्ट है कठिनाइयां आयेंगी ही। अतएव निष्कर्ष स्पष्ट है कि इतनी विसंगतियों से युक्त विकल्प किस प्रकार बुद्धि को संतोष प्रदान करेगा? अतएव यह आभास ही हो सकता है सत् नहीं।[2]

एक अन्य विकल्प पर विचार :

ब्रैडले कहते है कि उपर्युक्त निष्कर्ष पर विचार करते हुए हम यह कह सकते हैं कि संभवतः सारी कठिनाइयां इस कारण हैं कि हम किसी भी

1. Ibid., P. 47.
2. "A makeshift and merely appearance." —Ibid., P. 48.

कार्य विशेष के लिए किसी एक ही 'कारण' को स्वीकार करते हैं। फलस्वरूप जो कारण प्रस्तुत किया जाता है, वह कार्य को उत्पन्न करने में सक्षम नहीं होता और अपने में तथाकथित सामर्थ्य उत्पन्न करने के लिए उसे किसी अन्य की अपेक्षा करनी पड़ती है। अन्य शब्दों में हम यह देख चुके हैं कि 'ब' से आविर्भाव के लिये केवल 'अ' पर्याप्त नहीं है और यदि 'अ'+'स' को कारण मान लिया जाय तो फिर कारण के स्पष्टीकरण के लिए 'द' की स्वीकृति अनिवार्य हो जाती है और इस प्रकार हमारे चिंतन में अनिवार्यतः अनावस्था दोष आ जाता है।

पर ब्रैडले कहते हैं इससे यह निष्कर्ष भी निकल सकता है कि किसी भी घटना को कार्य रूप में समझने के लिए हमें पूर्ववर्ती घटनाओं को पृथक् पृथक् नहीं अपितु उन्हें उनके समन्वित रूप में ही लेना चाहिए। अतएव पूर्ववर्ती घटनाओं की सम्पूर्ण श्रृंखला को यदि हम कारण मान लें तो शायद ये कठिनाइयां दूर हो जायँ और समस्या का निवारण हो जाय। अन्य शब्दों में, यदि हम 'अ' को उसके सम्पूर्ण संदर्भ में स्वीकार कर लें भले ही, यह व्यावहारिक दृष्टि से अनावश्यक हो।[1] तो संभव हैं कि कारण रूप में 'ब' के साथ उसकी सहज सम्बद्धता सिद्ध हो सके।[2]

परन्तु ब्रैडले कहते हैं कि इस विकल्प के अन्तर्गत जिस समग्र कारण को स्वीकार कर किया गया है उसको व्यावहारिक स्तर पर प्राप्त करना बड़ा कठिन है क्योंकि किसी भी संभव विन्दु पर तथाकथित संपूर्णता को ग्रहण करना असंभव हैं। प्रत्येक इस प्रकार की संपूर्ण इकाई, जो पूर्ववर्ती घटनाओं को उनकी समग्रता में प्रस्तुत करती है, स्वयं एक अपर्याप्त इकाई ही है और अपनी अपर्याप्तता को दूर करने के लिए अन्य किसी पूर्ववर्ती कड़ी की अपेक्षा

---

1. "The entire background has to be taken in, although it may be irrelevant practically"
२. इसी संदर्भ में एकाकी कारण एवं स्वरूप को प्रस्तुत करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि ये अपनी जगह समुचित अपकर्षण है।

   "Legitimate abstractions and they contain enough truth to be partically admissible. But it will be added that, if we require truth in any strict sense, we must contain ourselves to one entire state of the world. This whole will be the cause and the next entire state will be the effect."

   —Ibid., p, 46.

करती है।[1] अन्य शब्दों में, इस प्रकार की कल्पित सभी इकाइयां—उन्हें कितना भी व्यापक हम क्यों न कर लें, सीमित और अपर्याप्त ही रहेंगी और इनके आधार पर कार्य का स्पष्टीकरण किसी प्रकार संभव नहीं होगा।

और यदि हम यह मान लें कि समग्र कारण को प्राप्त करना हमारे लिए संभव है तो भी कारण कारण है और कार्य कार्य है। कारण और कार्य दो भिन्न इकाइयां हैं जैसा कि पूर्व पृष्ठों में स्पष्ट किया जा चुका है उनकी अन्तर्सम्बद्धता को प्रज्ञा के स्तर पर स्पष्ट करना हमारे लिए संभव नहीं होगा।[2]

काल की सातत्यता से सम्बन्धित विचार :

अन्त में एक और तरह से ब्रैडले इस समस्या पर विचार करते हैं। वे कहते हैं कि किसी भी इकाई के दूसरी इकाई में परिवर्तित होने के लिए यह आवश्यक है कि परिवर्तन की निरन्तरता यानी उसकी सातत्यता बनी रहे।[3] यदि कारण 'अ' में कार्य 'ब' में परिवर्तित हो रहा हैं तो यह परिवर्तन लगातार होना चाहिए। ऐसा नहीं हो सकता कि कोई वस्तु कुछ काल तक अपरिवर्तित बनी रहे और फिर सहसा परिवर्तित होकर कार्य का रूप धारण कर ले। ब्रैडले का यहां पर परोक्ष रूप से स्वीकृत तर्क यह है कि यदि कोई वस्तु कुछ क्षण तक भी अपरिवर्तित रह सकी है, तो वह आगे भी अपवर्तित रह सकती है। अतएव कारण को कार्यरूप में परिवर्तित होने के लिए निरन्तर परिवर्तित होना चाहिए, पर ऐसा संभव नहीं है।

हम देखते हैं कि कारण बिंदु के रूप में 'अ' और कार्य बिंदु रूप में 'ब' के बीच अनगिनत बिन्दु है। 'अ' को 'ब' तक पहुंचने के लिए 'य' 'र'

---

1. For each such state has tendency to transcend itself. "backsuch wards in regress without limit." पुन: वे कहते हैं "The relations and qualities of which it is composed will refer themselves, even if you keep to the moment, for ever away from themselves into endless dissipation."
—Ibid., PP. 48-49.
2. "The sequence of a difference still remains entirely irrational."
—Ibid:, Page 47.
3. Change must be continuous.

'ल' 'क' 'ख' 'ग' आदि अनन्त बिंदुओं से गुजरना पड़ेगा। परन्तु ये बिन्दु तो गति के ठहराव का द्योतक करते हैं और इन स्थिर बिंदुओं के माध्यम से गति का स्पष्टीकरण कैसे संभव है? प्रश्न उठता है कि जो गतिहीन है वे सहसा गतिशील कैसे हो सकते है? अन्य शब्दों में जैसा कि पूर्व पृष्ठों में स्पष्ट हो चुका है, ये गतिहीन बिंदु क्यों और कैसे अपने स्वरूप का परित्याग करके गतिशील हो जाते हैं ये हमारी समझ में नहीं आता और फिर प्रश्न उठता है कि ये मध्यस्थ बिंदु यदि एक क्षण के लिए भी गतिहीन रह सकते हैं तो वे सदा के लिए गतिहीन क्यों नही रह सकते?

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि उपर्युक्त कठिनाइयों के कारण बुद्धि परिवर्तन यानी कारणता की समस्या का समाधान नहीं कर पाती। बुद्धि के पास इसका कोई संतोषजनक उत्तर नहीं है कि क्यों एक इकाई अपने से भिन्न रूप में परिवर्तित हो जाती है, और जो बुद्धि को संतोष न प्रदान कर सके वह ब्रैडले की शब्दावली में 'आभास' हो सकता है। अतएव कारण-कार्य का सम्बन्ध आभास मात्र है, सत् नहीं।[1]

निष्कर्षतः वे कहते हैं कि कारणता को हम जिस रूप में प्रस्तुत करते हैं, वह भले ही व्यावहारिक दृष्टि से महत्वपूर्ण एवं उपयुक्त हो परन्तु तत्व मीमांसीय दृष्टि से अनुपयुक्त ही है।

1. "We have merely a fresh instance of compromise without principle, another case of pure makeshift."

—Ibid., P. 46.

५ आत्मा

दर्शन में आत्मा का प्रत्यय सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। प्रायः लोग सत् रूप में आत्मा को सत् मानते हैं। उनके अनुसार अपना अस्तित्व संदेहातीत है। अतः आत्मा आभास न होकर परम सत् है। किन्तु ब्रैडले आत्मा के विषय में इस सामान्य धारणा का निराकरण करते हैं। वे प्रश्न करते हैं—क्या आत्मा सचमुच में सत् है? या वह अन्य वस्तुओं की भांति केवल आभास ही है।[१]

ब्रैडले 'आत्मा' के प्रत्यय का विस्तृत परीक्षण प्रस्तुत करने के उपरांत कहते हैं कि एक अर्थ में आत्मा निश्चित रूप से अस्तित्व रखती है, परन्तु जिसमें इतना अन्तर विरोध हो उसे किस प्रकार सत् कहा जा सकता है। अतएव मैं तो दूसरे निष्कर्ष को मानने को विवश हूं।[२]

ब्रैडले कहते हैं कि 'प्रत्येक वस्तु जो असंगतिपूर्ण हो और बुद्धि को अन्तिम रूप से संतोष प्रदान करने वाली न हो आभास ही है।[३] इसी अर्थ में 'आत्मा' भी आभास है। क्योंकि उसे हम किसी भी अर्थ में क्यों न प्रस्तुत करें। हम देखेंगे कि वह अन्तिम रूप से संतोष प्रदान करने वाली नहीं है। और इसीलिए हमारा निष्कर्ष भी यही होना चाहिए कि क्योंकि वह आंतरिक विरोध से युक्त है, इसलिए वह सत् नहीं है।[४]

---

1. "Is the self real, is it anything which we can predicate of reality ? or is it, on the other hand, like all the preceeding. a mere appearance ?"

—Appearance and Reality, —P. 64.

2. "I have been forced to embrace the letter conclusion."

—Ibid P. 64.

3. "Anything the meaning of which is—inconsistent and unintelligible is appearance and not reality." —Ibid P. 65.

4. "Our conclusion must be that since as such, it contradicts itself, this fact must as such be unreal."

—Ibid., P. 90.

आत्मा विषयक विभिन्न विकल्पों की प्रस्तुति :
देह के रूप में आत्मा :

इस आशय से आत्मा के विषय में जितने भी संभव विकल्प हो सकते हैं उन्हें प्रस्तुत करते हुए ब्रैडले उनसे संवद्ध कठिनाइयों को भी प्रस्तुत करते हैं।

पहला विकल्प प्रस्तुत करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि यदि हम आत्मा को शरीर से एकीकृत कर दें तो क्या आत्मा को सत् कह सकेंगे ? क्या ऐसा करना बुद्धि के लिए संतोषप्रद होगा ? उत्तर स्पष्ट है कि शरीर के साथ आत्मा को एकीकृत नहीं किया जा सकता, क्योंकि हम सभी आत्मा और अनात्मा में भेद करते हैं और आत्मा को वस्तुओं यानी अनात्मा से पृथक् करते हैं। अन्य शब्दों में 'मैं' और 'मेरा जगत' के सामान्य भेद को हम स्वीकार करते हैं। जगत की अन्य वस्तुओं की भांति शरीर भी एक वस्तु है अतः उसे हम आत्मा से एकीकृत नहीं कर सकते। फलतः ब्रैडले कहते हैं : हमारे वर्तमान उद्देश्य की दृष्टि से इस प्रकार के अर्थ का कोई मूल्य नहीं है।[1]

'अनुभूतियों' के रूप में आत्मा :

ब्रैडले के अनुसार आत्मा के विषय में दूसरा विकल्प यह हो सकता है कि हम उसे अनुभूतियों से एकीकृत कर दें यानी यह मान लें कि आत्मा शरीर तो नहीं है, पर व्यक्ति का मानसिक व्यक्तित्व अवश्य है और 'अनुभूतियों' के रूप में भी कई विकल्प संभव हैं पर हम वर्तमान प्रयोजन की दृष्टि से आत्मा को वर्तमान अनुभूतियों से एकीकृत कर सकते हैं।

परन्तु ब्रैडले कहते हैं यदि हम इन वर्तमान अनुभूतियों के स्वरूप को समझने का प्रयास करें तो देखेंगे कि ये 'अनुभूतियां' विषम जगत यानी, अनात्मा से संबंधित हैं और यही नहीं कि ये 'अनुभूतियां' अनात्मा से आन्तरिक रूप से सम्वद्ध हैं वल्कि वे काफी गहराई से उनसे रंजित भी होती हैं। अतएव यदि हम वाह्य परिवेश को वदल दें तो निश्चित है कि इन अनुभूतियों का स्वरूप भी वदल जायेगा। फलस्वरूप 'आत्मा' और 'अनात्मा' की सीमाओं को निश्चित करना हमारे लिए संभव नहीं है। अन्य शब्दों में हम यह

---

1. "For our present purpose, such a sense is obviously not promising."
—Ibid., P. 66.

नहीं कह सकते हैं कि उसकी विभाजन रेखा क्या है ? और किस तत्व को हम आत्मा कहें और किसे अनात्मा ?

अतः ब्रैडले हैं कहते हैं कि उपर्युक्त विचार के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि वर्तमान अनुभूतियों से हम आत्मा को एकीकृत नहीं कर सकते क्योंकि ये अनुभूतियां अनात्मा से अन्तरंग रूप से सम्बन्धित हैं और उससे रंजित भी हैं।

औसत व्यक्तित्व के रूप में आत्मा :

पुनः ब्रैडले कहते हैं कि आत्मा के सम्बन्ध में एक अन्य विकल्प यह हो सकता है कि हम उसे अपने व्यक्तित्व से एकीकृत कर दें।[1] पर इस औसत व्यक्तित्व के लिये भी वही सब बात सच है जिसकी ऊपर चर्चा हो चुकी है। इसमें भी 'अनात्म' तत्व सम्मिलित है और इस तत्व के साथ हम आत्मा को एकीकृत नहीं कर सकते। पर इस तत्व को आत्मा से पृथक् भी नहीं किया जा सकता क्योंकि कभी-कभी तो इतने अभिन्न रूप से यह उससे युक्त हो जाता है कि उसके अलग करने पर उसका व्यक्तित्व ही खंडित हो जाता है। उदाहरणार्थ बच्चे, पत्नी, परिवार के सदस्य—इनसे अभिन्न होते हुए भी भिन्न आत्मा की कल्पना निश्चित् ही असंभव है। इस विकल्प में अतिरिक्त कठिनाई यह है कि इस औसत व्यक्तित्व का पता हमें कैसे चले। क्योंकि औसत वही निकाला जा सकता है जहाँ स्थिर इकाइयां हो, जैसी कि गणितीय इकाइयां[2] होती हैं। पर अनुभूतियां तो तरल एवं परिवर्तनीय होती है अतः प्रश्न है कि इनकी औसत को कैसे जाना जाय ?

इसी सम्बन्ध में अपने विचार प्रस्तुत करते हुये ब्रैडले कहते हैं कि जिसे हम एक सामान्यतः व्यक्तित्व कहते हैं, वह अनेक बार जीवन के उतार, चढ़ाव को सहन न करने के कारण खंडित हो जाता है और कई बार तो उसमें इतना अधिक परिवर्तन हो जाता है कि हमारे लिये यह कहना कि यह वही परिचित व्यक्तित्व है, कठिन हो जाता है। अन्य शब्दों में व्यक्तित्व की सातत्यता नष्ट हो जाती हैं। अतएव यदि हम औसत की बात करें तो प्रश्न होगा किसका औसत खंडित होने या आमूल परिवर्तित होने की पूर्व की व्यक्तित्व का औसत

1. "Constant average mass is the meaning of self"
—Ibid., p. 66.

2. Mathematical units.

अथवा नवीन व्यक्तित्व का औसत ? निश्चित् है हमें एक से अधिक औसत को प्राप्त करना पड़ेगा। अत: आत्मा के सम्बन्ध में औसत व्यक्तित्व की कल्पना ही भ्रामक है।[1]

सार के रूप में आत्मा :

पुन: ब्रैडले कहते हैं कि हम सम्भवत: आत्मा का 'सार' से एकीकृत कर सकते हैं। यह 'सार' हमारी विशिष्टताओं को व्यंजित करता है और हमें अन्य से पृथक् करती है। यही हमारा अंतरंग व्यक्तित्व यानी आत्मा है। परन्तु अब प्रश्न उठता है कि 'सार' वस्तु है क्या ?

इस तत्व को यदि हम जीवन की विभिन्न अनुभूतियों से सम्बन्धित मान लें तो यह 'सार' न रह जायेगा। क्योंकि अनुभूतियां परिवर्तनीय हैं। अत: इनसे जो संबन्धित होगा वह स्वयं परिवर्तनों के प्रभाव से अछूता कैसे रह पायेगा ? तर्कत: 'सार' को अनुभूतियों से सम्वद्ध मानने पर यह कहना पड़ेगा कि सार स्वयं परिवर्तनशील है और ब्रैडले का कथन है कि 'जो परिवर्तनशील हो वह सार नहीं हो सकता।[2]

'सार' के स्वरूप से संवंधित प्रश्न पर एक दूसरी संभावना यह हो सकती है कि उसे अनुभूतियों से यानी परिवर्तनशील तत्व से नितांत पृथक् और असम्वद्ध मान लें। ऐसी स्थिति में वह इतना अधिक सिकुड़ जायेगा कि हमें उसे सार कहने में संकोच होगा।[3]

पुन: 'सार' संवंधी इस विकल्प पर एक दूसरे दृष्टिकोण से विचार व्यक्त करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि 'सार' के प्रत्यय में 'सातत्यता' एवं 'एकता' का होना अनिवार्य है : अन्य शब्दों में सार के लिए यह आवश्यक है कि

1. When we look at the facts and survey the man's 'self from the cradle to the conffin, we may be able to find no one average." —Ibid., p. 68.
2. "If you take an essence which can change it is not an essence at all:" —Ibid., P. 68
3. "This wretched fraction and poor atom, too mean to be in danger—do you mean to tell me that this bare remnant is really the self."

—Appearance and Reality, P. 69

उसमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन न हो, वरन् उसमें स्थायित्व हो यानी एकता हो। और इस एकता की कल्पना दो प्रकार से हो सकती है। उसकी कल्पना हम शारीरिक एकता में या फिर मानसिक एकता के रूप में कर सकते हैं।

प्रश्न है कि क्या शारीरिक दृष्टि से हम अपरिवर्तनीय रहते हैं ? इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता है कि शरीर में सतत् परिवर्तन होता रहता है। अतएव उसमें किसी प्रकार की एकता दिखाई नहीं देती, पुनः कभी कभी एक ही अवस्था में शरीर में आमूल परिवर्तन भी हो जाते हैं। हम यकायक दुर्बल या मोटे हो जाते हैं। अतः शारीरिक एकता की कल्पना भ्रामक हैं।

पुनः इस एकता के सम्बन्ध में प्रश्न हो सकता है कि क्या उस एकता को हम मानसिक स्तर पर बनाये रख सकते हैं ? निश्चित है कि उत्तर निषेधात्मक ही होगा। ब्रैडले कहते हैं कि मानसिक एकता की कल्पना भी भ्रामक हैं क्योंकि यह सातत्यता गहरी नींद में नित्य ही खंडित हो जाती है। कभी-कभी हम वेहोश हो जाते है और कई-कई दिनों तक वेहोश रहते हैं। ऐसी स्थिति में हम यह नहीं कह सकते कि वेहोशी के दौरान में क्या होता है। अतएव स्पष्ट है कि मानसिक स्तर पर यह सातत्यता प्रायः खंडित होती रहती है।[1]

और यदि थोड़ी देर के लिए इस बात को मान भी लिया जाय कि हम मानसिक स्तर पर किसी न किसी रूप में अपनी एकता बनाये रखते हैं तो भी प्रश्न रहेगा कि क्या इन विभिन्न स्थितियों में किसी प्रकार की गुणात्मक एकता कायम रह सकती है। ब्रैडले कहते हैं यदि उत्तर निषेधात्मक है तो फिर गुणात्मक एकता के अभाव में 'एकता' की बात करना निरर्थक ही है।

पुनः ब्रैडले कहते हैं 'आत्मा' के सम्बन्ध में समान्यतः दो दृष्टिकोण अपनाए जा सकते हैं—प्रथम तो द्रष्टा का दृष्टिकोण हो सकता है और इस दृष्टिकोण से प्रायः हम किसी भी व्यक्ति के विषय में विरोध निर्णय देते हुए देखे जाते हैं। एक ही व्यक्ति जिसे प्रथम दृष्टि में हम अच्छा समझते हैं, कालान्तर में उसी व्यक्ति को हम बुरा भी कहते हैं।

---

1. "There seems hardly any away of deciding whether the psychical current is without any break."

—Ibid., P. 67.

अथवा नवीन व्यक्तित्व का औसत ? निश्चित् है हमें एक से अधिक औसत को प्राप्त करना पड़ेगा। अत: आत्मा के सम्बन्ध में औसत व्यक्तित्व की कल्पना ही भ्रामक है।[१]

सार के रूप में आत्मा :

पुन: ब्रैडले कहते हैं कि हम सम्भवत: आत्मा का 'सार' से एकीकृत कर सकते हैं। यह 'सार' हमारी विशिष्टताओं को व्यंजित करता है और हमें अन्य से पृथक् करती है। यही हमारा अंतरंग व्यक्तित्व यानी आत्मा है। परन्तु अब प्रश्न उठता है कि 'सार' वस्तु है क्या ?

इस तत्व को यदि हम जीवन की विभिन्न अनुभूतियों से सम्बन्धित मान लें तो यह 'सार' न रह जायेगा। क्योंकि अनुभूतियां परिवर्तनीय हैं। अत: इनसे जो संबन्धित होगा वह स्वयं परिवर्तनों के प्रभाव से अछूता कैसे रह पायेगा ? तर्कत: 'सार' को अनुभूतियों से सम्बद्ध मानने पर यह कहना पड़ेगा कि सार स्वयं परिवर्तनशील है और ब्रैडले का कथन है कि 'जो परिवर्तनशील हो वह सार नहीं हो सकता।[२]

'सार' के स्वरूप से संबंधित प्रश्न पर एक दूसरी संभावना यह हो सकती है कि उसे अनुभूतियों से यानी परिवर्तनशील तत्व से नितांत पृथक् और असम्बद्ध मान लें। ऐसी स्थिति में वह इतना अधिक सिकुड़ जायेगा कि हमें उसे सार कहने में संकोच होगा।[३]

पुन: 'सार' संबंधी इस विकल्प पर एक दूसरे दृष्टिकोण से विचार व्यक्त करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि 'सार' के प्रत्यय में 'सातत्यता' एवं 'एकता' का होना अनिवार्य है : अन्य शब्दों में सार के लिए यह आवश्यक है कि

1. When we look at the facts and survey the man's 'self' from the cradle to the conffin, we may be able to find no one average." —Ibid., p. 68.
2, "If you take an essence which can change it is not an essence at all:" —Ibid., P. 68.
3. "This wretched fraction and poor atom, too mean to be in danger—do you mean to tell me that this bare remnant is really the self."

—Appearance and Reality, P. 69:

उसमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन न हो, वरन् उसमें स्थायित्व हो यानी एकता हो। और इस एकता की कल्पना दो प्रकार से हो सकती है। उसकी कल्पना हम शारीरिक एकता में या फिर मानसिक एकता के रूप में कर सकते हैं।

प्रश्न है कि क्या शारीरिक दृष्टि से हम अपरिवर्तनीय रहते हैं ? इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता है कि शरीर में सतत् परिवर्तन होता रहता है। अतएव उसमें किसी प्रकार की एकता दिखाई नहीं देती, पुनः कभी कभी एक ही अवस्था में शरीर में आमूल परिवर्तन भी हो जाते हैं। हम यकायक दुर्बल या मोटे हो जाते हैं। अतः शारीरिक एकता की कल्पना भ्रामक है।

पुनः इस एकता के सम्बन्ध में प्रश्न हो सकता है कि क्या उस एकता को हम मानसिक स्तर पर बनाये रख सकते हैं ? निश्चित है कि उत्तर निषेधात्मक ही होगा। ब्रैडले कहते हैं कि मानसिक एकता की कल्पना भी भ्रामक है क्योंकि यह सातत्यता गहरी नींद में नित्य ही खंडित हो जाती है। कभी-कभी हम बेहोश हो जाते है और कई-कई दिनों तक बेहोश रहते हैं। ऐसी स्थिति में हम यह नहीं कह सकते कि बेहोशी के दौरान में क्या होता है। अतएव स्पष्ट है कि मानसिक स्तर पर यह सातत्यता प्रायः खंडित होती रहती है।[1]

और यदि थोड़ी देर के लिए इस बात को मान भी लिया जाय कि हम मानसिक स्तर पर किसी न किसी रूप में अपनी एकता बनाये रखते हैं तो भी प्रश्न रहेगा कि क्या इन विभिन्न स्थितियों में किसी प्रकार की गुणात्मक एकता कायम रह सकती है। ब्रैडले कहते हैं यदि उत्तर निषेधात्मक है तो फिर गुणात्मक एकता के अभाव में 'एकता' की बात करना निरर्थक ही है।

पुनः ब्रैडले कहते हैं 'आत्मा' के सम्बन्ध में समान्यतः दो दृष्टिकोण अपनाए जा सकते हैं—प्रथम तो द्रष्टा का दृष्टिकोण हो सकता है और इस दृष्टिकोण से प्रायः हम किसी भी व्यक्ति के विषय में विरोध निर्णय देते हुए देखे जाते हैं। एक ही व्यक्ति जिसे प्रथम दृष्टि में हम अच्छा समझते हैं, कालान्तर में उसी व्यक्ति को हम बुरा भी कहते हैं।

---

1. "There seems hardly any away of deciding whether the psychical current is without any break."

—Ibid., P. 67.

'आत्मा' के प्रति द्वितीय दृष्टिकोण व्यक्ति का अपना निजी दृष्टिकोण होता हैं। परन्तु अपनी अनुभूतियों के सम्बन्ध में भी हम इसी प्रकार के परिवर्तन होते देखते हैं। हमारी प्रतिक्रियाओं में न्यूनाधिक मात्रा में अन्तर दिखाई देता है।

अतएव इन तथ्यों के आधार पर भी 'सातत्यता' की कल्पना सार्थक नहीं दिखायी देती।

पुनः एक अन्य दृष्टिकोण से इस प्रश्न पर विचार करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि 'सामान्यतः' हम स्मृति के आधार पर 'आत्मा' की एकता का समर्थन करते हैं। यानी यदि हमारी स्मृति खंडित न हो तो इस अखंडित स्मृति के आधार पर हम आत्मा को स्वीकार कर लेते हैं परन्तु ब्रैडले कहते हैं कि स्मृति प्रायः खंडित और एकांगी होती है। यह संभव नहीं कि हम जब भी चाहें आज से कोई पांच साल पहले की घटना को पूरी तौर से याद कर लें। पुनः स्मृति की प्रस्तुति पर बहुत अधिक भरोसा भी नहीं किया जा सकता। कभी-कभी तो ऐसा भी होता है कि बहुत सोचने पर भी किसी पुरानी घटना की याद नहीं हो पाती। यही नहीं कभी-कभी तो अप्रत्याशित घटनाओं के कारण स्मृति बिल्कुल सी समाप्त हो जाती है और एक नितांत नया जीवन शुरू हो जाता है। इस नये जीवन का पिछले व्यक्तित्व से कोई भी सम्बन्ध नहीं होता और इस प्रकार स्मृति की सातत्यता बिल्कुल समाप्त हो जाती है। बाहर से एक ही प्रतीत होने वाले व्यक्तित्व में एक दूसरा ही व्यक्तित्व स्थान ले लेता है। अतएव स्मृति के आधार पर हम आत्मा की एकता का समर्थन नहीं कर सकते।[1]

चिद् बिन्दु के रूप में आत्मा :

ब्रैडले कहते हैं कि आत्मा को 'चिद् बिन्दु' के रूप में भी हम मान सकते हैं। पर चिद् बिन्दुओं की कल्पना के साथ हम जिन दो बातों को स्वीकार करते हैं वह इस प्रकार हैं—(i) वे अनेक हैं और (ii) वे स्व-अस्तित्ववान इकाई में है, यानी वे एक दूसरे से स्वतंत्र है और बाह्य प्रभावों से प्रभावित नहीं होते।

किन्तु अध्याय तीन एवं पांच में यह सिद्ध किया जा चुका है,

1. Ibid., P. 72.

कि इस प्रकार की अपरिवर्तनीय इकाई का कोई संभव अस्तित्व ही नहीं है। पुन: वे कहते हैं यदि इन्हें स्वीकार भी कर लिया जाय तो भी उसकी प्रकृति तो द्वयर्थक ही रहेगी। क्योंकि यदि हम उसे एक ऐसी इकाई के रूप में स्वीकार कर लें जो सभी प्रकार के प्रभावों से मुक्त और नितान्त असम्बद्ध हैं तो ऐसी इकाई के होने न होने से हमारे सामान्य जीवन में किसी भी प्रकार का अन्तर नहीं आयेगा। अत: इस रूप में वह एक निरर्थक कल्पना रहेगी।

और यदि हम इस प्रकार की आत्मा को अपने जीवन से सम्बद्ध मान लेते हैं तो निश्चित ही वह हमारे भीतर होने वाले परिवर्तनों से प्रभावित होगी और फलत: स्वयं परिवर्तित होती रहेगी। प्रश्न है तब स्वतन्त्र अस्तित्व के रूप में उसकी कल्पना का क्या होगा ?

इस प्रश्न से संबद्ध कठिनाइयों को प्रस्तुत करते हुए वे पुन: कहते हैं कि इस कल्पना में स्थायी एवं परिवर्तनीय—दोनों पक्ष एक दूसरे से पृथक् ही बने रहते हैं और उनकी परस्पर सम्बद्धता को स्पष्ट करना हमारे लिए संभव नहीं है। पर इन्हें किसी प्रकार सम्बद्ध करना भी आवश्यक है क्योंकि यदि दोनों पक्षों को पृथक् रखा जाय तो चिद् विन्दुओं के रूप में यानी अपरिवर्तनीय स्थायी तत्व के रूप में स्वीकृत आत्मा नितान्त निरर्थक होगी और उसे मनुष्य की आत्मा कहना उपहासास्पद ही होगा।

आत्मा के सम्बन्ध में अपने विचार प्रस्तुत करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि आत्मा को अनेक मानने पर उनके बीच संबंधों की समस्या आती है। अन्य शब्दों में विविधता के समर्थन के साथ ही साथ उनकी संबद्धता का भी हमें समर्थन करना होगा और इस समर्थन से निश्चित हैं कि इन आत्माओं की निरपेक्षता समाप्त हो जायेगी।[1] वह निरपेक्ष और स्वतन्त्र न होकर सापेक्ष हो जायेंगी और तब इसी कारण हम उन्हें अंतिमता न दे सकेंगे। स्पष्ट है कि तब वे किसी निरपेक्ष की अपेक्षा करेंगे। निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि चिद् बिन्दुओं के रूप में आत्मा को स्वीकार करने पर भी हम उसे सत् रूप में प्रस्तुत नहीं कर सकते।

यही नहीं, ब्रैडले कहते है कि चिद् विन्दुओं के रूप में आत्मा की कल्पना

1. "If there is more than one self in the universe, we are met by the problem of there relation to each other...... but relations admitted again are fatal to the monad's independence"
—Ibid., pp. 101-102.

हमारे समक्ष विद्यमान समस्याओं में वृद्धि ही करेगी और उससे किसी भी प्रश्न के हल में सहायता नहीं मिलेगी।[1]

आत्मा निःसंदेह हमारी अनुभूति का सर्वोत्तम रूप है। परन्तु यह सब होते हुए भी इसे सत् रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। वह तथ्यों को उनके वास्तविक रूप में प्रस्तुत नहीं करता और जिस रूप में तथ्यों को वह प्रस्तुत करता है, उसमें वह आभास और भ्रम ही है।[2]

'रुचि' के रूप में आत्मा की कल्पना :

पुनः आत्मा के संबंध में एक अन्य विकल्प को प्रस्तुत करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि आत्मा को उस वस्तु से एकीकृत किया जा सकता है, जिसमें व्यक्ति निजी रुचि लेता है और जिसे अपना बना लेता है। और क्योंकि रुचि का संबंध 'सुख' एवं 'दुख' से है—भावनाओं के एक संघात ही आत्मा बन जाता है।

पर क्योंकि यह संघात सतत परिवर्तनीय है और उसमें विजातीय तत्वों के कारण अंतर्विरोध है इसलिए उसे 'आत्मा' की संज्ञा देना अनुचित है।

निम्न-संबंधात्मक चेतना के रूप में 'आत्मा' :

एक अन्य विकल्प को प्रस्तुत करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि हम आत्मा को निम्न संबंधात्मक चेतना के साथ एकीकृत कर सकते हैं। परन्तु निम्न संबंधात्मक चेतना प्रत्ययात्मकता के दोष से दूषित है। निम्न संबंधात्मक अनुभूति में स्वातिक्रमण की प्रवृत्ति विद्यमान है। यह संबंधात्मक अनुभूति में परिणत होना चाहती है। और अपने में विद्यमान 'किम्' पक्ष को स्पष्ट करना

---

1. "monadism on the whole will increase and will add to the difficulties which aready exist and it will not supply us with a solution of any single one of them."

—Ibid., pp. 102-103.

2. "The self is no doubt the highest form of experience which we have, but for all that is not a true form. It does not give us the facts as they are in reality ; and as it gives them, they are appearance and error."

Ibid., p. 103,

चाहती है। अतः इस निम्न—सम्बन्धात्मक अनुभूति को उस आत्मा के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता जिसे हम परिपर्ण सत् के रूप में प्रस्तुत करना चाहते हैं।

और सम्बन्धात्मक चेतना के रूप में भी आत्मा का सत् रूप में समर्थन संभव नहीं है क्योंकि इस चेतना में तद् और किम्[1] का स्पष्ट भेद है, और यह भेद इस स्तर पर समाप्त नहीं होता अतः यह प्रत्ययात्मकता[2] के दोष से दूषित है। अन्य शब्दों में, इसमें व्यवहितत्व का अभाव है इस कारण इसे भी संपूर्ण सत् के रूप में स्वीकार करना संभव नहीं।

आत्मचेतना के रूप में आत्मा :

और ब्रैडले कहते हैं कि यदि आत्मा को आत्मचेतना के रूप में लें तो उसमें भी हमें असंगतियां दिखाई पड़ती हैं और इस रूप में आत्मा का यदि निकटता से हम परीक्षण करें तो उसमें हमें स्पष्टतः दो पक्ष मिलेंगे—एक 'ज्ञाता' पक्ष और दूसरा 'ज्ञेय' पक्ष। ये दो तत्व एक दूसरे से भिन्न हैं पर साथ ही साथ इन दोनों पक्षों में तादाम्य भी होना चाहिए यानी एक ही इकाई के सम्बन्ध में हमें तत्वों के द्वैत और तादाम्य—दोनों ही को स्वीकार करना पड़ता है और इस स्वीकृति का अन्ततः कोई संतोषपूर्ण समाधान मिलना संभव नहीं है।

पुनः ब्रडले कहते हैं कि यदि हम यह मान भी लें कि अन्तर्बोध के आधार पर इस प्रकार के तथ्य का समर्थन हो सकता है, तो फिर प्रश्न उठता है कि क्या इस प्रकार की एकता बुद्धि की मांग के अनुरूप है? और क्या वह बौद्धिक स्तर पर हमें संतोष प्रदान करने वाली होगी?

इन प्रश्नों पर विचार करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि यदि इस प्रकार की एकता का अस्तित्व निम्न या पूर्व-सम्बन्धात्मक स्तर पर है भी तो यह निश्चित है कि बौद्धिक स्तर पर इसके स्वरूप को समझने की कोशिश मात्र से ही इसकी समन्वित एकता अनेक खण्डों में वितरित हो जायेगी।[3]

और यदि इस एकता को हम निम्न बौद्धिक स्तर पर न मानें बल्कि अति बौद्धिक स्तर पर ही मानें तो फिर ऐसी स्थिति में वह केवल अस्तित्ववान ही

---

1. "That what."
2. Ideality.
3. Ibid., p. 93.

होगी, यानी उसके स्वरूप को समझना हमारे लिए संभव न होगा।[1]

निष्कर्षत: ब्रैडले कहते हैं बुद्धि को आत्म-सात् करते हुए अनुभव उसका अतिक्रमण कर सकता है पर यह निश्चित है कि ऐसा अनुभव उपर्युक्त अर्थों में आत्मचेतना नहीं है।

पर मनोवैज्ञानिक स्तर पर स्वीकृत 'आत्मा' यानी 'चेतना' में विद्यमान 'आत्म, एवं 'अनात्म' के दोनों तत्वों में कितनी भी पारदर्शिता क्यों न आ जाय उनकी विभाजन रेखा को समाप्त करना असंभव है।

पुन: एक अन्य तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि आत्म एवं अनात्म की रेखाएं परिवर्तनीय हैं अतएव सिद्धांतत: यह कहना कठिन है कि इसमें कौन सी स्थायी रूप से आत्मा है और किसे हम अनात्मा कहें। अपने निष्कर्ष को स्पष्ट करते हुये ब्रैडले कहते हैं कि निरीक्षण के किसी भी एक बिन्दु पर जिस वस्तु को अध्ययन हेतु पृथक् कर लिया जाता है, उसे 'अनात्मा' और शेष सभी को 'आत्मा' कहा जाता है। बाद में जब उस बिन्दु में रुचि समाप्त हो जाती है और किसी अन्य तत्व में हम रुचि लेने लगते हैं तो वह अनात्मा हो जाता है और पूर्व अनात्म को सम्मिलित करते हुये शेष सभी तत्व 'आत्मा' कहलाता है।

इस प्रकार इस परिणाम पर सहज ही पहुचा जा सकता है कि आत्मा एवं अनात्मा का भेद हमारी रुचियों पर निर्भर करता है और उसका व्यावहारिक महत्व ही है। इससे अधिक की उससे अपेक्षा करना असम्भव है। यानी बोध के किसी भी एक बिन्दु पर सम्पूर्ण को 'आत्मा' के रूप में प्राप्त करना असम्भव है। पर आत्मचेतना की कल्पना में कुछ इसी प्रकार की संभावना को प्रस्तुत किया गया है।

व्यक्तिगत ऐक्य[2] के रूप में आत्मा :

इसी संदर्भ में ब्रैडले व्यक्तिगत ऐक्य के रूप में आत्मा के विकल्प को प्रस्तुत करते हैं। इस विकल्प के अनुसार कालान्तर में होने वाले परिवर्तनों के बीच आत्मा अपने अस्तित्व को किसी न किसी रूप में बनाये रखती है। यानी आत्मा एक अपरिवर्तनीय एकता है पर इस एकता को जब हम समझना चाहते हैं तो हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि इसे समझना असम्भव है। जिस

1. Ibid., p. 93.
2. Personal indentity.

समानता को सामान्यत: स्वीकार किया जाता है, उसे यदि निकट से देखा जाय तो वह अनिवार्यत: किसी न किसी दृष्टिकोण से सम्बन्धित रहती है और इस दृष्टि को ठीक बदलने के साथ उसकी समानता भी बदलती रहती है। यानी उसके स्वरूप में भी परिवर्तन हो जाता है। और इस दृष्टि से देखने पर समानता की यहां स्वीकृति कुछ आकस्मिक प्रतीत होती है। इसका कोई तार्किक आधार नहीं समझ में आता।

और तत्वमीमांसीय दृष्टि से इस प्रकार के प्रत्यय का केवल एक निषेधात्मक मूल्य ही है क्योंकि वह वस्तुत: आत्मा के विषय में खंडित इकाइयों की कल्पना का निषेध प्रस्तुत करती है। और व्यावहारिक दृष्टि से वह मूल्यवान इसलिए है कि वह स्मृति का आधार प्रस्तुत करती है, वह बोधगम्य है—इस विषय में भावात्मक उत्तर प्राप्त करना असम्भव है। अन्य शब्दों में—इस बात को समझ लेना है कि अपनी अपरिवर्तनीय समानता को कायम रखते हुए एक—समान तत्व किस प्रकार उन सभी परिवर्तनीय तत्वों की विविधता के साथ संगतिपूर्ण हो पाता है, जिसका वह आधार प्रस्तुत करता है, कठिन है।

पुनः ब्रैडले कहते है—'तुलना' के तथ्य के स्पष्टीकरण के लिए भी हम कालातीत आत्मा को स्वीकार करते हैं पर इस स्वीकृति में अनेक कठिनाइयां प्रस्तुत हो जाती हैं। पहली तो यह है कि मनोवैज्ञानिक अनुसंधान के आधार पर इस प्रकार की एकता का समर्थन नहीं हो पाता—इसे एक 'मनोवैज्ञानिक दानव' ही कहा जा सकता है। और दूसरी यह कि मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से कोई भी चीज काल के प्रभाव से नितान्त मुक्त नहीं है। और यदि उसे हम स्वीकार कर भी लें तो वह हमारे उस ठोस दिन—प्रतिदिन के जीवन के लिए नितांत निरर्थक ही होगी जिसके स्पष्टीकरण के लिए आधार रूप में उसे स्वीकार किया जाता है।

इस प्रकार ब्रैडले 'आत्मा' के विविध प्रत्ययों का तत्व मीमांसीय दृष्टिकोण से निराकरण करते हैं।

६ संवृत्तिवाद[1]

पुस्तक में अब तक के प्राप्त निष्कर्षों के आधार पर यह कहा जा सकता हैं कि सत्ता न तो कोई वस्तु ही है और न ही आत्मा। पर क्योंकि इन निष्कर्षों के बावजूद हमारे भीतर यह भावना बनी रहती है कि जो कुछ भी अस्तित्ववान हैं, यानी विश्व का संपूर्ण वैविध्य, उसको किसी न किसी रूप में 'एक' होना ही चाहिए। और क्योंकि इस 'एकता' को संवृत्ति जगत में हम कहीं भी नहीं पाते उसे एक इन्द्रियातीत, अनुभवातीत सत् होना चाहिये।

पर इस निष्कर्ष को स्वीकार करने के पूर्व एक अन्य विकल्प को भी सोच लेना होगा। इस विकल्प के अनुसार 'एकता' की आवश्यकता ही क्या है ? क्या यह मुमकिन नहीं कि इस जगत में मात्र वैविध्य ही सत्य हो ? अन्य शब्दों में हमारी विभिन्न अनुभूतियां, संवेदन तथा प्रदत्त[2] ही केवल सत् हों और इन्हें संयुक्त करने वाला तत्व कोरी कल्पना ही हो। स्पष्ट है दर्शन के क्षेत्र में यह विशुद्ध, वैज्ञानिक दृष्टिकोण का समर्थन है।

भारतीय दर्शन के विद्यार्थी बौद्ध दर्शन द्वारा प्रतिपादित नैरात्म्यवाद से परिचित होंगे जिसके अनुसार अधिष्ठान रूप में एक अतिरिक्त आत्म-तत्व की स्वीकृति सर्वथा निराधार है। पार्थिव जगत में भी तत्वों का संघात है और मानसिक जगत में भी संवेदनों तथा अन्य मन:स्थितियों का संघात है।[3] इन तत्वों के विभिन्न संघात व्यावहारिक सुविधा के लिये विभिन्न नामों से अभिहित किये जाते हैं पर इन नामों से संवादिता रखने वाली अतिरिक्त इकाइयां नहीं हैं। इन संघातों के अपने व्यवहार संबंधी नियम हैं और इन नियमों को प्रस्तुत करते हुए हम यह कहते हैं कि ये वे तरीके हैं, जिसमें वस्तुएं अपने स्वरूप को अभिव्यक्त करती हैं। पर यहां पर हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि वस्तु नाम की कोई ऐसी चीज नहीं है, जिनके ये तत्व है या जिनके ये नियम हैं। इसी दृष्टिकोण को, जिसमें केवल संवृत्ति को, यानी जो घटित होता है, जिसकी

---

1. Phenomenalism.
2. Presentation or given.
3. यह तुलना केवल विचारों के स्पष्टीकरण के लिये है।

प्रतीति होती है, जो गोचर है, उसीको स्वीकार किया जाता है; और उसके स्पष्टीकरण के लिए किसी अन्य इन्द्रियातीत तत्व को स्वीकार करना आवश्यक नहीं समझा जाता, संवृत्तिवाद कहते हैं और ब्रैडले इस दृष्टिकोण के पक्ष में बोलते हुए कहते हैं कि विज्ञान के नाम पर इसके अतिरिक्त और स्वीकार ही क्या किया जा सकता है ?[1]

संवृत्तिवाद के विरुद्ध मूल आपत्ति :

ब्रैडले कहते हैं कि संवृत्तिवाद के विरुद्ध एक महत्वपूर्ण आपत्ति लायी जा सकती है। हम इस वाद के समर्थकों से प्रश्न कर सकते हैं कि आखिर हम सिद्धान्तों का निर्माण करते क्यों हैं ? उत्तर स्पष्ट है : इसलिए कि हम तथ्यों में किसी प्रकार की एकता को स्थापित करना चाहते हैं। यह मन की एक सहज प्रवृत्ति है—भले ही वह संवृत्तिवाद के समर्थकों की दृष्टि में भ्रामक क्यों न हो। अतएव इसकी तथ्यता को हम अस्वीकार नहीं कर सकते। पुन: क्योंकि यह एक प्रवृत्ति है और मन की एक मूल प्रवृत्ति है, इसलिए इसकी अवज्ञा नहीं की जा सकती है। और संवृत्तिवाद को इस प्रवृत्ति के साथ न्याय करना ही चाहिए। यानी अपने सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में उसे इस तथ्य को भी सम्मिलित करना चाहिए और यदि वह ऐसा नहीं कर पाता तो सिद्धान्त के रूप में वह असफल रहता है। क्योंकि कोई भी सिद्धान्त उसी अनुपात में अपने को सत्यापित करता है, जिसमें वह विश्व के विविध ज्ञेय तथ्यों के साथ न्याय करने में समर्थ होता है। पुन: ब्रैडले कहते हैं : संवृत्तिवाद स्वय एक सिद्धान्त है और इस नाते एकता का समर्थक है। अत: प्रच्छन्न रूप से वह उस वस्तु को स्वीकार करता है जिसे वह स्पष्टत: अस्वीकार करता है। जीवन के तथ्यों के रूप में संवृत्तिवाद सत्य है तो सिद्धान्त रूप में उसका किस प्रकार प्रतिपादन हो सकता है, यह समझ में नहीं आता। और यह एक आपत्ति अपने में इतनी महत्वपूर्ण है कि वह संवृत्तिवाद को पूर्णतया परास्त कर सकती है। पुन: वे कहते हैं कि संवृत्तिवाद किस प्रकार इस आपत्ति का उत्तर देगा, यह महत्वपूर्ण नहीं क्योंकि उत्तर असंभव है।

निष्कर्षत: ब्रैडले कहते हैं कि इस सिद्धांत की विस्तृत आलोचना की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती, क्योंकि केवल इस एक बात की ओर संकेत कर

1. "And how, in the name of science, can any one wan any more ?"
—Ibid., p. 106

देने से ही, कि सिद्धांत रूप में यह जिस तथ्य को प्रस्तुत करता है, प्रच्छन्न रूप से उसे अस्वीकार करता है, उसका खंडन हो जाता है।

अन्य आपत्ति :

इस मूल आपत्ति के बाद ब्रैडले इस सिद्धान्त का विस्तृत परीक्षण भी प्रस्तुत करते हैं और सिद्ध करते हैं इसमें आंतरिक विसंगति है और इस कारण सिद्धांत के रूप में वह असंतोषपूर्ण है।

इस सिद्धांत के अन्तर्गत विभिन्न तत्वों को स्वतंत्र ईकाइयों के रूप में स्वीकार किया जाता है और उनकी परस्पर सम्बद्धता की बात भी की जाती है और एक पूर्व अध्याय में (संबंध तथा गुण) हम इस प्रकार की प्रस्तुति से सम्बद्ध कठिनाइयों को देख चुके हैं। समस्या अन्य शब्दों में पुरानी ही है कि किस प्रकार एक वैविध्य अन्ततः आंतरिक एकत्व को प्राप्त करता है? हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं यदि वैविध्य को हम खंडित और परिणाम स्वरूप एक दूसरे से बाह्य तथा असम्बद्ध इकाइयों के रूप में प्रस्तुत करते हैं तो फिर कृत्रिम तथा बाह्य सम्बन्धों के माध्यम से ही हम उन्हें सूत्रबद्ध कर सकेंगे और फिर इस प्रकार की सूत्रबद्धता के सम्बन्ध में किसी प्रकार का औचित्य प्रस्तुत करना हमारे लिये असम्भव होगा। इसी बात को एक दूसरे कोण से भी प्रस्तुत किया जाता है। सम्बन्धों की प्रकृति का यदि हम निरीक्षण करें तो हम देखेंगे कि वे स्वतन्त्र पदों में रूपांतरित हो जाते हैं यानी जिन पदों को वे संबंधित करते है उनसे वे किसी भी अर्थ में अभिन्न नहीं होते। फलतः वे सम्बद्ध नहीं रह जाते।

यदि संवृत्तिवाद यह कहता है कि ये संबंध उन पदों से भिन्न हैं, जिन्हें वे सम्बन्धित करते हैं, तो उसे इस स्वीकृत भेद के आधार को और औचित्य को प्रस्तुत करना चाहिए और इसके साथ ही यह स्पष्ट करना चाहिए कि पदों और सम्बन्धों में फिर क्या संबंध है? और यदि संवृत्तिवाद के समर्थक यह कहते हैं कि प्रश्न अर्थहीन है तो फिर प्रश्न है कि यह किसकी जिम्मेदारी है।[1] अन्य शब्दों के पदों एवं संबंधित प्रश्नों का उत्तर इस सिद्धांत

---

1. " Let phenomenalism attempt to state clearly what it means by its elements and relations; let it tell us whether these two sides are in relation with one another, or, if not that, what else is the case." —Ibid p, 107.

की स्वीकृतियों के भीतर संभव नहीं है

अतीत एवं भविष्य में होने वाली घटनायें :

पुन: संवृत्तिवाद केवल घटनाओं—जो कुछ भी घटित हो रहा हैं—के अस्तित्व को स्वीकार करता है। ऐसी स्थिति में जो घटित हो चुका है, या जो आगे होने वाली घटनायें हैं और इन सभी की सम्बद्धता के विषय में इस सिद्धांत के समर्थकों को क्या कहना है ? यदि अतीत में हो चुकने वाली और भविष्य में होने वाली घटनाओं के विषय में उसे कुछ नहीं कहना है—यानी इस सिद्धान्त के अन्तर्गत उन्हें यथार्थ और अस्तित्ववान मानना ही नहीं है, तो ब्रैडले कहते हैं कि इस स्वीकृति से सम्बद्ध अनेक कठिनाइयां हैं, जिसमें उलझने का वर्तमान में कोई इरादा नहीं है। पर यदि इन्हें यथार्थ और अस्तित्ववान मनाना है, तो फिर प्रश्न स्वाभाविक हैं कि इनके क्रम के एकत्व को [1] किस रूप में समझा जाय और फिर इस सिद्धांत ने उस प्रकार की सभी सत्ताओं का सिद्धांत: निषेध किया है जो 'प्रदत्त नहीं है[2] और स्पष्ट है कि इस अर्थ में भूत में घटित हो चुकने वाली और भविष्य में होने वाली दोनों ही घटनायें 'प्रदत्त' नहीं ही है।

एकता से संबद्ध कठिनाई :

पुन: 'एकत्व' के प्रश्न को किस रूप में प्रस्तुत किया जाय ? स्पष्ट है कि जिस रूप में सामान्यत: 'एकत्व को स्वीकार किया जाता है, उस रूप में इस सिद्धान्त के अन्तर्गत वह स्वीकार्य नहीं ही होगा। 'एकत्व' का सामान्यत: अर्थ होता है 'वैविध्य का यथार्थ संयोग' [३] पर संवृत्तिवाद के अन्तर्गत परिवर्तन के तथ्य को स्वीकार किया गया है, क्योंकि परिवर्तन का तथ्य 'घटित होने' से अनिवार्यत: संबद्ध है, जहाँ भी कुछ घटित होता है, वहाँ परिवर्तन होता है। पर यदि हम परिवर्तन को तथ्यत: स्वीकार करते हैं तो हमें साथ ही यह भी स्वीकार करना होगा कि कोई 'वस्तु'—कोई 'इकाई' परिवर्तित होती है और इस प्रकार हम किसी 'इकाई' को परिवर्तन की पृष्ठभूमि में सहज रू

1. "Unity of the science."
2. Given—not presented, p. 107.
3. "Real union of the diverse"——Ibid., p. 107.

स्वीकार कर लेते हैं।[1] और यदि हम 'इकाई' को जो परिवर्तन के बीच अपरिवर्तित अपनी एकता बनाये रखती है, नहीं स्वीकार करते, तो स्पष्ट है हम तथ्यों के साथ न्याय नहीं कर रहे हैं। निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि परिवर्तन के तथ्य के साथ अनिवार्यत: किसी न किसी एकता की स्वीकृति सम्बद्ध है। इससे इंकार नहीं किया जा सकता। पर यदि ऐसा है तो फिर हमारे सामने इन दोनों—एकता और विविधता के सम्बन्धों का प्रश्न उठेगा और हम पहले ही देख चुके हैं कि बुद्धि के स्तर पर इस प्रश्न का समुचित उत्तर मिलना असंभव है।

इस प्रश्न से सम्बद्ध कठिनाइयों को प्रस्तुत करते हुए ब्रैडले कहते हैं :

(i) क्या घटनाओं का क्रम एक है अथवा अनेक ?

(ii) यदि घटनाओं का क्रम एक नहीं है तो फिर इन्हें 'एक' प्रस्तुत करने की हमारे मन में इच्छा ही क्यों होती है। अन्य शब्दों में वैसा प्रस्तुत करने का हम प्रयास क्यों करते हैं ?

(iii) यदि ये ,एक' हैं तो फिर हमें इसके बारे में थोड़ा सोचना पड़ेगा। पुन: जिन विविध तत्वों को सूत्रबद्ध माना जाता है वे स्थायी हैं या नहीं ? यदि ये स्थायी हैं और यदि नहीं ही है तो फिर प्रश्न है कि इनके माध्यम से जीवन के तथ्यों का स्पष्टीकरण कैसे संभव है।

(iv) यदि इन्हें हम 'अपरिवर्तनीय' और 'स्थायी' मान लें तो हमारे सामने एक बार फिर अपरिवर्तनीय इकाइयां नवीन रूप में प्रस्तुत हो जायेंगी और इस प्रकार की अपरिवर्तनीय इकाइयों से सम्बद्ध समस्याओं को हम अनेक प्रसंगों में अपनी पुस्तक के इस प्रथम खण्ड में प्रस्तुत कर चुके हैं।

(v) पर संभवत: कुछ भी स्थायी और अपरिवर्तनीय नहीं है—सभी कुछ परिवर्तनीय है केवल 'नियम' स्थायी है। ऐसी स्थिति में 'नियम' महत्वपूर्ण हो जाते हैं और घटनायें उन नियमों की विभिन्न कालिक दृष्टान्त अथवा अभिव्यंजनायें[2] हो जाती है। और

---

1. "Now, if there is change, there is by consequence something which changes. But if it changes, it is the same throughout a diversity. It is, in other words, a real unity, a concrete universal". —Ibid., P. 107.
2. Temporal illustrations.

इसी प्रसंग में ब्रैडले कहते हैं कि क्या ये नियम स्थायी, अपरिवर्तनीय सार स्वरूप तत्व हैं जो कालिक प्रारूपों में समय-समय पर अपने को व्यक्त करते हैं ?[१] इस स्वीकृति से संबंधित कठिनाइयां अनगिनत हैं क्योंकि इन नियमों को अपरिवर्तनीय सार स्वरूप तत्त्वों के रूप में स्वीकार करने पर इनकी परस्पर सम्बद्धता और इनकी और संवृत्तियों की परस्पर संवद्धता और इनकी और संवृत्तियों की परस्पर सम्बद्धता के प्रश्न उठेंगे जिनका हल संभव न होगा।

स्पष्ट है इस स्वीकृति के साथ कठिनाइयाँ तो हैं ही पर इसके साथ ही संवृत्तिवाद अपने स्वीकृति रूप के ठीक विरोधी बिन्दु पर पहुंच जाता है और उसके इन दोनों प्रारूपों में संगति स्थापित करना असंभव है।

(vi) पर यह भी संभव है कि ये नियम अनिवार्य न होकर केवल संभावनाओं को ही प्रस्तुत करते हों। और जब ये यथार्थ घटनाओं में व्यंजित न होकर केवल संभावनाओं को ही प्रस्तुत करते हों। और जब ये यथार्थ घटनाओं में व्यंजित होते हैं तभी अपनी वास्तविकता को प्रस्तुत करते हों।[२] अपनी इन अभिव्यंजनाओं से भिन्न उसका कोई अस्तित्व नहीं है। और यदि उनके अस्तित्व की कल्पना प्रस्तुत की भी जाय तो यह कह सकते हैं कि वे काल्पनिक पदों के बीच के सम्बन्ध हैं और इस नाते ये यथार्थ नहीं ही हैं। पुन: जब वे घटनाओं तथा प्रदत्तों में यथार्थ होते हैं, तो उन्हें अपनी उन अभिव्यंजनाओं से पृथक् इकाइयों के रूप में प्रस्तुत करना सर्वथा अयुक्त है। निष्कर्षत: उनके विषय में यही कहा जा सकता है कि हम उनके बारे में कुछ भी नहीं कह सकते और यदि कुछ भी उनके विषय में कहा जा सकता है तो यही कि जिस रूप में हम उन्हें जानते हैं यानी प्रदत्त संवृत्तियों के रूप में वह उनका वास्तविक रूप नहीं ही है।[३]

---

1. "If so, once more phenomenalism has adored blindly what it rejected." —Ibid., p. 108.
2. "Actual only when found in real presentation." —Ibid P. 108.
3. "It seems that we can say of them only that we do not know what they are ; and all that we can be certain of this, that they are not what we know, namely, given phenomena". —Ibid., p. 108.

उपरोक्त प्रस्तुति से स्पष्ट है कि संवृत्तिवाद केवल प्रदत्तों के अस्तित्व से प्रारम्भ करता है। संवृत्तियों के अतिरिक्त वह कुछ भी स्वीकार नहीं करता परन्तु इनके अतिरिक्त किसी न किसी तत्व को स्वीकार करने के लिए वह विवश है—यही नहीं, प्रछन्न रूप से उन तत्वों को उसने स्वीकार भी किया है।[1] अपनी ही स्वीकृतियों के माध्यम से अनिवार्यतः वह एक ऐसी दृष्टि का समर्थन करने को विवश हो जाता है, जिसमें भेद हैं और ये भेद किसी एकत्व के परिपेक्ष्य में ही सार्थक प्रतीक होते हैं। पर इसके साथ ही एक और अनेक की परस्पर संबद्धता को लेकर उसे तत्वमीमांसीय स्तर पर कठिनाइयों का सामना करना आवश्यक हो जाता है। पर सम्वृत्तिवाद के भीतर इन प्रश्नों को स्वीकार करना संभव नहीं क्योंकि संवृत्तिवाद मात्र 'प्रदत्तों' को स्वीकार करता है और 'एकता' कुछ भी हो कम से कम प्रदत्त नहीं ही है।

अतएव संवृत्तिवाद के सामने दो विकल्प हैं और दोनों ही कठिनाइयों से पूरित हैं। हम केवल प्रदत्तों तक अपने को सीमित रखें और परिणामस्वरूप अपने को सभी प्रकार के विचारों से मुक्त रखें। अन्य शब्दों में मात्र प्रदत्तों के स्तर पर किसी प्रकार का विज्ञान अन्ततः किसी प्रकार का सिद्धान्त सम्भव नहीं हैं। पर यदि हम विचार करना आरम्भ कर दें तो फिर मात्र प्रदत्तों के स्तर पर अपने को कायम रखना हमारे लिए संभव न होगा। यही नहीं, इन प्रयासों के माध्यम से भी समस्या का कोई समाधान होना संभव नहीं। इसके विपरीत हमारी कठिनाइयां बढ़ जायेंगी, इसमें कोई संदेह नहीं है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि संकुचित दृष्टिकोण से सीमित प्रयोजनों की दृष्टि में संवृत्तिवाद को एक उपयोगी और आवश्यक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया जा सकता है और उस सीमित प्रयोजन की दृष्टि से उसका खण्डन अनुचित है। पर जब संवृत्तिवाद इस सीमित सफलता के उन्माद में सन्तुलन खोकर तत्वमीमांसीय सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत किया जाता है तब उसे सम्मान मिलने का प्रश्न ही नहीं उठता।[2]

---

1. It, of course, is forced to transcend this, and it has done so ignorantly and blindly", —Ibid., p. 108.
2. But when phenomenalism loses its head and becoming blatant, steps forward as a theory of first principles, then it is really not respectable. The best that can be said of its pretensions is that they are ridiculous." —Ibid., p. 109.

७ परमार्थ वस्तुएं[1]

यह बुद्धि की अन्तिम कोटि है जिसका ब्रैडले 'आभास और सत्' के प्रथम खण्ड में तार्किक परीक्षण करते हैं और जिसे आभास घोषित करते हैं। उनके द्वारा अब तक के किये हुए बुद्धि की कोटियों के परीक्षण का निष्कर्ष यह निकला है कि ये सभी असंगतिपूर्ण हैं और इस कारण विश्व की तत्व मीमांसीय प्रस्तुति की दृष्टि से अपर्याप्त है। इन कोटियों में अत्यधिक विश्वास के कारण ही कभी-कभी दार्शनिकों को ऐसा लगा है कि सत् 'अज्ञेय' है जिसकी मूल ध्वनि यह है कि वह विचार की मध्यस्थता से जाना नहीं जा सकता। अतएव वर्तमान अध्याय में ब्रैडले सत् की 'अज्ञेयता' की समीक्षा प्रस्तुत करते हैं। क्या सत् को अज्ञेय कहना युक्तियुक्त है ?

सामान्यत: दार्शनिक जगत में सत् की अज्ञेयता से सम्बन्धित दो प्रकार के मत मिलते हैं—

(i) पहला मत यह है कि यदि विचार के माध्यम से सत् को जाना नहीं जा सकता तो फिर उसे स्वीकार करने से क्या लाभ है ? अर्थात् उसकी स्वीकृति निरर्थक है।

(ii) दूसरा मत इस इन्द्रियानुभवातीत सत् को अज्ञेय तो मानता है किन्तु उसकी अज्ञेयता के बावजूद उसे ऐश्वर्य सम्पन्न मानने लगता है और उसकी उपासना करने लगता है। यह धार्मिक दृष्टिकोण है।

ब्रैडले कहते हैं कि यदि सत् की अज्ञेयता सम्बन्धी दृष्टिकोण की हम सैद्धान्तिक व्याख्या प्रस्तुत करें तो निश्चित ही इसमें हमें आंतरिक विसंगतियां दिखाई देंगी। हमारे मन में प्रश्न सहज ही उठ सकता है कि यदि यह सचमुच में अज्ञेय है तो इसके अस्तित्व को किस प्रकार स्वीकार करते हैं। जब हम सत् को नितांत 'अज्ञेय' कहते हैं तो उसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि वह हमारे बोध की परिधि में आने वाली वस्तु ही नहीं है। परन्तु उसे अज्ञेय कहना और साथ ही उसको स्वीकार करना नितांत असंगत बात प्रतीत होती है। वह सापेक्षतया अज्ञेय हो सकती है, परन्तु नितांत अज्ञेय नहीं। अपनी प्रथम क्रिटिक में कांट

1. Things-in-themselves.

ने परमार्थ[1] को अज्ञेय ही कहा है और ब्रैडले के ही समकालीन दार्शनिक ग्रीन ने भी उस कथन में संशोधन लाते हुये कुछ इसी प्रकार की युक्ति प्रस्तुत की है। निष्कर्षतः ब्रैडले कहते हैं कि यदि सत् की अज्ञेयता का सिद्धान्त सच्चा है तो फिर उसके अस्तित्व का समर्थन असम्भव है। अतएव प्रथम दृष्टि में ही अज्ञेयवाद[2] की असंगतियां स्पष्ट हो जाती हैं। परन्तु ब्रैडले कहते हैं कि वे इस दृष्टिकोण की आलोचना में एक दूसरा ढंग अपनाना चाहते हैं जो अधिक स्पष्ट होगा।

'परमार्थ की कल्पना का परीक्षण : बहुवचन अथवा एकवचन का प्रयोग ?

अज्ञेयवाद में परमार्थ के प्रत्यय को दो प्रकार से प्रस्तुत किया गया है। कहीं पर उसे बहुवचन में 'परमार्थ वस्तुएं' और कहीं उसे एकवचन में 'परमार्थ वस्तु' कहकर प्रस्तुत किया गया है।

ब्रैडले कहते हैं कि यदि हम परमार्थ के लिए 'वस्तु' शब्द का प्रयोग न करके 'वस्तुओं' शब्द का प्रयोग करें तो हम परमार्थ के क्षेत्र में वैविध्य को स्वीकार करके अपनी स्थिति को और भी कठिन बना लेंगे। अपने विचार स्पष्ट करते हुये वे कहते हैं कि वैविध्य की स्वीकृति के कारण हमारे सामने जो कठिनाइयां आयेंगी उनकी आभास खंड के अन्तर्गत सम्बन्ध एवं गुण अध्याय में पर्याप्त चर्चा हो चुकी है। अर्थात् परमार्थ के स्तर पर यदि हम वैविध्य को स्वीकार कर लें तो हमारे सामने यह प्रश्न उठेगा कि वे आपस में कैसे संबंधित हैं ? और फिर प्रज्ञा के स्तर पर इस सम्बद्धता सम्बन्धी प्रश्न का समाधान हमारे लिये संभव नहीं होगा।

एकवचन का प्रयोग : संबंधित कठिनाइयों पर प्रकाश :

पुनः यदि इस कठिनाई से बचने के लिए वैविध्य के स्थान पर हम एकत्व का समर्थन करते हैं यानी परमार्थ को 'वस्तुओं' शब्द से व्यक्त न करके 'वस्तु' शब्द से व्यक्त करते हुए उसे एक मानते हैं तो फिर हमारे सामने जो प्रश्न आयेगा वह यह कि क्या परमार्थ और संवृत्ति सचमुच में एक दूसरे से

1. Noumena.
2. Agnosticism.

सम्बन्धित है ? और यदि हैं तो किस प्रकार से सम्बन्धित हैं ?

इस सम्बन्ध में विकल्पों को प्रस्तुत करते हुए ब्रेडले कहते हैं (i) यदि यह कहा जाय कि परमार्थ और व्यवहार एक-दूसरे से नितान्त भिन्न है एवं असम्बद्ध है, तो प्रश्न उठेगा कि फिर परमार्थ का स्वरूप क्या है ? वह गुणयुक्त है या गुणहीन ? यदि उसे गुणों से युक्त मानें तो हमारे सामने वही कठिनाइयाँ उत्पन्न होंगी जो 'गुणी' और 'गुण' के संदर्भ में हमारे सामने आ चुकी हैं। ये ऐसी कठिनाइयां हैं जिनका समाधान हमारे लिए संभव नहीं। और यदि वह नितान्त गुणहीन है तो वह सत् नहीं हो सकता क्योंकि ब्रैडले पहले की कह चुके हैं कि जो गुणहीन है, वह सत् भी नहीं है।[1]

पुन: यदि दोनों नितान्त असम्बद्ध हैं तो हमारी कठिनाई दुगुनी हो [जा]ती है क्योंकि हम एक के स्थान पर दो विश्वों का समर्थन करते हैं।

दूसरे विकल्प को प्रस्तुत करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि यदि परमार्थ [औ]र व्यवहार को एक-दूसरे से सम्बद्ध मानते हैं तो स्वाभाविक है कि प्रश्न उठेगा कि ये किस प्रकार से सम्बन्धित हैं ? अतएव दोनों में सम्बन्ध स्थापित करने के लिए हमें पूर्व की भाँति किसी तीसरे की कल्पना करनी पड़ेगी और तब पुन: यह प्रश्न उठेगा कि इस तीसरे का परमार्थ और व्यवहार से क्या सम्बन्ध है ? इस प्रकार हमारे चिंतन में 'अनावस्था दोष'[2] आ जायगा और समस्या का समाधान न हो सकेगा।

व्यवहार की ओर से परमार्थ पर विचार :

पुन: वे कहते हैं परमार्थ के प्रश्न पर यदि 'व्यवहार' की दृष्टि से विचार किया जाय तो भी कुछ उसी प्रकार की कठिनाइयों का हमें सामना करना पड़ेगा जिनका वर्णन पिछले खंड में किया जा चुका है। यदि व्यवहार परमार्थ से सम्बन्धित है तो केवल दोनों को संबंधित मान लेना ही पर्याप्त नहीं है—परमार्थ के आधार पर व्यवहार का स्पष्टीकरण भी आवश्यक है। यह

1. "For a thing without qualities is clearly not real. It. is mere Being or mere Nothing according as you take it simply for what it is or consider also that which it means to be. Such an abstraction is palpably of no use to us."—Appearance and Reality, p. 112
2. fallacy of Infinite Regress.

स्पष्ट है कि इस बात का स्पष्टीकरण सम्भव नहीं और इस प्रकार के प्रयास के साथ ही हम अनेक उलझनों में अपने को घिरा हुआ पाते हैं। पुन: वे कहते हैं यदि वे दोनों असम्बद्ध हैं तो हम एक स्थान पर दो विश्वों का समर्थन करते हैं—जो समान रूप से चकित करने वाले, उलझनों में डालने वाले तथा अबोधगम्य हैं।

निष्कर्षत: ब्रैडले कहते हैं कि किसी भी दृष्टिकोण से इस प्रश्न पर विचार क्यों न किया जाय इसका कोई संतोषप्रद हल हमारे सामने नहीं आता। यानी हम कितना भी प्रयास क्यों न करें अज्ञेय 'परमार्थ' के प्रत्यय की संतोषपूर्ण व्याख्या हमारे लिए संभव नहीं और ब्रैडले स्पष्ट कहते हैं कि जो बुद्धि को संतोष न प्रदान कर सके वह निश्चित ही आभास होगा—सत् नहीं हो सकता। अतएव परमार्थ सम्बन्धी यह सिद्धांत सर्वथा अयुक्त है।[1]

'अध्यात्मवाद' की भ्रांति का निराकरण :

इसी खंड द्वारा ब्रैडले उस आध्यात्मिक दृष्टिकोण की अपर्याप्तता को भी सिद्ध करते हैं, जो व्यावहारिक जगत से पृथक् एवं बाह्य परमार्थ के अस्तित्व का समर्थन करता है और साथ ही व्यावहारिक जगत की सत्ता का निषेध करता है। ब्रैडले के अध्यात्मवाद में व्यावहारिक जगत की तथ्यता को अस्वीकार नहीं किया गया है भले ही उन्होंने उसे अंतिमता न प्रदान की हो। वे स्पष्ट कहते हैं कि जिसके अस्तित्व का हमें बोध होता है उसकी तथ्यता का निषेध किस प्रकार किया जाय ?[2] साथ ही सत् के अतिरिक्त उसके अस्तित्व की कहीं और हम कल्पना भी नहीं कर सकते[3]। वह सत् में ही अस्तित्ववान्

1. Ibid., p, 114.
2. "What appears, for that sole reason, most indubitably is ; and there is no possibility of conjuring its being away from it.—Ibid, p. 114.
3. "To deny its existence or to divorce it from reality is out of the question. For it has a positive character which is indubitable fact, and however much this fact may be pronounced appearance, it can have no place in which to live except reality. Aad reality, set on one side and

Contd.

है पर निश्चित ही अपने वर्तमान रूप से भिन्न रूप में ही वह सत् में—सत् रूप में ही अस्तित्ववान है। इन निष्कर्षों की स्थापना अगले खंड में होगी जिसे उन्होंने 'सत्' नाम से व्यक्त किया है और जो ब्रैडले के भावात्मक निष्कर्षों की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

apart from all appearance, would assuredly be nothing. Hence what is certain is that, in some way, these inseparables are joined. This is the positive result which has emerged from our discussion. Our failure so for lies in this, that we have not found the way in which appearances can belong to reality."—Ibid., p. 115.

स्पष्ट है कि इस बात का स्पष्टीकरण सम्भव नहीं और इस प्रकार के प्रयास के साथ ही हम अनेक उलझनों में अपने को घिरा हुआ पाते हैं। पुनः वे कहते हैं यदि वे दोनों असम्बद्ध हैं तो हम एक स्थान पर दो विश्वों का समर्थन करते हैं—जो समान रूप से चकित करने वाले, उलझनों में डालने वाले तथा अबोधगम्य हैं।

निष्कर्षतः ब्रैडले कहते हैं कि किसी भी दृष्टिकोण से इस प्रश्न पर विचार क्यों न किया जाय इसका कोई संतोषप्रद हल हमारे सामने नहीं आता। यानी हम कितना भी प्रयास क्यों न करें अज्ञेय 'परमार्थ' के प्रत्यय की संतोषपूर्ण व्याख्या हमारे लिए संभव नहीं और ब्रैडले स्पष्ट कहते हैं कि जो बुद्धि को संतोष न प्रदान कर सके वह निश्चित ही आभास होगा—सत् नहीं हो सकता। अतएव परमार्थ सम्बन्धी यह सिद्धांत सर्वथा अयुक्त है।[1]

'अध्यात्मवाद' की भ्रांति का निराकरण :

इसी खंड द्वारा ब्रैडले उस आध्यात्मिक दृष्टिकोण की अपर्याप्तता को भी सिद्ध करते हैं, जो व्यावहारिक जगत से पृथक् एवं वाह्य परमार्थ के अस्तित्व का समर्थन करता है और साथ ही व्यावहारिक जगत की सत्ता का निषेध करता है। ब्रैडले के अध्यात्मवाद में व्यावहारिक जगत की तथ्यता को अस्वीकार नहीं किया गया है भले ही उन्होंने उसे अंतिमता न प्रदान की हो। वे स्पष्ट कहते हैं कि जिसके अस्तित्व का हमें बोध होता है उसकी तथ्यता का निषेध किस प्रकार किया जाय ?[2] साथ ही सत् के अतिरिक्त उसके अस्तित्व की कहीं और हम कल्पना भी नहीं कर सकते[3]। वह सत् में ही अस्तित्ववान्

1. Ibid., p, 114.
2. "What appears, for that sole reason, most indubitably is; and there is no possibility of conjuring its being away from it.—Ibid. p. 114.
3. "To deny its existence or to divorce it from reality is out of the question. For it has a positive character which is indubitable fact, and however much this fact may be pronounced appearance, it can have no place in which to live except reality. Aad reality, set on one side and

Contd.

है पर निश्चित ही अपने वर्तमान रूप से भिन्न रूप में ही वह सत् में—सत् रूप में ही अस्तित्ववान है। इन निष्कर्षों की स्थापना अगले खंड में होगी जिसे उन्होंने 'सत्' नाम से व्यक्त किया है और जो ब्रैडले के भावात्मक निष्कर्षों की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

apart from all appearance, would assuredly be nothing. Hence what is certain is that, in some way, these inseparables are joined. This is the positive result which has emerged from our discussion. Our failure so for lies in this, that we have not found the way in which appearances can belong to reality."—Ibid., p. 115.

खण्ड–दो

सत्

खण्ड—दो

सत्

१. सत् का सामान्य स्वरूप

दर्शन में विचार की मध्यस्थता से सत्ता का अनावरण :

ब्रैडले के अनुसार दर्शन अथवा तत्वमीमांसा विचार की मध्यस्थता से परम निरपेक्ष सत्ता को जानने का प्रयास है। वैसे तो संकल्प, विचार, भावना[1] तीनों के विश्लेषण से एक ही निरपेक्ष सत् मिलता है परन्तु दर्शन में सत्ता को जानने के लिए विचार का एक निश्चित रास्ता है और विचार के माध्यम से प्राप्त निरपेक्ष, संकल्प, विचार, भावना तीनों को समान रूप से संतुष्ट करना है। परन्तु जिस निरपेक्ष सत्ता का अध्ययन ब्रैडले प्रस्तुत करते हैं, वह ऐसा निरपेक्ष है जिसकी विचार मांग करता है और जिस मांग से विचार स्थायी रूप से संतुष्टि प्राप्त करता है।

जगत की समस्त विरोधी वस्तुएं सत् नहीं आभास हैं और सत्ता विरोधों से मुक्त हैं :

ब्रैडले कहते हैं कि यदि हम प्रकृति की किसी भी वस्तु का अध्ययन करें तो हम देखेंगे कि जगत की सब वस्तुएं सीमित व आत्मव्याघातपूर्ण हैं। उनमें एक आंतरिक विरोध विद्यमान है परन्तु सीमित होते हुए भी उन वस्तुओं में अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करने की एक अदम्य इच्छा[2] व क्षमता विद्यमान है। पुनः वे कहते हैं प्रत्येक सीमित सत्ता अनन्त विरोध से पीड़ित है और यह आंतरिक विरोध इसलिए है कि उसमें दो तत्व उपस्थित रहते हैं, जो परस्पर संघर्ष में आते रहते हैं। इन दो तत्वों को प्रतीकात्मक रूप में यथार्थ और आदर्श शब्द प्रतीकों से प्रस्तुत कर सकते हैं। इन्हें ब्रैडले 'तद्'

1. Concrete Universal.
2. According to Bosanquet it is called 'Nisus for whole'

(That) और 'किम्' (What) शब्दों से व्यक्त करते हैं और इनके विरोध को यथार्थ और आदर्श का निरंतर विरोध कहते है। यथार्थ शब्द वस्तु को वर्तमान स्थिति की ओर संकेत करता है यानी कि वस्तु क्या है और आदर्शशब्द वस्तु की आदर्श स्थिति की ओर संकेत करता है कि वस्तु क्या होना चाहती है। अतः यथार्थ और आदर्श का निरन्तर संघर्ष प्रत्येक सीमित वस्तु के व्यक्तित्व की विशेषता है। प्रत्येक सीमित सत्ता इस अन्तर्विरोध को तोड़कर स्थायी रूप से साम्य स्थिति में अवस्थित होना चाहती है, अन्य शब्दों में अपनी सीमाओं को तोड़कर स्थायी सामजस्य की स्थिति प्राप्त करना चाहती है और इस सामजस्य की आदर्श स्थिति को हम भावात्मक प्रत्ययों की मध्यस्थता से व्यक्त नहीं कर सकते। परन्तु अभावात्मक अथवा नकारात्मक प्रत्ययों से ही व्यक्त कर सकते हैं कि वह विरोधरहित[1] स्थिति है अर्थात् उस स्थिति में इस वर्तमान अन्तर्विरोध की स्थिति से मुक्ति मिल जायेगी और वह पूर्ण साम्यावस्था की स्थिति होगी।

विचार के विश्लेषण से निरपेक्ष मानदंड की प्राप्ति :

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, दर्शन में हम सत्ता को विचार की मध्यस्थता से ही जानने का प्रयास करते हैं विचार की प्रकृति के अन्वेषण से हम देखेंगे कि जगत की अन्य सभी वस्तुओं के समान वह भी सीमित है और वह भी यथार्थ और आदर्श के अन्तर्विरोध से पीड़ित है। इन नकारात्मक निर्णयों से कुछ स्वीकारात्मक तथ्य भी मिलते हैं अर्थात् जिनका आत्म-विरोधी व आभास कहकर खंडन किया जाता है वे अस्तित्वहीन नहीं हैं और वे सत् विहीन हैं। उनकी मध्यस्थता से हम सत् की प्राप्ति कर सकते हैं। अन्य शब्दों में सत् से उनका कुछ सम्बन्ध अवश्य होना चाहिए। अतः उनका अस्तित्व कहीं किसी प्रकार सत् में न मानकर असत् में मानना निश्चय ही कुछ अर्थ नहीं रखता। यही कारण है कि सत् की प्रकृति व विशेषताओं का निरूपण करने के पूर्ण, ब्रैडले ने सत् का मानदंड[2] क्या है, उसे किस प्रकार कहां तक जाना जा सकता है यह विचार करना आवश्यक समझा है। उनका एक प्रसिद्ध तार्किक सिद्धांत यह है कि 'हर निषेध का कुछ स्वीकारात्मक आधार होता है[3]। इस

---

1. State of Non-contradiction
2. Criterion of Reality
3. Every negative statement has some positive basis.

निरपेक्ष मानदंड है जिसके आधार पर वह (विचार) किसी तथ्य को आभास अथवा सत् कहने की क्षमता रखता है और स्वयं 'विरुद्धता' को स्वीकार नहीं करता अतः अबाधित्व ही सत् का मानदंड है। अंतिम सत्ता में स्वयं कुछ विरोध नहीं हो सकता। इसके एकांतिक होने का प्रमाण यह है कि चाहे हम इसे अस्वीकार करने का प्रयत्न करें अथवा इसके विषय में संदेह करने का यत्न करें, हमको प्रत्येक अवस्था में इसको मूक रूप से मानना पड़ता है।[१]

अन्य शब्दों में अपनी अस्वीकृति में ही यह स्वीकृति होती है। यदि कहा जाय कि क्या यह एकांतिक मानदंड[२] है तो इसका उत्तर होगा कि अन्यथा हम विचार के स्तर पर किस प्रकार निर्णय दे सकते हैं? हम देखते हैं कि विचार जब किसी वस्तु का मूल्यांकन करता है, तो अज्ञान रूप में उसमें सत का यह मानदंड उपस्थित रहता है जो प्रछन्न रूप से कार्य करता है। ब्रैडले कहते हैं "विचार करना ही विवेचन करना है, विवेचना करना ही आलोचना करना है और आलोचना करना ही सत्य के किसी मानदंड का प्रयोग करना है,[३]।

जिस प्रकार नैतिक चेतना अपने में नैतिक मानदंड निहित रखती है, उसी प्रकार वैचारिक अपना सैद्धांतिक चेतना[४] भी सत्य-असत्य विवेक रखने वाली चेतना है, अतः सत्य सम्बन्धी मानदंड स्वतः विचार में विद्यमान है जो संदेह करने योग्य नहीं है। इस प्रकार सक्रिय प्रतिमान के रूप में इस प्रकार सत्ता विचार के बीच में निहित है। निष्कर्षतः हम यह कह सकते हैं कि विचार के पास सत्ता का एक चित्र अवश्य है जिसको वह स्वीकार करता है और जिसका प्रयोग यह सत् के मानदंड के रूप में करता है किन्तु जिसको वह पूर्णतया प्राप्त नहीं कर पाता और वह मानदंड है सामंजस्य[५] का, जिसे ब्रैडले 'अविरोध[६]'

---

1. "And it is proved absolute by the fact that either in endevouring to deny it—or even in attempting to doubt it we tacitly assume its validity."
—Appearance and Reality, p. 120.
2. "Absolute criterion."
3. "Hence to think is to judge, and to judge is to criticise and to criticise is to use a criterion of reality."
—Ibid., p. 120.
4. "Theoretical consciousness (Thought).
5. "Coherence or Self consistency."
6. "Contradiction." (अ-व्याघात शब्द का भी प्रयोग किया गया है)

कहते हैं। पुन: ब्रैडले कहते हैं कि यदि सत्ता के बारे में हम भावात्मक रूप से अधिक कुछ नहीं कह सकते तो कम से कम इतना तो कह ही सकते हैं कि सत्ता को विरोधों से मुक्त होना चाहिए। यही सत्ता की प्रमुख विशेषता है। इस प्रकार सत्ता को ब्रैडले पूर्व स्थापित सत्य के रूप में मानते हैं।

आपत्ति :

संभव आपत्तियों की कल्पना करते हुए वे कहते हैं कि इस निरपेक्ष मानदंड के प्रति आपत्ति लायी जा सकती है कि यह मानदंड अनुभव द्वारा विकसित हुआ है, अत: अपनी प्रकृति में यह अनुभव सापेक्ष ही हो, अनुभव निरपेक्ष न हो। आपत्ति के प्रत्युत्तार में ब्रैडले कहते हैं कि अनुभव से प्राप्त प्रतीत होने पर भी वस्तुत: यह मानदंड निरपेक्ष ही है। हम ज्ञान या अनुभव का कहीं से प्रारम्भ करें हम तो देखेंगे कि यह मानदंड प्रारम्भ से अन्त तक इतना ही महत्वपूर्ण रहेगा जितना कि किसी स्थिति विशेष में है। जिस ज्ञान की मध्य-स्थता से हम इस मानदण्ड को प्रामाणिक मानते हैं वह ज्ञान स्वयं इस मानदंड पर आधारित है। अतएव जिसकी स्वीकृति पूर्वमान्य है उस पर सन्देह नहीं किया जा सकता। इसी अर्थ में ब्रैडले इस मानदंड को परम कहते हैं। ज्ञान स्वयं विरोध के नियम को स्वीकार करता है। अन्य शब्दों में ज्ञान यह है जिसमें अन्तर्विरोध का अभाव हो। जब तक मानव मस्तिष्क के तीन पक्षों विचार भावना, संकल्प को हम स्वीकार करते हैं तब तक विचार के इस मानदंड की स्वीकृति भी अनिवार्य है। अतएव यदि हम अनुभव से इसको प्रमाणिक भी करें तब भी वह एक अर्थ में 'निरपेक्ष' ही रहेगा।

उपर्युक्त सम्बद्धता के मानदण्ड के प्रति एक अन्य आपत्ति लाई जा सकती है कि क्या प्रमाण है कि सत्ता के बारे में एक यही मानदंड है ? अनेक अन्य मानदण्ड भी हो सकते हैं ? इस आपत्ति के विरुद्ध ब्रैडले कहते हैं कि मैं अनेक मानदंडों को स्वीकार नहीं करता यदि अनेक मानदंडों को स्वीकार कर भी लिया जाय तो प्रश्न स्वाभाविक हो जायेगा कि ये अनेक मानदड परस्पर सम्बन्धित हैं या असम्बन्धित ? यदि हम उन्हें परस्पर सम्बन्ध मान लेते हैं तो वे सभी मानदंड उसी सम्बद्धता के मानदंड के अन्तर्गत आ जायेंगे और उनका स्थान गौण हो जाने से वे अन्तिम नहीं रह जायेंगे। दूसरी ओर यदि हम यह

---

1. "Ultimate Reality it such that is does not contradict itself. Here is an absolute criterion."

स्वीकार करें कि ये मानदंड परस्पर असम्बद्ध है तो उनमें आपस में संघर्ष होगा और तब भी वे अन्तिम नहीं माने जायेंगे। उनकी स्वतन्त्र सत्ता मानने पर उनको अन्तिम नहीं माना जा सकता, उनका स्थान गौण ही रहेगा, क्योंकि जहाँ भी अनेकता होगी वहाँ विरोध होगा और जहाँ विरोध होगा वहाँ विरोधी सत्तों को अन्तिमता नहीं प्रदान की जा सकेगी।

पुन: ब्रैडले कहते हैं यदि यह कहा जाय कि आपने मात्र निषेधात्मक मानदंड[1] ही दिया है, तो प्रत्युत्तर में यह कहा जा सकता है कि मात्र निषेधात्मक कथन संभव नहीं है। उनकी पृष्ठभूमि में भावात्मक आधार या सत्ता की कल्पना अवश्य होती है, क्योंकि जब तक हमें भावात्मक ज्ञान नहीं होगा तब तक हम निषेधात्मक व्याख्या भी नहीं कर सकते, भले ही हम उसके बारे में स्पष्ट कथन न कर सकें। और ब्रैडले कहते हैं सत्ता के विषय में हमारा यह जो ज्ञान हैं, वह न्यूनतम अवश्य हैं, परन्तु उसको अभावात्मक ज्ञान नहीं कह सकते, वह जितना भी है, भावात्मक और निरपेक्ष है।

पुन: वे कहते हैं यदि हमें किसी सत्ता के विषय में यह ज्ञात हो जाय कि वह किस प्रकार कार्य कर रही है, तो हमें उसका कुछ भावात्मक ज्ञान अवश्य प्राप्त हो जाता है कि वह क्या है। अतएव सत्ता के विषय में भी हमें ज्ञात है कि एक सक्रिय प्रतिमान के रूप में किस प्रकार वह कार्य कर रही है और यह ज्ञान निश्चित एवं भावात्मक है अत: सत्ता निश्चित ही विरोध रहित है। अन्य शब्दों में सत्ता विचार के माध्यम से सम्बद्धता के मानदंड के रूप में कार्य कर रही है और यह ज्ञान उसके विषय में पर्याप्त है।

इस प्रकार ब्रैडले का सत्ता माप सिद्धांत आत्म-विरोधी तथ्य को अस्वीकार करता है अत: उनके अनुसार सत्ता का संगत होना आवश्यक है। यदि यह निश्चित है कि आत्म-विरोधी तथ्य सत्य नहीं होते तो हमें उसी निश्चितता के साथ तर्क के आधार पर यह विश्वास हो जाता है कि यथार्थ सर्वथा संगत है। क्योंकि हमारा मानदंड असंगति को अस्वीकार करता है इसलिए संगति का समर्थन करता हैं।

आभास सत्ता से पूर्ण भिन्न नहीं है :

ब्रैडले सत्ता के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की अन्तिमता में विश्वास

---

1. Negative criterion.

नहीं करते। किन्तु जिस भी सत्ता का हमें बोध होता है, और जिसे अन्तिमत्ता नहीं प्रदान कर सकते, उसे इस कारण वे त्याज्य और उपेक्षणीय नहीं मानते। ऐसी सत्ता को वे आभास कहते हैं और वह भी अन्ततः सत् में ही अवस्थित है क्योंकि जो कुछ प्रतीत होता है, जो आभास है, जिसका अनुभव होता है, और जिसका अस्तित्व है, वह सत् की सीमा के बाहर नहीं रह सकता। अतएव ये दो विरोधी तथ्य हो गये कि एक ओर आभासित सत्ता के अस्तित्व से उसकी तथ्यता से इन्कार नहीं किया जा सकता और दूसरी ओर ब्रैडले कहते हैं कि सत्ता ही एक मात्र सत् है। इन दोनों तथ्यों को मिलाकर इस प्रकार कहा जा सकता है कि अन्ततः आभास का भी अस्तित्व उसी एक पारमार्थिक सत्ता में ही होना है परन्तु अपने से भिन्न रूप में अर्थात् संबद्धता के साथ आभासों को सत्ता में अवस्थित होना है क्योंकि अपने इस असम्बद्ध रूप में सत्ता में उनके अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती। अतः हम यह कह सकते हैं कि 'जिस वस्तु की प्रतीति होती है, वह इस रूप में ही सत् है कि वह स्वयं-संगत भी है[1]।' यानी वह अपनी विसंगति का समर्पण कर चुकी है।

अन्य शब्दों में ब्रैडले कहते हैं कि "सत् की विशेषता यही है कि उसमें समस्त आभासित जगत की प्रत्येक वस्तु समन्वित रूप में उपस्थित रहती है"।[2] अतः सत्ता सबको अपने में समन्वित करने वाली है। इससे निष्कर्ष निकलता हैं कि आभास बहुत से हैं परन्तु सत्ता एक व पूर्ण है। सत्ता एक ऐसी ऐक्य[3] जो विभिन्न तत्वों को अपने में इस प्रकार आत्मसात् किये हुए है, कि इसमें उनकी परस्पर असम्बद्धता का विलय हो चुका है और अपने परस्पर सहयोग से वे एक ऐसी नई सम्बद्धता का निर्माण करते हैं उनका व्यक्तित्व परिपूर्णता को प्राप्त करता है। बोसांक्वे इस प्रकार की निरपेक्षता को व्यक्तित्व[4] कहते हैं जिससे यह ध्वनि निकलती है कि आभासित जगत की विविधता को किसी न किसी प्रकार से स्वयं संगत भी होना चाहिए

1. "We may say that everything which appears, is some how real in such a way as to be self-consistent."
—Appearance and Reality, p. 123.
2. "The character of the real is to possess everything phenomenal in a harmonious form."
3. "Unity"
4. "Individuality"

क्योंकि वह सत् के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं रह सकती और सत् से विरोध संभव नहीं है।

सत् व्यक्तिगत है :

सत्ता में किसी प्रकार के विरोध के लिए कोई स्थान नहीं। इसको अन्य शब्दों में इस प्रकार भी कहा जा सकता है, 'सत् व्यक्तिगत है।' वह इस अर्थ में एक है कि इसके निश्चित स्वरूप के अन्तर्गत सभी भेद एक व्यापक समन्वय में स्थित हो जाते हैं।[1] पुन: सत् एक है अत: व्यष्टित्व है। ब्रैडले की दृष्टि में व्यक्तिगत और आत्मगत में भेद है। सत् आत्मगत नहीं है क्योंकि तब तो वह अनात्म का विरोधी होगा और इस प्रकार आत्मगत और अनात्मगत के बीच द्वन्द्व उपस्थित हो जायगा जो सत् में सदा वर्जनीय है। व्यष्टित्व में यह तर्क मान्य नहीं है क्योंकि वह तो एकत्व और पूर्णत्व का प्रतिपादक है। हर एक सीमित सत्ता अपनी पूर्णता उस समय सत् में प्राप्त करती है, जिससे पृथक् व स्वतन्त्र उसका अपना कहीं यथार्थ अस्तित्व नहीं। सारी की सारी सीमित इकाइयां परिवर्तित और संशोधित रूप में उस परम सत्ता में विद्यमान होंगी क्योंकि वह पूर्ण इकाई उनका समन्वित रूप ही हैं व इनसे भी अधिक है। स्पष्ट है वह अनन्त ऐक्य किसी सान्त इकाई के समान नहीं हो सकती और वहां निर्विशेष इकाई भारतीय दर्शन में ब्रह्म के रूप में जाती है, वह सब सीमित इकाइयों को संपूर्णता प्रदान करने वाली है व भूमा है।

परन्तु भारतीय दर्शन में अद्वैत वेदांती इस परम निरपेक्ष की प्राप्ति की संभावना भी व्यक्त करते है कि इसकी अनुभूति की जा सकती है, अर्थात् ब्रह्म का साक्षात्कार किया जा सकता है और उस मायावी (जिसको ब्रैडले आभास कहते हैं) जगत को अन्तिम मानने की भ्रांति से छुटकारा पाया जा सकता है जब कि ब्रैडले के लिए यह एकता विचार का एक मात्र स्वयं सिद्ध अभ्युपगम[2] है। जिसकी वे सैद्धांतिक संभावना ही प्रस्तुत करते हैं। जीवन में इसकी प्राप्ति हो सकती है अथवा नहीं इसके बारे में वे कुछ नहीं कहते क्योंकि

---

1. "The real is individual it is one in the sense that its positive character embraces all differences in an inclusive harmony." --Appearance and Reality, p. 123.
2. Postulate (पूर्वमान्यताएं शब्द का भी प्रयोग किया जाता है).

उनके अनुसार यह निरपेक्ष सत्ता व इसकी व्याख्या मात्र सैद्धान्तिक स्तर की वस्तु है। जीवन में इसका साक्षात् हो सकता है और कैसे इस प्रश्न पर वे इस पुस्तक मौन हैं

सत् एक है :

सत् समग्र है, वह संगति स्वरूप है अतः इसे एक ही होना चाहिये। सत् में विभिन्नता विद्यमान है पर तभी तक है जब तक कि उसमें संघर्ष न हो। उससे विपरीत प्रतीत होने वाली वस्तु सत् नहीं हो सकती है। यदि सत् एक न होकर कई हों और वे सब स्वतंत्र हों तो भी हमें यह मानना पड़ेगा कि वे सभी समन्वित होकर एक पूर्ण में अस्तित्ववान है। इसके विपरीत यदि कई सत् एक दूसरे की सीमा निर्धारित करते हैं तब उनमें आपस में विरोध होगा और अन्ततोगत्वा वे पूर्व प्रतिपादित सिद्धांत के अनुसार आभास के अन्तर्गत ही रखे जा सकेंगे। ऐसी स्थिति में तब सत् कुछ और ही होगा। निरपेक्ष सत्ता अनेक नहीं एक है ; परस्पर स्वतंत्र सत्तायें सम्भव ही नहीं हैं,[1] अतः ब्रैडले के मतानुसार सभी आभास सत् से ही संबंधित हैं,[2] यही नहीं वे सभी आभास अन्ततः एक सत् में ही अस्तित्ववान है। अन्य शब्दों में, आश्चर्यचकित कर देने वाले दृश्य जगत के नानात्व में किसी प्रकार एकता और सगति अवश्य होनी चाहिये। सत् से पृथक् कहीं वह दृश्य जगत हो ही नहीं सकता और फिर सत् में आत्मविरोध नहीं होता है।

सत्ता को अनेक मानने से विचित्र कठिनाइयों की उत्पत्ति हो जाती है। इसके अतिरिक्त अस्तित्वों सतों की अनेकता का सामंजस्य उनकी स्वतंत्र सत्ताओं के साथ नहीं बिठाया जा सकता[4]। पुनः यदि हम सतों की अनेकता को

1. The absolu te is not, many, there are no inependent reals.
— "Appearance and Reality", p. 127.
2. "We saw that all appearance must belong to reality."
—Ibid., p. 123.
3. "The bewildering mass of phenomenal diversity must hence somehow be at unity and self-consistent, for it cannot be elsewhere than in reality, and reality excludes discord.
—Ibid., p. 123.
4. "The plurality of the reals can not be reconciled with their independence."
—Ibid, p., 124.

उसी प्रकार का माने जिस प्रकार अनेकता हमें अनुभूति में अथवा सम्बन्धाभाव की अवस्था में प्राप्त होती है तो एक अविभाजित अद्वैत[1] के स्वरूप के अतिरिक्त वह अनेकता अन्य कुछ कदापि नहीं हो सकती और इकाई में हम बलात् तत्वों का पृथक्करण करते हैं तो अनुभूति के साथ-साथ हम अनुभूति की सहज विविधता को भी नष्ट कर देते हैं। तब हमारे हाथ में अनेकता नहीं अपितु मात्र वैविध्य विहीन सत्ता रह जाती है जो शून्यवत् है।[2] अतः जिस एकता को हम अनुभूति के भीतर पाते हैं, वह हमारे सतों की स्वतंत्र सत्ता की कल्पना के विरुद्ध है। अनेकता की पृष्ठभूमि में उसे सूत्रबद्ध करने वाली एकता निहित रहती है, जो सत् है और जिससे पृथक् विविधता शून्यमात्र ही है। सम्बन्धों को एक वास्तविक अद्वैत के भीतर तथा उसी के आधार पर आश्रित माने बिना उसका कोई अर्थ नहीं। अनेकता और सम्बद्धता दोनों ही एक अद्वैत इकाई के व्यावहारिक पक्ष और लक्षण है।

मूर्त सत् :

अभी तक के कथन सत् के आकारात्मक और अमूर्त रूप का प्रतिपादन करते हैं इनसे अभी तक हमको निष्कर्ष रूप में यह ज्ञात हुआ कि प्रत्येक प्रतीयमान वस्तु[3] किसी न किसी प्रकार से सत् में स्थित है और परम सत् कम से कम इतना तो समृद्ध होना ही चाहिए जितना कि उसके आभास। और फिर परम सत् अनेक नहीं हैं क्योंकि स्वतंत्र सत्तों की की कोई सत्ता नहीं है। विश्व इस अर्थ में एक है कि उसके भेद एक ऐसी अद्वैत इकाई के भीतर समन्वित रूप से स्थित है कि जिसके परे और कुछ नहीं। अतः अभी तक सत् व्यष्टि हैं और एक तंत्र है। परन्तु हम इस व्यवस्था की स्थूल प्रकृति के विषय में कुछ जान सकते हैं।

ब्रैडले के अनुसार सत् मूर्त रूप है। वे सत् को मूर्त सामान्य कहते है क्योंकि जब सत् अन्ततः स्थूल वस्तुओं के नानातत्व को समन्वित करता है तो उसे हम स्थूल सामान्य कह सकते हैं। ब्रैडले में सत्ता इसी स्वरूप की है।

---

1. "Undivided whole" Ibid., p. 125.
2. "We are left not with plurality, but with mere being, or if you prefer it, with nothing." —Ibid., P. 125.
3. Phenomenal object.

सत् चेतन अनुभव है :

यदि सत् मूर्त रूप है तो हम पूछ सकते हैं कि वह किस अन्तविषय से परिपूर्ण है ? प्रत्युत्तर में ब्रैडले कहते है कि यह अन्तविषय अनुभूति है अतः सत्ता चेतना स्वरूप है।

विचार करने से स्पष्ट होता है कि "सत् होना अथवा केवल अस्तित्व होना सभी संभव है जब यह चेतना में उपलब्ध हों।"[१] संक्षेप में चेतन अनुभव सत् हैं और जो ऐसा नहीं है, वह सत् भी नहीं है। "अन्य शब्दों में हम कह सकते हैं कि जो सामान्यतः मानसिकीय अस्तित्व कहलाता है उससे बाहर कोई सत्ता या तथ्य नहीं।"[२] इस कथन की सत्यता को ब्रैडले प्रयोगात्मक ढंग से प्रमाणित करते हुए कहते हैं–" अस्तित्व की कोई भी वस्तु लीजिये, कोई चीज जिसे तथ्य कहा जा सके अथवा जिसकी कोई सत्ता मानी जा सके और निर्णय दीजिये कि क्या वह चेतन अनुभव में नहीं है ? संपूर्ण भावना और प्रत्यक्षीकरण के तत्वों को उसमें से पृथक् कर देने के पश्चात् किसी ऐसे अर्थ को ढूंढने का प्रयत्न कीजिये जिसमें आप उसके विषय में कुछ भी कह सकें, अथवा उसके तत्व का कोई अंश या उसके अस्तित्व के किसी पक्ष को बताइये जो चेतन अनुभव में नहीं है या उससे सम्बन्धित नहीं है। इस प्रयोग को दृढ़ता से करने के पश्चात् मैं अनुभूत वस्तु के अतिरिक्त अन्य किसी की भी प्राप्ति नहीं कर सकता।"[३]

---

1. "To be real, or even barely to exist, must be to fall within sentience," —Appearance and Reality. p. 127.
2. "We may say in other words that there is no being or fact out side at that which is commonly called psychica existence." —Ibid., p. 127
3. "Find any piece of existence, taken up anything that anyone could possibly call a fact, or could in any sense assert to have being, and then judge if it does not consist in sentient experience. Try to discover any sense in which you can still continue to speak of it, when all perception and feeling have been removed, or point out any fragment of its matter, any aspect of its being, which is not derived from and it not still relative to this source. When the experiment is made strictly. I can myself conceive of nothing else than the experienced." —Appearance and Reality, pp. 127–28

अत: ब्रैडले के अनुसार अनुभव ही सत् हैं। सत्ता अनुभव हैं इसको और अधिक स्पष्ट करते हुए ब्रैडले कहते हैं "अनुभव करने योग्य या प्रतीत अर्थ में कोई वस्तु मेरे लिए नितांत अर्थहीन नहीं होती। और मैं किसी वस्तु के बारे में तब तक नहीं सोच पाता जब तक कि मैं यह महसूस नहीं करता कि मैं उसके विषय में सोच नहीं रहा हूं या यह कि मैं अपनी इच्छा के विरुद्ध उस अनुभव करने योग्य वस्तु के रूप में सोच रहा हूं। अत: मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचता हूं कि मेरे लिए अनुभव वही है जो कि सत् हैं।"[1]

चेतना विश्व का आधार है इसलिए एक विशेष अर्थ में उसे विश्व से एक रूप कहा है। चेतना वह माध्यम हैं, जिसमें सत्ता अपनी अभिव्यक्ति को प्राप्त करती है। इसलिए चेतना से पृथक् उसके स्वरूप की कल्पना नहीं की जा सकती। इससे निष्कर्ष निकलता है कि चेतना की परिधि के बाहर किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है। इस स्वीकृति के आगे ब्रैडले यह भी स्वीकार करते हैं कि सत्ता सामान्य अर्थ में कल्पित चेतना से अधिक है, अर्थात् सत्ता मात्र चेतना ही नहीं है अपितु वह तो एक समन्वयकारी इकाई हैं। अत: सत् की कल्पना चेतना से असम्बद्ध रूप में नहीं कर सकते। निषेधात्मक अथवा भावात्मक दोनों ही रूपों में सबका सम्बन्ध चेतना से ही होना है। फलतः किसी भी अनुभवातीत सत् की कल्पना करना असम्भव हैं व अन्तर्विरोध पूर्ण हैं। इस प्रकार ब्रैडले भी ग्रीन की भांति कांट के परमार्थ के प्रत्यय को अस्वीकार करते हैं क्योंकि अजेयवादी उसको चेतना की परिधि से बाहर मानते हैं और ब्रैडले का कथन हैं कि "मेरी समझ में जो तथ्य इससे पृथक् हैं, वह केवल एक शब्द और असफलता मात्र हैं अथवा वह एक स्वयं विरोधी प्रयत्न है। यह एक दोषपूर्ण कल्पना हैं, जिसका अस्तित्व अर्थहीन असंगति हैं और इसलिए असम्भव हैं।"[2]

---

1. "And as I cannot try to think of it without ralizing either that I am not thinking at all, or that I am thinking of it against my will as being experienced, I am driven to conclusion that for me experience is the same as reality."
—Ibid., p. 128.

2: "The fact that falls elsewhere seems, in my mind, to be a mere word and a failure, or else any attempt at self contradiction. It is a vicious abstraction whose existence is meaningless nonsense, and is therefore not possible."
—Ibid., p, 128.

चेतना वह माध्यम है जिसके द्वारा हमें वस्तु सत्ता का बोध होता है, सत्ता चेतन रूप है, इसलिए चेतना के अभाव में सत्ता का चिंतन नहीं किया जा सकता। विश्व में से चेतना निकाल देने पर वह शून्य रह जायेगा।

यदि पूछा जाय कि चेतना क्या है ? तब प्रत्युत्तर में ब्रैड़ले का तात्पर्य उस चेतना से नहीं है, जिसका वर्णन डेकार्ट्स ने किया है क्योंकि उसको मानने से विश्व में दो पदार्थ हो जायेंगे—चेतन और अचेतन जिनका अस्तित्व आकस्मिक सम्बन्ध होने के नाते आभासित जगत में ही संभव है। पुनः यदि विश्व को ज्ञाता-ज्ञेय के रूप में बाँटते हैं तो सत्ता का कृत्रिम रूप ही ग्रहण किया जायेगा। अतः जिस चेतना को ब्रैडले भूमा के रूप में मानते हैं, वह बौद्धिक चेतना से एक रूप नहीं है। अर्थात् मेरी अथवा अन्य किसी की व्यक्तिगत चेतना में सारा विश्व समाविष्ट है ऐसा स्वीकार करना अनुचित है क्योंकि जिस चेतना से हम सत्ता को एक रूप कहते हैं वह हमारी व्यक्तिगत चेतना तथा उससे सम्बद्ध विश्व से अधिक व्यापक है। अन्य शब्दों में वह चेतना हमारी और विश्व की ही चेतना नहीं है पर यह सभी चेतन सत्ताओं और विश्व का अतिक्रमण करने वाली ऐसी चेतना है जिसमें मेरा, तुम और तुम्हारा का भेद नहीं रहता। वरन् जिसमें समस्त विश्व एक समन्वित रूप में समाहित है। वह ज्ञाता-ज्ञेय के द्वैत को पार करने वाली चेतना है जिसे ब्रैडले निरपेक्ष चेतना कहते हैं। वह सार्वभौम चेतना है।

ब्रैडले कहते हैं कि "अहं को पूर्णतया से स्वतंत्र रूप में सत् मानना और फिर उस पूर्णता को अहं के विशेषण के अर्थ में अपने अनुभव में लाना आपत्तिजनक प्रतीत होता है।" [१]

उस परम चेतना[२] लिए संपूर्ण विश्व एक विशेष हो सकता है, परन्तु सीमित चेतना के लिये नहीं। वे आगे कहते हैं कि "मैं सत् को चेतन रूप कहने में इस भूल का निराकरण करता हूं क्योंकि सत् की खोज में यदि हम अनुभव के पास जाते हैं तो उसमें हमें जिसका निश्चित रूप से अभाव मिलता है वह है ज्ञाता—ज्ञेय का अस्तित्व अथवा अन्य ऐसी कोई भी वस्तु जो स्वतः स्थित हो क्योंकि वहाँ हम जो पाते है वह एक प्रकार का अद्वैत है, एक ऐसी पूर्णता है जिसमें भेद तो किये जा सकते हैं परन्तु जिसमें कि विभागों का

1. To set up the subject as real independently of the whole, and to make the whole in it experience in the sense of an adjective of that subject, seems to me indefensible."
—Appearance and Reality, p. 128.

अस्तित्व नहीं।"[1] अतएव सत्ता में पृथक्-पृथक् खंडों का अस्तित्व नहीं हैं, जिन्हें हम किसी स्तर पर संयुक्त न कर सकें।"सत् होने के लिये यह आवश्यक है कि चेतना से वह अभिन्न हो"[2]

उपर्युक्त प्रस्तुति से स्पष्ट हो गया होगा कि ब्रैडले किसी वस्तु का किसी अन्य से पार्थक्य अस्वीकार करते हैं। इस प्रकार की किसी भी वस्तु को स्वयं सत् के रूप में कदापि उपस्थित नहीं किया जा सकता। क्योंकि इस प्रकार के किसी भी तथ्य को हम चेतना की इकाई से पृथक् नहीं पा सकते और न ही इन दोनों को व्यवहार अथवा कल्पना में भी एक-दूसरे से पृथक् किया जा सकता है और जो इस अर्थ में सापेक्ष है, वह निरपेक्ष सत् के रूप में कैसे प्रस्तुत हो सकता है ?

"अनुभूति या प्रत्यक्ष से सर्वथा अविभाज्य होना अथवा अनुभूति इकाई में एक प्रमुख तत्व होना निःसंदेह यह भी एक अनुभव है। संक्षेप में सत् और सत्ता का चेतना के साथ तादात्म्य संबंध है। वे न तो चेतना के विरुद्ध ही हो सकते हैं और न अनन्तोगत्वा उनका उससे भेद ही किया जा सकता है।[3] प्रत्यक्ष एवं भावना से अभिन्न होना ही उस जैसा होना है।

निष्कर्षतः सत् को चेतन स्वरूप मानने का महत्व पूर्ण अर्थ है कि

---

1. "And when I contend that reality must be sentient, my conclusion almost consists in the denial of this fundamental error. For if seeking for reality, we go to experience, what we certainly do not find is a subject or an object, or indeed any other thing, whatever, standing separate and on its own bottom. What we discover rather is a whole in which distinctions can be made, but in which divisions do not exist." —Ibid., p. 128
2. "I mean that to be real is to be indissolubly one thing with sentience." —Appearance and Reality, p. 128.
3. "But to be utterly indivisible from feeling or perception, to be an integral element in a whole which is experienced, this surely is itself to be experience. Being and reality are, in brief, one thing with sentience, they can neither be opposed to, nor even in the end distinguished from it." —Ibid., p. 129.

सत्ता का अस्तित्व हमारी चेतना की परिधि से बाहर नहीं है, जो भी कुछ विश्व में है, वह हमारी चेतना के अनुभव में आने वाली वस्तु है और निषेधात्मक रूप से यदि हम सत्ता में से वह सब कुछ निकाल लें जो चेतना के माध्यम से जाना जाता है तो वह शून्य बिन्दु के समान होगी। अत: सत्ता अनुभव है और अनुभव सत्ता है क्योंकि अनुभव से पृथक् किसी भी सत्ता का अनुभव नहीं किया जा सकता। अत: सत्ता कम से कम अनुभव करने योग्य है बल्कि सत्ता अनुभव ही है। इसी के आधार पर सत्ता को चेतन अनुभव कहते है।

सत्ता में विभाजनों का कोई स्थान नहीं :

उपर्युक्त कथनों से स्पष्ट होता है कि सत्ता अविभाज्य है। अर्थात् सत्ता में किसी प्रकार का विभाजन संभव नहीं है। विभाजनों के घोर विरोधी होने के कारण ब्रैडले ने मूलगुण और उपगुण, विशेष्य और विशेषण, सम्बन्ध और गुण आदि विभिन्न विभाज्यों की विस्तृत विवेचना की है और उसको असत् माना है। इसके द्वारा सत्ता का स्वरूप पहचान पाना असम्भव है। अत: निरपेक्ष सत्ता एक व अविभक्त एकता है। वह एक सर्वग्राही अनुभव है- जिसमें सब भेद एक रस होकर समाहित है[1] कोई भावना या विचार इसकी परिधि के बाहर नहीं है। निरपेक्ष एक ऐसा क्रम है जिसकी सामग्री चेतन अनुभव के अलावा अन्य कुछ नहीं।[2]

सैद्धान्तिक स्तर की सम्बद्धता के साथ व्यावहारिक असम्बद्धता का सामंजस्य :

अभी तक हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे है कि सत्ता को केवल सैद्धान्तिक संगति कहा जा सकता है। सत्ता में वैयक्तिक अनुभूति के अन्तर्गत सभी सम्भावित तत्व आ जाते हैं जहाँ कोई विरोध नही रह सकता। अत: सत्ता

---

1. "It will hence be single and all-inclusive experience, which embraces every partial diversity in concrord."
—Appearance and Reality, p. 129.
2. "The absolute is one *system*, and that its contents are nothing but sentient experience." —Ibid., 129

सम्बद्धता है। सैद्धान्तिक पूर्णता[1] है। अब ब्रैडले प्रश्न उठाते हैं कि क्या ऐसी सत्ता जो सैद्धान्तिक स्तर पर अन्तर्विरोध रहित व सामंजस्य पूर्ण है, व्यावहारिक स्तर पर भी संतोषप्रद है अथवा नहीं? सैद्धान्तिक स्तर की सम्बद्धता के साथ व्यावहारिक असम्बद्धता का मेल हो सकता है या नहीं? अन्य शब्दों में संसार में जो दुख व बुराइयां हैं क्या ये परम सत्ता के साथ सामंजस्य स्थापित कर सकती हैं? अर्थात् क्या निरपेक्ष अपने में व्यावहारिक असम्बद्धताओं को भी समन्वित करता है? प्रत्युत्तर में ब्रैडले कहते हैं कि जहाँ तक सैद्धान्तिक स्तर की सम्बद्धता का प्रश्न है वह अपने में एक स्वतंत्र व पूर्ण प्रश्न है, इससे व्यावहारिक स्तर की सम्बद्धता का कोई अनिवार्य व तार्किक संबंध नहीं। सैद्धान्तिक व व्यावहारिक दोनों स्तर परस्पर एक-दूसरे से भिन्न हैं। अतः एक सम्बद्धता जो सैद्धान्तिक स्तर पर संतोष दे वह व्यावहारिक स्तर पर भी संतोषप्रद होगी यह अनिवार्य नहीं है। क्योंकि दोनों में कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। अतः ऐसी भी कल्पना की जा सकती है, जहाँ वस्तु सैद्धान्तिक स्तर पर संतोषप्रद हो पर व्यावहारिक स्तर पर न हो और विपरीततः भी हो सकता है।

सत् पूर्ण है :

वे जो मानवीय प्रकृति के समन्वित रूप में विश्वास करते हैं, उनके लिये यह कल्पना करना कि एक पक्ष सब पक्षों को संतुष्ट नहीं करता, कठिन है। ब्रैडले कहते हैं कि यह विचारधारा मेरी समझ में पर्याप्त सबल बन सकती है। अर्थात् जो वस्तु सैद्धान्तिक स्तर पर सन्तोष देने वाली है उसे जीवन के सभी पक्षों के साथ न्याय करना चाहिए। मानवीय जीवन के सभी पक्ष एक-दूसरे से संयुक्त व समन्वित हैं, इसलिए पृथक्-पृथक् उनके संतोष की कल्पना करना अनुचित है। परन्तु सैद्धान्तिक स्तर पर मानव प्रकृति के एक पक्ष पर खड़े होकर बिल्कुल दूसरे पक्ष के साथ न्याय कर सकना भी नितांत अनुचित है[2]। क्योंकि दोनों पक्षों का संतोष समान है, इसको सैद्धान्तिक स्तर पर सिद्ध नहीं कर सकते। दर्शन या तत्वज्ञान में बौद्धिक स्तर से ही हम

1. Theoretical perfection.
2. "But to stand on one side of our nature, and to argue from that directly to the other side, seems illegitimate."
—p. 136.

विशेष रूप से सम्बद्ध हैं, इसलिए बौद्धिक संतोष ही हमारी दृष्टि में सर्वाधिक महत्व रखता है। तब भी तत्वमीमांसा के अन्तर्गत हमारे अस्तित्व के सभी पक्षों का मूल्यांकन होना चाहिए। इसी की पुष्टि में ब्रेडले कहते हैं—"यदि तत्वज्ञान की अपनी स्थिति दृढ़ रखनी है तो मेरी समझ में उसको हमारी सत्ता के सभी पक्षों पर विचार करना पड़ेगा।"[1] और यह बात असंभव भी नहीं है। अतः ब्रैडले कहते हैं—"मैं स्वीकार ही नहीं करता वरन् दावा करता हूं कि कोई परिणाम यदि हमारी संपूर्ण प्रकृति को संतुष्ट नहीं करता तो उसका पूर्णता में कमी है[2]।"

सत् को एक अविभक्त एकता होने के नाते पूर्ण होना ही चाहिए। अपरोक्ष रूप से या तर्क से इस बात को प्रमाणित किया जा सकता है कि वह जो सैद्धान्तिक स्तर पर संतोष प्रदान करने वाला है उसे अन्य स्तरों पर भी संतोष प्रदान करने वाला होना चाहिए क्योंकि विचार, भावना, संकल्प तीनों एक दूसरे से परस्पर सम्बद्ध होने के नाते अपनी पूर्णता के लिए परस्पर एक दूसरे पर आश्रित है। अतः विचार की पूर्णता की स्थिति में अन्य दो तत्व (भावना और संकल्प) भी समाविष्ट होंगे अर्थात् संतुष्ट होंगे। अतएव वह ऐसी परिपूर्णता की स्थिति होगी जहां विचार, भावना, संकल्प तीनों की परिपूर्णता होगी। हमारे अनुभवगम्य होने से और उसमें कोई आत्मविरोध सम्भव न होने से वह निश्चय ही सब प्रकार की अपूर्णताओं से अस्पर्श्य है। यदि उसमें कोई अपूर्णता होती तो वह हमारी बुद्धि को पूर्णतः स्थायी रूप से संतुष्ट न कर पाता क्योंकि बौद्धिक संतोष हमारे व्यक्तित्व का एक ऐसा अंश मात्र है और अन्तिम रूप से हमारे सभी पक्ष आंतरिक रूप से सम्बन्धित है इसलिए एक का संतोष सबको संतोष प्रदान करने वाला होगा। अतः सत् हर प्रकार से पूर्ण है क्योंकि उसमें सब स्तरों के विरोध समन्वित रूप से अवस्थित होते हैं।

सुख का संतुलन :

सत्ता में दुःख के ऊपर सुख का संतुलन है क्योंकि सत्ता न तो अपने आप का खंडन कर सकती है और न उसके अस्तित्व में विभाजन ही सम्भव है।

---

1. "And if metaphysics is to stand, it must, I think, take account of all sides of our being." —Ibid., p. 130.
2. "I admit, or rather I would assert, that a result, if it fails to satisfy our whol nature comes short of perfection." —Ibid., p. 130.

सम्बद्धता है। सैद्धान्तिक पूर्णता[1] है। अब ब्रैडले प्रश्न उठाते हैं कि क्या ऐसी सत्ता जो सैद्धान्तिक स्तर पर अन्तर्विरोध रहित व सामंजस्य पूर्ण है, व्यावहारिक स्तर पर भी संतोषप्रद है अथवा नहीं ? सैद्धान्तिक स्तर की सम्बद्धता के साथ व्यावहारिक असम्बद्धता का मेल हो सकता है या नहीं ? अन्य शब्दों में संसार में जो दुख व बुराइयां हैं क्या ये परम सत्ता के साथ सामंजस्य स्थापित कर सकती हैं ? अर्थात् क्या निरपेक्ष अपने में व्यावहारिक असम्बद्धताओं को भी समन्वित करता है ? प्रत्युत्तर में ब्रैडले कहते हैं कि जहाँ तक सैद्धान्तिक स्तर की सम्बद्धता का प्रश्न है वह अपने में एक स्वतंत्र व पूर्ण प्रश्न है, इससे व्यावहारिक स्तर की सम्बद्धता का कोई अनिवार्य व तार्किक संबंध नहीं। सैद्धान्तिक व व्यावहारिक दोनों स्तर परस्पर एक-दूसरे से भिन्न है। अत: एक सम्बद्धता जो सैद्धान्तिक स्तर पर संतोष दे वह व्यावहारिक स्तर पर भी संतोषप्रद होगी यह अनिवार्य नहीं है। क्योंकि दोनों में कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। अत: ऐसी भी कल्पना की जा सकती है, जहाँ वस्तु सैद्धान्तिक स्तर पर संतोषप्रद हो पर व्यावहारिक स्तर पर न हो और विपरीतत: भी हो सकता है।

सत् पूर्ण है :

वे जो मानवीय प्रकृति के समन्वित रूप में विश्वास करते हैं, उनके लिये यह कल्पना करना कि एक पक्ष सब पक्षों को संतुष्ट नहीं करता, कठिन है। ब्रैडले कहते हैं कि यह विचारधारा मेरी समझ में पर्याप्त सबल बन सकती है। अर्थात् जो वस्तु सैद्धान्तिक स्तर पर सन्तोष देने वाली है उसे जीवन के सभी पक्षों के साथ न्याय करना चाहिए। मानवीय जीवन के सभी पक्ष एक-दूसरे से संयुक्त व समन्वित हैं, इसलिए पृथक्-पृथक् उनके संतोष की कल्पना करना अनुचित है। परन्तु सैद्धान्तिक स्तर पर मानव प्रकृति के एक पक्ष पर खड़े होकर बिल्कुल दूसरे पक्ष के साथ न्याय कर सकना भी नितांत अनुचित है[2]। क्योंकि दोनों पक्षों का संतोष समान है, इसको सैद्धान्तिक स्तर पर सिद्ध नहीं कर सकते। दर्शन या तत्वज्ञान में बौद्धिक स्तर से ही हम

---

1. Theoretical perfection.
2. "But to stand on one side of our nature, and to argue from that directly to the other side, seems illegitimate."
—*p. 136.*

विशेष रूप से सम्बद्ध हैं, इसलिए बौद्धिक संतोष ही हमारी दृष्टि में सर्वाधिक महत्व रखता है। तब भी तत्वमीमांसा के अन्तर्गत हमारे अस्तित्व के सभी पक्षों का मूल्यांकन होना चाहिए। इसी की पुष्टि में, ब्रैडले कहते हैं—"यदि तत्वज्ञान को अपनी स्थिति दृढ़ रखनी है तो मेरी समझ में उसको हमारी सत्ता के सभी पक्षों पर विचार करना पड़ेगा।"[1] और यह बात असंभव भी नहीं है। अतः ब्रैडले कहते हैं—"मैं स्वीकार ही नहीं करता वरन् दावा करता हूं कि कोई परिणाम यदि हमारी संपूर्ण प्रकृति को संतुष्ट नहीं करता तो उसका पूर्णता में कमी है[2]।"

सत् को एक अविभक्त एकता होने के नाते पूर्ण होना ही चाहिए। अपरोक्ष रूप से या तर्क से इस बात को प्रमाणित किया जा सकता है कि वह जो सैद्धान्तिक स्तर पर संतोष प्रदान करने वाला है उसे अन्य स्तरों पर भी संतोष प्रदान करने वाला होना चाहिए क्योंकि विचार, भावना, संकल्प तीनों एक दूसरे से परस्पर सम्बद्ध होने के नाते अपनी पूर्णता के लिए परस्पर एक दूसरे पर आश्रित है। अतः विचार की पूर्णता की स्थिति में अन्य दो तत्व (भावना और संकल्प) भी समाविष्ट होंगे अर्थात् संतुष्ट होंगे। अतएव वह ऐसी परिपूर्णता की स्थिति होगी जहां विचार, भावना, संकल्प तीनों की परिपूर्णता होगी। हमारे अनुभवगम्य होने से और उसमें कोई आत्मविरोध सम्भव न होने से वह निश्चय ही सब प्रकार की अपूर्णताओं से अस्पर्श्य है। यदि उसमें कोई अपूर्णता होती तो वह हमारी बुद्धि को पूर्णतः स्थायी रूप से संतुष्ट न कर पाता क्योंकि बौद्धिक संतोष हमारे व्यक्तित्व का एक ऐसा अंश मात्र है और अन्तिम रूप से हमारे सभी पक्ष आंतरिक रूप से सम्बन्धित है इसलिए एक का संतोष सबको संतोष प्रदान करने वाला होगा। अतः सत् हर प्रकार से पूर्ण है क्योंकि उसमें सब स्तरों के विरोध समन्वित रूप से अवस्थित होते हैं।

सुख का संतुलन :

सत्ता में दुःख के ऊपर सुख का संतुलन है क्योंकि सत्ता न तो अपने आप का खंडन कर सकती है और न उसके अस्तित्व में विभाजन ही सम्भव है।

---

1. "And if metaphysics is to stand, it must, I think, take account of all sides of our being." —Ibid., p. 130.
2. "I admit, or rather I would assert, that a result, if it fails to satisfy our whol nature comes short of perfection." —Ibid., p. 130.

दुःख के अस्तित्व को अस्वीकार तो नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसका भी अनुभव तो होता है, किन्तु सुख के साथ उसकी मात्रा क्षीण होती रहती है। अन्त में दुख से सुख की मात्रा ही अधिक होती है। ब्रैडले का कथन है कि इस संसार में, जिसे हम देखते हैं, निष्पक्ष भाव से निरीक्षण करने पर दुख से सुख ही अधिक मिलेगा। ठीक-ठीक अनुमान लगाना तो कठिन है और बहुत सम्भव है कि निर्णय में अतिशयोक्ति हो।

इसके अतिरिक्त ब्रैडले के अनुसार निरपेक्ष सत्ता में दुख खो ही नहीं जाता है बल्कि वास्तव में वह सुख को बढ़ाने में एक प्रकार की प्रेरणा का कार्य करता है। हो सकता है यह सम्भव हो किन्तु उसे सिद्ध नहीं किया जा सकता है। दुःख से सुख अधिक हैं यह अनुभव के द्वारा प्रमाणित किया जा सकता हैं। ब्रैडले को पूर्ण निश्चय हैं कि निरपेक्ष सत्ता में दुःख से सुख की मात्रा अधिक है।

सत् अति व्यक्तिगत है[1] :

इसके पश्चात् वे व्यक्ति सम्बन्धी प्रश्न भी उठाते हैं। यह कहा जा सकता हैं कि निरपेक्ष सत्ता में सब कुछ है इसलिए उसे व्यक्तित्व सम्पन्न भी होना चाहिए। प्रत्युत्तर में ब्रैडले कहते हैं कि निरपेक्ष एक सीमित व्यक्ति नहीं रखता क्योंकि व्यक्तित्व में कुछ भेद निहित हैं जो निरपेक्ष में सम्भव नहीं। निष्कर्षतः सत् को व्यक्तिगत नहीं कहा जा सकता क्योंकि सत् व्यक्तिगत हैं और उससे भी अधिक हैं, एक अर्थ में वह अति-व्यक्तिगत है। वह व्यक्तित्व है जिसमें सब भेद समन्वित होकर समाहित हो जाते हैं। एक अन्य दृष्टि से क्योंकि सत् में ही सब कुछ है इसलिए व्यक्तित्व भी उसमें होगा। पूर्ण एकत्व में पूर्ण समन्वय और समरसता होती है, वह निरपेक्ष सत्ता में ही सम्भव है, व्यक्तित्व में भेद हैं, सीमा हैं, विरोध हैं अतः उसका प्रयोग सीमित इकाई के लिए ही किया जा सकता हैं, निरपेक्ष के लिए नहीं, निरपेक्ष अति व्यक्तिगत हैं जो सभी सीमित व्यक्तियों से अधिक है।

सत्ता व विश्व की चेतन सीमित इकाइयों का सम्बन्ध :

प्रश्न हो सकता है कि विश्व की विभिन्न चेतन इकाइयों से सत् का

1. Super-personal."

क्या संबंध हैं तो ब्रैडले का उत्तर होगा कि परम सत्ता सान्त चेतन इकाइयों को उनकी परिपूर्णता प्रदान करती है। एक महत्वपूर्ण अर्थ में सीमित चेतन इकाइयां अपनी सत्ता व अर्थ के लिए अनन्त पर आश्रित हैं। परम सत्ता सान्त इकाइयों की चरम प्राप्ति है । अतएव सत्ता और सांत इकाइयों में आंतरिक व अनिवार्य और अभिन्न सम्बन्ध है। परम सत् अंश या बीज रूप में प्रत्येक सीमित चेतना के अन्तर्गत विद्यमान है क्योंकि ब्रैडले आंतरिक संबंध के सिद्धान्त[1] को स्वीकार करते हैं। ब्रैडले के अनुसार अपने में अन्तर्निहित परम सत् के अधीन होकर ही सीमित सत्तायें अपनी पूर्णता प्राप्त कर सकती हैं। मैक्टागर्ट एकत्व की अपेक्षा वैविध्य को अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं तभी एकत्व को अपने में विद्यमान इकाइयों का मात्र योग मानते हैं और भारतीय दार्शनिक हीरालाल हाल्दार व कैंपर्ड सांत व अनन्त सत्ता में सापेक्ष सम्बन्ध मानते हैं। स्पष्ट है इनका विचार ब्रैडले से भिन्न है।

अन्त में ब्रैडले कहते हैं कि सत्ता को जानना सीमित चेतन इकाइयों के लिए असम्भव है, क्योंकि हम सत्ता को जानने के लिए जिस तरीके का प्रयोग करते हैं, वह सीमित है और उसमें विरोध है। अत: सीमित, विरोधपूर्ण बुद्धि या विचार से हम असीमित विरोध रहित सत्ता को नहीं जान सकते। यदि हम किसी स्तर पर सत्ता को जान लेंगे तब हमारी सीमित बुद्धि का अन्त हो जायगा। अतएव अनन्त सत्ता का ज्ञान बौद्धिक चेतना के माध्यम से नहीं हो सकता। क्योंकि उसकी अपनी सीमाएं हैं। बुद्धि पूर्ण ज्ञान के लिए सहयोगी नहीं यह केवल व्यावहारिक जगत के ज्ञान के लिए ही उपयोगी है। यह दृश्य संसार अन्तिम सत् नहीं है क्योंकि इसे विरोध रहित नहीं कहा जा सकता, यह तो आभास मात्र है। पुन: ब्रैडले कहते हैं—भेद रहित निरपेक्ष निर्बाध सत्ता में संसार का नानात्व समाविष्ट तो हो जाता है, किन्तु उसके सब अंग अपनी विशिष्टता समाप्त नहीं कर देते। बुद्धि के स्तर पर पूर्ण निरपेक्ष सत्ता का बोध होना असम्भव है, परन्तु उसके सामान्य स्वरूप की कल्पना तो हम कर ही सकते हैं। अतिसम्बन्धात्मक अनुभूति[2] में ब्रैडले को अविभक्त सम्पूर्ण सत्ता का दर्शन होता है व्यावहारिक बुद्धि से नहीं। परन्तु व्यावहारिक बुद्धि से हम सत्ता का एक सामान्य चित्र अवश्य बना सकते है और वह चित्र बुद्धि को संतोष प्रदान करता है, इसमें कोई संदेह नहीं।

1. Theory of internal relations.
2. Supra Relational experience.

२ विचार और सत्

ब्रैडले के अनुसार सत् एक है और इसकी प्रकृति आध्यात्मिक हैं। भिन्न-भिन्न दार्शनिक सत्ता को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से देखने का प्रयास करते हैं। ब्रैडले भी एक विशेष दृष्टिकोण से यानी "विचार" के माध्यम से सत्ता को जानना चाहते हैं। इस आशय से 'विचार' की प्रकृति का विस्तृत अध्ययन अत्यावश्यक हो जाता है।

विचार का स्वरूप :

विचार का सार[1] यथार्थ अस्तित्व से भिन्नता रखता है और "केवल भ्रमवश ही हमें विचार को सत् से कम मानने में कठिनाई होती है।"[2] जब तक हम विचार को ठीक से नहीं समझ पाते तब तक सत्ता से इसके पार्थक्य को स्पष्टतः नहीं समझा जा सकता व जब हमें विचार की प्रकृति की जानकारी हो जाती हैं, तब तुरन्त ही यह स्पष्ट हो जाता है कि विचार सत् से कम है।

विचार के स्वरूप की व्याख्या की पृष्ठभूमि में एक सामान्य विश्वास प्रतिध्वनित होता है और वह यह है कि हर सीमित सत्ता मात्र सीमित ही नहीं होती वरन् वह अपनी प्रकृति में ससीम-असीम होती है, क्योंकि उसके भीतर असीमित सत्ता बीज रूप यानी सम्भावना के रूप में निहित होती है। यह उसका अपना ही वास्तविक स्वरूप है जिसे कालांतर में अभिव्यंजित होना है, अतएव इस असीमित स्वरूप को प्राप्त करने की एक इच्छा अव्यक्त या प्रेरणा प्रत्येक सीमित सत्ता में विद्यमान है। अतः प्रत्येक सीमित सत्ता अन्तर्विरोध से पीड़ित है। इस आन्तरिक विरोध को ब्रैडले प्रतीकात्मक रूप में "यथार्थ" और "आदर्श" शब्द प्रतीकों से प्रस्तुत करते हैं व इसे तद् और किम् का निरूतर विरोध कहते हैं। उनके अनुसार प्रत्येक सीमित सत्ता तत् और किम् के अन्तर्विरोध से

---

1. Essence.
2. "It is only by misuderstanding that we find difficulty in taking thought to be something less than reality"

—A. and R. Page 143.

पीड़ित होने के कारण आभास है। यद्यपि तद् और किम् का यह कथाकथित भेद अन्तिम दृष्टि से वास्तविक नहीं है। प्रत्येक अस्तित्ववान वस्तु में एक प्रकार की एकता और समग्रता होती है तथा उसके सभी पक्ष एक अविभाज्य एकता में सूत्रबद्ध होते हैं। उनकी यह एकता न तो खंडित ही होती है, और न नष्ट ही की जा सकती है। अतः अस्तित्व और अन्तर्विषय का यह भेद काल्पनिक और बौद्धिक ही है।

तत्वमीमांसक होने के कारण ब्रैडले विचार के ही माध्यम से सत्ता के स्वरूप को प्रस्तुत करना चाहते हैं और स्पष्ट रूप से विचार और सत्ता के अन्तर को स्वीकार करते हैं। विचार को सत्ता से भिन्न बताते हुए विचार की प्रकृति की व्याख्या करते हुये वे कहते हैं कि विचार अपनी प्रकृति में असम्बद्ध है।[1] अतः वह सत् से कम है। यही कारण है कि सत्ता को विचार की मध्यस्थता से पूर्णतः अनावृत करना संभव नहीं है। यद्यपि सत्ता के स्वरूप को व्यक्त करना विचार का कार्य है परन्तु सत्ता के प्रस्तुतीकरण में विचार अपनी प्रकृति-प्रस्तुतिकरण की विशिष्ट शैली के कारण कभी भी पूर्णतः सफल नहीं हो पाता। विचार को अपने लक्ष्य की प्राप्ति द्वारा संतुष्टि चाहिए। इस कारण परम सत् से कम में वह संतुष्ट नहीं होता फिर भी वह उसे प्रस्तुत करने का प्रयास अवश्य करता है।

यहाँ ब्रैडले के समक्ष यह कठिनाई उपस्थित होती है कि यदि विचार सत् को पूर्णतः अनावृत नहीं कर सकता और यह निरपेक्ष सत् विचार से परे है, तो निश्चय ही वह हमारे लिए सदैव एक अज्ञेय सत्ता के रूप में ही उपलब्ध होगा। स्पष्ट है अपने आदर्श का प्राप्त करने के लिये विचार को अपने निजी व्यक्तित्व का परित्याग करना होगा, उसे अपने स्वरूप में आमूल परिवर्तन लाना होगा, अन्य शब्दों में इसी को ब्रैडले कहते हैं कि विचार को अपने आदर्श-परम सत्ता की प्राप्ति के लिये आत्महत्या कर लेनी होगी।[2] अतः विचार, मात्र विचार के रूप में कभी अपने अन्तर्विरोध से मुक्त नहीं हो सकता पर उसका आदर्श सर्वथा अन्तर्विरोध से मुक्ति की अवस्था है।

विचार प्रत्ययात्मक है :

प्रश्न उठता है कि विचार अपने अन्तर्विरोधों से क्यों नहीं मुक्त हो

1. Discursive. (इसके लिए खण्ड धर्मी का भी प्रयोग किया जाता है।)
2. "Thought must commit suicide in order to become whole."

२ विचार और सत्

ब्रैडले के अनुसार सत् एक है और इसकी प्रकृति आध्यात्मिक है। भिन्न-भिन्न दार्शनिक सत्ता को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से देखने का प्रयास करते हैं। ब्रैडले भी एक विशेष दृष्टिकोण से यानी "विचार" के माध्यम से सत्ता को जानना चाहते हैं। इस आशय से 'विचार' की प्रकृति का विस्तृत अध्ययन अत्यावश्यक हो जाता है।

विचार का स्वरूप :

विचार का सार[1] यथार्थ अस्तित्व से भिन्नता रखता है और "केवल भ्रमवश ही हमें विचार को सत् से कम मानने में कठिनाई होती है।"[2] जब तक हम विचार को ठीक से नहीं समझ पाते तब तक सत्ता से इसके पार्थक्य को स्पष्टतः नहीं समझा जा सकता व जब हमें विचार की प्रकृति की जानकारी हो जाती है, तब तुरन्त ही यह स्पष्ट हो जाता है कि विचार सत् से कम है।

विचार के स्वरूप की व्याख्या की पृष्ठभूमि में एक सामान्य विश्वास प्रतिध्वनित होता है और वह यह है कि हर सीमित सत्ता मात्र सीमित ही नहीं होती वरन् वह अपनी प्रकृति में ससीम-असीम होती है, क्योंकि उसके भीतर असीमित सत्ता बीज रूप यानी सम्भावना के रूप में निहित होती है। यह उसका अपना ही वास्तविक स्वरूप है जिसे कालांतर में अभिव्यंजित होना है, अतएव इस असीमित स्वरूप को प्राप्त करने की एक इच्छा अव्यक्त या प्रेरणा प्रत्येक सीमित सत्ता में विद्यमान है। अतः प्रत्येक सीमित सत्ता अन्तर्विरोध से पीड़ित है। इस आन्तरिक विरोध को ब्रैडले प्रतीकात्मक रूप में "यथार्थ" और "आदर्श" शब्द प्रतीकों से प्रस्तुत करते हैं व इसे तद् और किम् का निरूतर विरोध कहते हैं। उनके अनुसार प्रत्येक सीमित सत्ता तत् और किम् के अन्तर्विरोध से

---

1. Essence.
2. "It is only by misuderstanding that we find difficulty in taking thought to be something less than reality"
   —A. and R. Page 143.

पीड़ित होने के कारण आभास है। यद्यपि तद् और किम् का यह कथाकथित भेद अन्तिम दृष्टि से वास्तविक नहीं है। प्रत्येक अस्तित्ववान वस्तु में एक प्रकार की एकता और समग्रता होती हैं तथा उसके सभी पक्ष एक अविभाज्य एकता में सूत्रबद्ध होते हैं। उनकी यह एकता न तो खंडित ही होती है, और न नष्ट ही की जा सकती है। अत: अस्तित्व और अन्तर्विषय का यह भेद काल्पनिक और बौद्धिक ही है।

तत्वमीमांसक होने के कारण ब्रैडले विचार के ही माध्यम से सत्ता के स्वरूप को प्रस्तुत करना चाहते हैं और स्पष्ट रूप से विचार और सत्ता के अन्तर को स्वीकार करते हैं। विचार को सत्ता से भिन्न बताते हुए विचार की प्रकृति की व्याख्या करते हुये वे कहते हैं कि विचार अपनी प्रकृति में असम्बद्ध है।[1] अत: वह सत् से कम है। यही कारण है कि सत्ता को विचार की मध्यस्थता से पूर्णत: अनावृत करना संभव नहीं हैं। यद्यपि सत्ता के स्वरूप को व्यक्त करना विचार का कार्य है परन्तु सत्ता के प्रस्तुतीकरण में विचार अपनी प्रकृति-प्रस्तुतिकरण की विशिष्ट शैली के कारण कभी भी पूर्णत: सफल नहीं हो पाता। विचार को अपने लक्ष्य की प्राप्ति द्वारा संतुष्टि चाहिए। इस कारण परम सत् से कम में वह संतुष्ट नहीं होता फिर भी वह उसे प्रस्तुत करने का प्रयास अवश्य करता है।

यहाँ ब्रैडले के समक्ष यह कठिनाई उपस्थित होती है कि यदि विचार सत् को पूर्णत: अनावृत नहीं कर सकता और यह निरपेक्ष सत् विचार से परे है, तो निश्चय ही वह हमारे लिए सदैव एक अज्ञेय सत्ता के रूप में ही उपलब्ध होगा। स्पष्ट है अपने आदर्श का प्राप्त करने के लिये विचार को अपने निजी व्यक्तित्व का परित्याग करना होगा, उसे अपने स्वरूप में आमूल परिवर्तन लाना होगा, अन्य शब्दों में इसी को ब्रैडले कहते हैं कि विचार को अपने आदर्श-परम सत्ता की प्राप्ति के लिये आत्महत्या कर लेनी होगी।[2] अत: विचार, मात्र विचार के रूप में कभी अपने अन्तर्विरोध से मुक्त नहीं हो सकता पर उसका आदर्श सर्वथा अन्तर्विरोध से मुक्ति की अवस्था है।

विचार प्रत्ययात्मक है :

प्रश्न उठता है कि विचार अपने अन्तर्विरोधों से क्यों नहीं मुक्त हो

1. Discursive. (इसके लिए खण्ड धर्मी का भी प्रयोग किया जाता है।)
2. "Thought must commit suicide in order to become whole."

सकता ? इसके उत्तर में ब्रैडले विचार की आन्तरिक रचना प्रस्तुत करते है। इन्द्रियानुभविक विचार[1] अपने में पूर्ण नहीं हैं, वरन् वह सीमित है, उसे अपने उपादान के लिये अनुभूति का आश्रय लेना पड़ता है। इसी अनुभूति के आधार पर जिसे वह स्वत: उत्पन्न नहीं कर सकता व जिसके आधार में वह अधूरा है, विचार अपने ढांचे को खड़ा करता है। अन्य अनेक दार्शनिक भी मानते हैं कि विचार एक विशुद्ध आकारात्मक प्रक्रिया है। अत: उपादान क लिए उसे वाह्य सत्ता का आश्रय लेना पड़ता है। विचार कार्य तथ्यों को अपनी भाषा में व्यक्त क्यों न करे, वह उसकी शत-प्रतिशत अभिव्यक्ति नहीं कर सकता क्योंकि तथ्यों का एक अंश, जिसे ब्रैडले अव्यवहितत्व[2] कहते हैं, विचार की पहुंच से बहार ही रह जाता है। अत: विचार अपना वह कार्य पूर्ण नहीं कर पाता जिसे वह करना चाहता है।

गुण "प्रत्ययात्मक" है :

प्रत्ययात्मकता का आविर्भाव अस्तित्व से किसी गुण के पार्थक्य में है। और यह पार्थक्य विचार सम्पन्न करता है क्योंकि विचार जब किसी वस्तु को ग्रहण करता है तो उसकी समन्वित एकता को अनेक पृथक्-पृथक् खंडों में वितरित कर देता है। इनमें से प्रत्येक को वह एक पृथक् इकाई में रूपांतरित कर देता है। ये पृथक्-पृथक् इकाइयाँ ही विभिन्न गुण हैं और इन्हें प्रत्ययों का बाना पहनाया जाता है। अन्य शब्दों में प्रत्यय ही विचार की अभिव्यंजना का माध्यम है। विधेयों के माध्यम से ही विचार तथ्यो को हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है। प्रत्यय सदैव सामान्य और अ-विशिष्ट होते हैं। जबकि सत्ता विभिन्न पक्षों का समन्वित रूप होती है। और इस नाते विशिष्ट होती है। यही कारण है कि मात्र 'प्रत्ययों' के माध्यम से इस समन्वित सत्ता को उसकी अपूर्व विशिष्टता में ग्रहण करना असंभव है। फलत: जब विचार अपनी विशिष्ट शैली (गुण की) से सत् को व्यंजित करने का प्रयास करता है तो यह गुण यानी सत्ता के किसी पक्ष को उसके अस्तित्व से अपकर्षित करके उसे स्वतंत्र बना देता है। अत: जिस भाषा के माध्यम से विचार सत्ता को प्रस्तुत करना चाहता हैं उससे सत्ता को सामान्यत्व प्राप्त हो जाता है। पर उसका वास्तविक स्वरूप यानी उसका

---

1. Empirical thought.
2. Immediacy.

विशेषत्व[1] अनभिव्यक्त रह जाता है। अतः विचार कभी पूर्ण रूप से सत्ता को प्रस्तुत नहीं कर पाता। इससे निष्कर्ष निकलता है कि विचार सत्ता की कितनी भी विस्तृत व्याख्या क्यों न प्रस्तुत करे वह अपनी स्वाभाविक भाषा के माध्यम से कभी भी सत्ता को उसके वास्तविक रूप में प्रस्तुत नहीं कर सकता क्योंकि वह सत्ता की विशिष्ट अपूर्वता व सरलता की व्याख्या नहीं कर पाता। जिस माध्यम से वह सत्ता को अभिव्यक्त करना चाहता है, वह अपूर्ण है।

पुनः जैसा कि अनेक संदर्भों में कहा जा चुका है, सत्ता को जानने के प्रयास में विचार उसे अनेकों गुणों में विभक्त कर देता है। गुण विशिष्ट है, किन्तु विचार उन्हें प्रत्ययों के माध्यम से सामान्य बना देता है। स्पष्ट है विशिष्ट गुणों का यह सामान्यीकरण विचार की कृत्रिम और काल्पनिक रचना है। अतः इसके माध्यम से हमारे समक्ष उपस्थित होने वाला सत्ता का चित्र भी कृत्रिम होगा। सत्ता की अभिव्यक्ति का विचार का यह तरीका गलत होने से ही विचार सत्ता को पूर्णतः प्रस्तुत करने में असमर्थ रहता है।

चेतना के तीन स्तर :

विचार की प्रकृति के सम्बन्ध में अपने दृष्टिकोण को और अधिक स्पष्ट करने के लिए ब्रैडले ने चेतना के तीन स्तरों का वर्णन किया है—

(१) अति-सम्बन्धात्मक अव्यवहितत्व[2]

(२) सम्बन्धात्मक-चेतना[3]

(३) अधो-सम्बन्धात्मक अव्यवहितत्व[4]

प्रथम स्तर की चेतना के सम्बन्ध में ब्रैडले बताते हैं कि यह तात्कालिक है। इस चेतना में हम जीवन के तथ्यों को मात्र अनुभूति के स्तर पर ग्रहण करते हैं अर्थात् तथ्यों की उपस्थिति का हमें केवल अहसास होता है। यह तथ्यों के साक्षात्कार या अनुभूति की ऐसी स्थिति है जहाँ विश्लेषण का कार्य अभी प्रारम्भ ही नहीं हुआ है। अर्थात् इस स्थिति में हमें केवल यह बोध होता है कि वस्तु है, वास्तव में वह वस्तु क्या है, इसकी जानकारी हमें नहीं होती। अन्य शब्दों में गुणों के संघात के रूप में ग्रहण करने वाली चेतना का प्रारम्भ ही नहीं हुआ

1. Particularity.
2. Supra-relational immediacy.
3. Relational consciouseness.
4. Infra-relational immediacy.

है। चेतना के प्रथम स्तर की यह स्थिति वस्तुत: एक काल्पनिक[1] बिन्दु ही है। अनुभव में ऐसी चेतना कम ही आती है क्योंकि जैसे ही हमको किसी वस्तु की उपस्थिति का बोध होता है, हम उसे गुणों में विश्लेषित कर देते हैं। अत: ऐसी विशुद्ध संवेदना[2] की स्थिति को जिसमें वस्तु की उपस्थिति मात्र का बोध होता है, ब्रैडले अधो-सम्बन्धात्मक अव्यवहितत्व कहते हैं। यह चेतना के द्वितीय स्तर-सम्बन्धात्मक चेतना का प्रारंभिक बिन्दु है, जैसा कि कहा जा चुका है, काल्पनिक है, क्योंकि इसमें वस्तु की उपस्थिति मात्र का बोध होता है, उसके रूप, आकार, गुण का नहीं। जैसा ही हम वस्तु का रंग,रूप व आकार जान लेते हैं, वह सम्बन्धात्मक चेतना या विचार के रूप में परिवर्तित हो जाती है। इस प्रथम स्तर *की चेतना में केवल वस्तु की उपस्थिति का बोध होने के कारण ही इसे "अव्य-*वहितत्व" कहा गया है। और क्योंकि यह चेतना सम्बन्धात्मक के पूर्व है, इसलिए इसे पूर्व सम्बन्धात्मक या अधो-सम्बन्धात्मक कहा जाता है। पुन: क्योंकि गुण व सम्बन्धों की अनुभूति का प्रारम्भ इस स्थिति में नहीं होता है, वस्तु सत्ता के अस्तित्व भाग का ही इस स्थिति में आभास होता है अत: हम कह सकते हैं कि इसमें हमें केवल सत्ता की तद्ता का ही ज्ञान होता है। यद्यपि इसमें तद् और किम् पक्ष दोनों ही समन्वित रूप में विद्यमान रहते हैं—दोनों को परस्पर एक-दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता फिर भी पहले तद् की चेतना होती है, फिर किम् की। पुन: यद्यपि पहले हमें वस्तु की तद्ता का ही बोध होता है, परन्तु तद् के बोध में ही अस्पष्ट रूप से किम् की भी चेतना विद्यमान रहती है, जिसको अभी अधो-सम्बन्धात्मक चेतना पृथक् नहीं कर पायी है। इसी परिकल्पनात्मक स्थिति के लिए मनोवैज्ञानिक जेम्स वार्ड ने कहा है कि "विशुद्ध संवेदना एक मनोवैज्ञानिक कल्पना है।"[3] पुन: ब्रैडले कहते हैं कि चेतना के स्तर पर भी तद् और किम् का अन्तर्विरोध बीज रूप में निहित रहता है। यह प्रथम अवस्था अल्प काल के लिए होत हैं, क्योंकि ज्योंही इस अवस्था का अविर्भाव होता है, तुरन्त यह द्वितीय अवस्था में परिवर्तित हो जाती है। संक्षेप में पूर्व सम्बन्धात्मक स्तर की चेतना क्षणिक होती हैं।

चेतना के विकास की दूसरी स्थिति विचार की स्थिति है, अर्थात् द्वितीय स्तर की चेतना में विश्लेपण का कार्य प्रारम्भ हो जाता है। अपनी

---

1. Hypothetical.
2. Pure sensation.
3. "Pure sensation is a psychlogical myth,"—James ward.

प्रकृति के अनुसार विचार सत्ता की अविभाज्य एकता को अस्तित्व तथा अन्त-विषय यानी तद्-किम् में विभाजित कर देता है अर्थात् अभी तक जो सत्ता अस्तित्व तथा अन्तर्विषय की समन्वित इकाई के रूप में अस्तित्ववान थी, विचार पहले उसके अन्तर्विषय को अस्तित्व से पृथक् करके फिर उस अन्तर्विषय की एकता को विविध गुणों में बांट देता है। विचार यह कार्य तथ्य के अन्त-विषय की व्याख्या करने के लिए व उसके अर्थ को ग्रहण करने के प्रयास में करता है। इस प्रकार विचार जब किसी वस्तु को ग्रहण करना चाहता है, तो उसकी तथ्यता को ग्रहण करने के प्रयास में पहले उसकी प्रारम्भिक अवि-भाज्य मूल एकता को खंड-खंड में विभाजित कर देता है, और फिर उन खण्डों से सम्बन्धों के आधार पर सत्ता की एकता का पुनर्निर्माण करने का प्रयास करता है। वस्तुत: विचार जिन खण्डों का निर्माण करता है, तथा जिन सम्बन्धों के माध्यम से पुन: उन खण्डों को संयुक्त करने का प्रयास करता है, वे विचार की अपनी कृति हैं। अत: न वे खण्ड ही यथार्थ हैं और न सम्बन्ध ही। निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि इनके माध्यम से विचार सत्ता का जो चित्र उपस्थित करता है, यह व्यावहारिक दृष्टि से भले ही सत्य व उपयोगी हो किन्तु सत्ता के वास्तविक स्वरूप को प्रस्तुत करने की दृष्टि से उचित नहीं है।

पर ब्रैडले कहते है कि पद और सम्बन्धों[1] की यह भाषा विचार की अनिवार्य भाषा है। सत्य को प्रस्तुत करने की उसके पास कोई अन्य पद्धति नहीं है, इस कारण विचार सत्ता के वास्तविक रूप को प्रस्तुत करने में सर्वथा असमर्थ है। पुन: वे कहते हैं कि किसी भी तथ्य का अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि प्रत्येक यथार्थ अस्तित्व के दो पक्ष होते हैं, तद् और किम् जिसे अस्तित्व और अन्तर्विषय पक्ष कहा जा सकता है और दोनों समन्वित रूप से अस्तित्ववान् रहते हैं। किसी ऐसे तथ्य की कल्पना नहीं की जा सकती जहां एक पक्ष तो हो किन्तु दूसरे का अभाव हो[2]। अन्य शब्दों में सत्ता में ये

1. Terms and relation.
2. "If we take up anything considered real, no matter what it is, we find in it 'two aspects. There are always two things we can say about it; and, if we cannot say both, we have not got reality. There is a 'what' and a 'that' an existence and a content and he two are inseparable."

—Appearance and Reality, Page, 143.

है। चेतना के प्रथम स्तर की यह स्थिति वस्तुत: एक काल्पनिक[1] बिन्दु ही है। अनुभव में ऐसी चेतना कम ही आती है क्योंकि जैसे ही हमको किसी वस्तु की उपस्थिति का बोध होता है, हम उसे गुणों में विश्लेषित कर देते हैं। अत: ऐसी विशुद्ध संवेदना[2] की स्थिति को जिसमें वस्तु की उपस्थिति मात्र का बोध होता है, ब्रैडले अधो-सम्बन्धात्मक अव्यवहितत्व कहते हैं। यह चेतना के द्वितीय स्तर-सम्बन्धात्मक चेतना का प्रारंभिक बिन्दु है, जैसा कि कहा जा चुका है, काल्पनिक है, क्योंकि इसमें वस्तु की उपस्थिति मात्र का बोध होता है, उसके रूप, आकार, गुण का नहीं। जैसा ही हम वस्तु का रंग,रूप व आकार जान लेते हैं, वह सम्बन्धात्मक चेतना या विचार के रूप में परिवर्तित हो जाती है। इस प्रथम स्तर की चेतना में केवल वस्तु की उपस्थिति का बोध होने के कारण ही इसे "अव्यवहितत्व" कहा गया है। और क्योंकि यह चेतना सम्बन्धात्मक के पूर्व है, इसलिए इसे पूर्व सम्बन्धात्मक या अधो-सम्बन्धात्मक कहा जाता है। पुन: क्योंकि गुण व सम्बन्धों की अनुभूति का प्रारम्भ इस स्थिति में नहीं होता है, वस्तु सत्ता के अस्तित्व भाग का ही इस स्थिति में आभास होता है अत: हम कह सकते हैं कि इसमें हमें केवल सत्ता की तद्ता का ही ज्ञान होता है। यद्यपि इसमें तद् और किम् पक्ष दोनों ही समन्वित रूप में विद्यमान रहते हैं—दोनों को परस्पर एक-दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता फिर भी पहले तद् की चेतना होती है, फिर किम् की। पुन: यद्यपि पहले हमें वस्तु की तद्ता का ही बोध होता है, परन्तु तद् के बोध में ही अस्पष्ट रूप से किम् की भी चेतना विद्यमान रहती है, जिसको अभी अधो-सम्बन्धात्मक चेतना पृथक् नहीं कर पायी है। इसी परिकल्पनात्मक स्थिति के लिए मनोवैज्ञानिक जेम्स वार्ड ने कहा है कि "विशुद्ध संवेदना एक मनोवैज्ञानिक कल्पना है।"[3] पुन: ब्रैडले कहते हैं कि चेतना के स्तर पर भी तद् और किम् का अन्तर्विरोध बीज रूप में निहित रहता है। यह प्रथम अवस्था अल्प काल के लिए होत हैं, क्योंकि ज्योंही इस अवस्था का अविर्भाव होता है, तुरन्त यह द्वितीय अवस्था में परिवर्तित हो जाती है। संक्षेप में पूर्व सम्बन्धात्मक स्तर की चेतना क्षणिक होती हैं।

चेतना के विकास की दूसरी स्थिति विचार की स्थिति है, अर्थात् द्वितीय स्तर की चेतना में विश्लेषण का कार्य प्रारम्भ हो जाता है। अपनी

---

1. Hypothetical.
2. Pure sensation.
3. "Pure sensation is a psychlogical myth."—James ward.

प्रकृति के अनुसार विचार सत्ता की अविभाज्य एकता को अस्तित्व तथा अन्त-विषय यानी तद्-किम् में बिभाजित कर देता है अर्थात् अभी तक जो सत्ता अस्तित्व तथा अन्तर्विषय की समन्वित इकाई के रूप में अस्तित्ववान थी, विचार पहले उसके अन्तर्विषय को अस्तित्व से पृथक् करके फिर उस अन्तर्विपय की एकता को विविध गुणों में बांट देता है। विचार यह कार्य तथ्य के अन्त-विषय की व्याख्या करने के लिए व उसके अर्थ को ग्रहण करने के प्रयास में करता है। इस प्रकार विचार जब किसी वस्तु को ग्रहण करना चाहता है, तो उसकी तथ्यता को ग्रहण करने के प्रयास में पहले उसकी प्रारम्भिक अवि-भाज्य मूल एकता को खंड-खंड में विभाजित कर देता है, और फिर उन खण्डों से सम्बन्धों के आधार पर सत्ता की एकता का पुनर्निर्माण करने का प्रयास करता है। वस्तुत: विचार जिन खण्डों का निर्माण करता है, तथा जिन सम्बन्धों के माध्यय से पुन: उन खण्डों को संयुक्त करने का प्रयास करता है, वे विचार की अपनी कृति हैं। अत: न वे खण्ड ही यथार्थ हैं और न सम्बन्ध ही। निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि इनके माध्यम से विचार सत्ता का जो चित्र उपस्थित करता है, यह व्यावहारिक दृष्टि से भले ही सत्य व उपयोगी हो किन्तु सत्ता के वास्तविक स्वरूप को प्रस्तुत करने की दृष्टि से उचित नहीं है।

पर ब्रैडले कहते है कि पद और सम्बन्धों[1] की यह भाषा विचार की अनिवार्य भाषा है। सत्य को प्रस्तुत करने की उसके पास कोई अन्य पद्धति नहीं है, इस कारण विचार सत्ता के वास्तविक रूप को प्रस्तुत करने में सर्वथा असमर्थ है। पुन: वे कहते हैं कि किसी भी तथ्य का अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि प्रत्येक यथार्थ अस्तित्व के दो पक्ष होते हैं, तद् और किम् जिसे अस्तित्व और अन्तर्विषय पक्ष कहा जा सकता है और दोनों समन्वित रूप से अस्तित्ववान् रहते हैं। किसी ऐसे तथ्य की कल्पना नहीं की जा सकती जहां एक पक्ष तो हो किन्तु दूसरे का अभाव हो[2]। अन्य शब्दों में सत्ता में ये

1. Terms and relation.
2. "If we take up anything considered real, no matter what it is, we find in it two aspects. There are always two things we can say about it; and, if we cannot say both, we have not got reality. There is a 'what' and a 'that' an existence and a content and he two are inseparable."
—Appearance and Reality, Page, 143.

दोनों पक्ष इस प्रकार समन्वित रूप में अस्तित्ववान होते हैं कि इन्हें एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। अतएव यदि हम इन दोनों को प्रस्तुत करने में असमर्थ रहे तो हम सत् से दूर रहेंगे। यह असम्भव है कि किसी वस्तु का अस्तित्व हो, परन्तु उसका कोई विशेष स्वरूप न हो अथवा कोई गुण विशेष हो पर वह किसी भी यथार्थ व काल्पनिक अस्तित्व से सम्बन्धित न हो। यदि हम तद् को उसके निर्विशेष स्वरूप में देखना चाहें तो असंभव है क्योंकि या तो हम उसे सविशेष रूप में पायेंगे अथवा बिल्कुल पायेंगे ही नहीं। दूसरी ओर किम् की बिल्कुल आधारविहीन रूप कल्पना असम्भव है। ब्रैडले कहते हैं कि "इन (तद् एवं किम्) दोनों पक्षों में से कोई भी नितान्त पृथक्-पृथक् होने पर सत् रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता। उनमें परस्पर भेद तो किया जा सकता है, परन्तु दोनों का विभाजन संभव नहीं है।"[1] वे पुनः कहते हैं— 'परन्तु विचार का अस्तित्व इन दोनों के विभाजन पर टिका हुआ है, क्योंकि विचार कम से कम कुछ हद तक प्रत्यात्मक है। प्रत्यय के अभाव में विचार सम्भव नहीं और प्रत्यय में तत्व अस्तित्व से पार्थक्य निहित है। वह एक ऐसा किम् है जिसका मात्र प्रत्यय होने में कोई अस्तित्व नहीं और यदि वह अस्तित्ववान भी है तो उसको इस कारण प्रत्ययात्मक नहीं कहा जा सकता क्योंकि प्रत्ययात्मकता का आविर्भाव गुण का अस्तित्व से पृथक्करण करने पर ही होता है।"[2]

विचार की प्रत्ययात्मकता[3] को स्पष्ट करते हुए ब्रैडले कहते हैं— "मूल बात तो यह है कि प्रस्तुत तथ्य के 'किम्' में से किसी विशेषता का

---

1 "Neither of these aspects, if you isolate it, can be taken as real, or indeed in that case is itself any longer. They are distinguishable only and are not divisible."—P. 143. A & R.

2. And yet thought seems essentially to consist in their division. For thought is clearly, to some extent at least, ideal. Without an idea there is no thinking, and an idea implies the separation of content from existence. It is a 'what', which, so far as it is a mere idea, clearly is not, and if it also were, could, so far, not be called ideal. For ideality lies in the disjoining of quality from being."

—Ibid., p. 143-44.

3. Ideality.

उसके तद् से इतना पृथक्करण कर दिया जाय कि वह उससे परे अथवा कम से कम उससे पृथक् कार्य करने लगे। इस प्रकार की गति ही प्रत्ययात्मकता है और जहां उसका अभाव है वहां कुछ भी प्रत्यायात्मक नहीं है।[2]

अपनी प्रत्ययात्मक प्रकृति के कारण ही जब विचार सत्ता को प्रस्तुत करता है तो 'तद्-किम्' को, जो सत्ता में समन्वित रूप में रहते हैं, एक-दूसरे से पृथक् करके व तद् की पूर्णतः अवहेलना करके किम् को ही अपना ध्येय बनाता है। मानो किम् के रूप में सत् की प्रस्तुति ही विचार का आदर्श है, जिसे वह प्राप्त करना चाहता है।

प्रत्यय के माध्यम से सत् का अनावरण :

इसी को यूँ प्रस्तुत किया जा सकता है कि विचार प्रत्ययों के माध्यम से ही सत्ता को अभिव्यक्त करना चाहता है, क्योंकि प्रत्यय के अभाव से वह कार्य नहीं कर सकता। प्रत्यय के लिए ब्रेडले कहते हैं कि प्रत्यय मात्र तत्व है जिनको सत्ता से पृथक् कर दिया गया है। और अस्तित्व से तत्व को पृथक् कर देने की विचार की इस वृत्ति को ही ब्रैडले विचार की प्रत्ययात्मकता कहते हैं जिसे पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है।

अब प्रश्न है कि क्या सत् का अनावरण प्रत्यय से संभव है? ब्रैडले कहते है कि यद्यपि *सत् को विचार प्रत्यय के माध्यम* से व्यंजित करना चाहता है परन्तु अपने इस प्रयास में वह असफल ही रहता है क्योंकि प्रत्यय समान्य है व सत् सामान्य व विशेष दोनों। विचार की यही विडम्बना व अभिशाप है कि वह अपनी कृतिम शैली की मध्यस्थता से एक ऐसे सत् को अनावृत करने का प्रयास करता है जो मात्र सामान्य नहीं है। वह एक समग्र सत्ता है, जिसमें सामान्य और विशेष दोनों समन्वित रूप में अवस्थित रहते हैं अतः ब्रैडले का निषेधात्मक निष्कर्ष यह है कि विचार जब अपकर्षण की प्रक्रिया द्वारा सत् को खंडों में वितरित कर दता है तो ऐसी अवस्था में उन्हें प्राकृतिक रूप से संयुक्त करके पुनः व्यंजित करना विचार के लिए संभव नहीं है। यदि विचार को स्वयं

2. "The main point and the essence is that some feature in the 'what' of a given fact should be alienated from its 'that' so far as to work beyond it, or at all events loose om it. Such a movement is ideality and, where it is bsent, there is nothing idela.' —Ibid., page. 144.

दोनों पक्ष इस प्रकार समन्वित रूप में अस्तित्ववान होते हैं कि इन्हें एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। अतएव यदि हम इन दोनों को प्रस्तुत करने में असमर्थ रहे तो हम सत् से दूर रहेंगे। यह असम्भव है कि किसी वस्तु का अस्तित्व हो, परन्तु उसका कोई विशेष स्वरूप न हो अथवा कोई गुण विशेष हो पर वह किसी भी यथार्थ व काल्पनिक अस्तित्व से सम्बन्धित न हो। यदि हम तद् को उसके निर्विशेष स्वरूप में देखना चाहें तो असंभव है क्योंकि या तो हम उसे सविशेष रूप में पायेंगे अथवा बिल्कुल पायेंगे ही नहीं। दूसरी ओर किम् की बिल्कुल आधारविहीन रूप कल्पना असम्भव है। ब्रैडले कहते हैं कि "इन (तद् एवं किम्) दोनों पक्षों में से कोई भी नितान्त पृथक्-पृथक् होने पर सत् रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता। उनमें परस्पर भेद तो किया जा सकता हैं, परन्तु दोनों का विभाजन संभव नहीं है।"[१] वे पुनः कहते हैं— 'परन्तु विचार का अस्तित्व इन दोनों के विभाजन पर टिका हुआ है, क्योंकि विचार कम से कम कुछ हद तक प्रत्यात्मक है। प्रत्यय के अभाव में विचार सम्भव नहीं और प्रत्यय में तत्व अस्तित्व से पार्थक्य निहित है। वह एक ऐसा किम् है जिसका मात्र प्रत्यय होने में कोई अस्तित्व नहीं और यदि वह अस्तित्ववान भी है तो उसको इस कारण प्रत्ययात्मक नहीं कहा जा सकता क्योंकि प्रत्ययात्मकता का आविर्भाव गुण का अस्तित्व से पृथक्करण करने पर ही होता है।"[२]

विचार की प्रत्ययात्मकता[३] को स्पष्ट करते हुए ब्रैडले कहते हैं— "मूल बात तो यह है कि प्रस्तुत तथ्य के 'किम्' में से किसी विशेषता का

---

1 "Neither of these aspects, if you isolate it, can be taken as real, or indeed in that case is itself any longer. They are distinguishable only and are not divisible."—P. 143. A & R.

2. And yet thought seems essentially to consist in their division. For thought is clearly, to some extent at least, ideal. Without an idea there is no thinking, and an idea implies the separation of content from existence. It is a 'what', which, so far as it is a mere idea, clearly is not, and if it also were, could, so far, not be called ideal. For ideality lies in the disjoining of quality from being."

—Ibid., p. 143–44.

3. Ideality.

उसके तद् से इतना पृथक्करण कर दिया जाय कि वह उससे परे अथवा कम से कम उससे पृथक् कार्य करने लगे। इस प्रकार की गति ही प्रत्ययात्मकता है और जहां उसका अभाव है वहां कुछ भी प्रत्यायात्मक नहीं है।[२]

अपनी प्रत्ययात्मक प्रकृति के कारण ही जब विचार सत्ता को प्रस्तुत करता है तो 'तद्-किम्' को, जो सत्ता में समन्वित रूप में रहते हैं, एक-दूसरे से पृथक् करके व तद् की पूर्णतः अवहेलना करके किम् को ही अपना ध्येय बनाता है। मानो किम् के रूप में सत् की प्रस्तुति ही विचार का आदर्श है, जिसे वह प्राप्त करना चाहता है।

प्रत्यय के माध्यम से सत् का अनावरण :

इसी को यूं प्रस्तुत किया जा सकता है कि विचार प्रत्ययों के माध्यम से ही सत्ता को अभिव्यक्त करना चाहता है, क्योंकि प्रत्यय के अभाव से वह कार्य नहीं कर सकता। प्रत्यय के लिए ब्रैडले कहते हैं कि प्रत्यय मात्र तत्व है जिनको सत्ता से पृथक् कर दिया गया है। और अस्तित्व से तत्व को पृथक् कर देने की विचार की इस वृत्ति को ही ब्रैडले विचार की प्रत्ययात्मकता कहते हैं जिसे पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है।

अब प्रश्न है कि क्या सत् का अनावरण प्रत्यय से संभव है ? ब्रैडले कहते हैं कि यद्यपि सत् को विचार प्रत्यय के माध्यम से व्यंजित करना चाहता है परन्तु अपने इस प्रयास में वह असफल ही रहता है क्योंकि प्रत्यय समान्य है व सत् सामान्य व विशेष दोनों। विचार की वही विडम्बना व अभिशाप है कि वह अपनी कृत्रिम शैली की मध्यस्थता से एक ऐसे सत् को अनावृत करने का प्रयास करता है जो मात्र सामान्य नहीं है। वह एक समग्र सत्ता है, जिसमें सामान्य और विशेष दोनों समन्वित रूप में अवस्थित रहते हैं अतः ब्रैडले का निषेधात्मक निष्कर्ष यह है कि विचार जब अपकर्षण की प्रक्रिया द्वारा सत् को खंडों में वितरित कर दता है तो ऐसी अवस्था में उन्हें प्राकृतिक रूप से संयुक्त करके पुनः व्यंजित करना विचार के लिए संभव नहीं है। यदि विचार को स्वयं

2. "The main point and the essence is that some feature in the 'what' of a given fact should be alienated from its 'that' so far as to work beyond it, or at all events loose from it. Such a movement is ideality and, where it is absent, there is nothing idela.' —Ibid., page. 144.

के साथ न्याय करना है, तो उसे अव्यवहित के तत्व[1] को भी अपने में समन्वित करना होगा। यह सम्भावना है, यदि यह साकार हो जाय तो विचार को अपने परिचित स्वरूप का समर्पण करना होगा। ऐसी दशा में विचार अपरोक्षानुभूति[2] में रूपान्तरित हो जायगा। इस अवस्था को प्राप्त करने पर ही विचार द्वारा सत् के स्वरूप का पूर्ण प्रकाशन संभव हो सकेगा।

निर्णय का स्वरूप :

विचार सत्ता का स्वरूप किन्हीं निर्णयों द्वारा ही प्रस्तुत करता है। यदि हम निर्णय के स्वरूप पर विचार करें तो विचार की कमियाँ और अधिक स्पष्ट हो सकती हैं, क्योंकि निर्णय में ही विचार का सहज रूप है। अन्य शब्दों में निर्णय ही उसकी अभिव्यक्ति की न्यूनतम इकाई है और निर्णय के रूप में प्रत्यय किसी सत का विधेय होता है।[3] निर्णय के दो पक्षों-उद्देश्य और विधेय को बताते हुए ब्रैडले कहते हैं कि उद्देश्य सत्ता स्वयं है और विधेय विचार के माध्यम से प्रस्तुत उसका अन्तर्विषय है। अन्य शब्दों में उद्देश्य अस्तित्व है जिसमें तद् और किम् समन्वित रूप में अवस्थित रहते है, और विधेय उसी से सम्बन्धित मात्र 'किम्' है। यानी विधेय तो एक ऐसा किम् हैं, जिसका प्रयोग उद्देश्य के अन्तर्विषय को स्पष्ट करने में होता है। अतएव यह कठिन ही नहीं वरन् असम्भव है कि 'तद्–किम्' को मात्र विधेयों के यानी प्रत्ययों के माध्यम से पूर्णत: अभिव्यक्त किया जा सके। यद्यपि विचार ऐसा करना चाहता है तथापि अपनी प्रकृति के कारण नहीं कर पाता क्योंकि सत्ता में यानी उद्देश्य में विधेय इस प्रकार नहीं रहते कि उन्हें परस्पर पृथक् किया जा सके। पर

1. Element of immediacy.
2. Immediate experience.
3. "In Judgement an idea is predicated of reality. Now in the first place, what is predicated is not a mental immage. It is not a fact inside my head which the judgement wishes to attach to another fact outside. The predicate is a mere 'what' a mere feature of content, which is used to qualify further the 'that' of the subject. And this predicate is divorced from its physical existence in my head, and is used without any regard to its being there."

—Ibid., Page 1[illegible]

विचार उन्हें पृथक्-पृथक् तथा एक-दूसरे से बाह्य ही प्रस्तुत करता है। निर्णय की विशेषता बताते हुए ब्रैडले कहते हैं कि—"निर्णय सत् में एक विशेषण जोड़ देता है और यह विशेषण एक प्रत्यय होता है, क्योंकि वह अपने अस्तित्व से पृथक् होकर तथा उससे अपनी सम्बद्धता से मुक्त होकर ही प्रयुक्त होता है।"[1]

पुन: निर्णय के विधेयवाले पक्ष के स्पष्टीकरण में ब्रैडले का कथन है—"विधेय एक ऐसा तत्व है जो अपने अव्यवहित अस्तित्व से पृथक् कर दिया गया है और जो अपने उस प्रथम एकत्व से अलग करके ही प्रयुक्त होता है, और पुन. विधेय के रूप में जब उसका प्रयोग किया जाता है तब उसका कोई भी सम्बन्ध उसकी अपकर्षित निजी तथा मेरे मस्तिष्क में स्थित निजी सत्ता से नहीं रहता।"[2]

यदि ऐसा न हो तो निर्णय संभव ही नहीं होगा, क्योंकि ऐसी अवस्था में न तो विभेदीकरण ही और न विधेयीकरण ही संभव हो पाता। और यदि ऐसा है तो ब्रैडले के अनुसार हम एक बार फिर प्रत्यय पर आ पहुंचते हैं।

दूसरी बात इस संदर्भ में यह है कि जब हम निर्णय के विषय पर आते हैं तो संभवत: हमें उसका दूसरा पक्ष अर्थात् तद् प्राप्त होता है। ब्रैडले इस बात को स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण में बताते हैं कि जिस प्रकार 'अश्व एक स्तनीय पशु है' निर्णय वाक्य में विधेय कोई वास्तविक तथ्य नहीं, उसी उद्देश्य का भी कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं। और यही बात प्रत्येक निर्णय पर लागू होती है। किसी भी निर्णय का कभी यह अभिप्राय नहीं होता कि वह सत् के अतिरिक्त अन्य किसी के विषय में कुछ कहे, अथवा किसी 'किम्' के द्वारा किसी 'तद्' की विशेषता प्रकट करने के अतिरिक्त कुछ और करे।

फिर प्रश्न यह उठता है कि निर्णय का वास्तविक विषय क्या है? तो ब्रैडले उत्तर में कहते हैं कि निर्णय का विषय मात्र 'किम्' नहीं बल्कि 'तद्' और

1. "Judgement adds an adjective to reality, and this adjective is an idea, because it is a quality made loose from its own existence and is working free from its implication with that." —Ibid., p. 144.
2. "The predicate is a content which has been made loose from its own immediate existence and is used in divorce from that first unity. And again, as predicated, it is applied without regard to its own being as abstracted an in my head." —Ibid., pp. 144-45

'किम्' दोनों को प्रस्तुत करता है। अस्तित्ववान वस्तु के अस्तित्व पक्ष को भी हमें स्वीकार करना होगा जो विधेय द्वारा अवहेलित रहता है परन्तु उद्देश्य में विद्यमान रहता है। यह कहा जा सकता है कि "प्रत्येक अवस्था में उद्देश्य कदापि केवल 'तद्' मात्र नहीं होता वह केवल सत् अथवा गुणहीन अस्तित्व मात्र कहीं नहीं होता है।"[1]

पुन: ब्रैडले कहते हैं कि—"निर्णय तत्वत: दो ऐसे पक्षों—'किम्' और 'तद्' का पुनर्मिलन है जो अस्थायी रूप से पृकक् हो गये थे। परन्तु विचार की प्रत्ययात्मकता इन पक्षों के पृथक्करण में ही निहित है[2]।"

अतएव ब्रैडले के विचारानुसार सत्ता को पहले खंडों में विभक्त करके फिर सम्बन्धों के आधार पर जानने का तरीका गलत व अपूर्ण है क्योंकि संबंधों की व्याख्या का कोई अन्त नहीं। जब दो गुणों के मध्य किसी सम्बन्ध की स्थापना की जाती है तो वह सम्बन्ध स्वयं एक नये पद का रूप ग्रहण कर लेता है। तब फिर प्रश्न एक नये प्रकार से प्रारम्भ हो जाता है कि इस तृतीय पद का सम्बन्ध पूर्व के दो पदों से क्या है ? अर्थात् जिन सम्बन्धों के द्वारा प्रश्न का उत्तर दिया जाता है, वे स्वयं फिर एक नये पद का निर्माण करते हैं, जिससे समस्या बढ़ती जाती है व उसका कोई निश्चित, स्थायी निष्कर्ष हम नहीं निकाल पाते, क्योंकि विचार बारम्बार नये पदों की सृष्टि करता चला जाता है। ब्रैडले कहते हैं कि जिस भाषा के माध्यम से विचार सत्ता को प्रस्तुत करना चाहता है वह इतनी जटिल व कृत्रिम है कि उसके द्वारा सत्ता की सरल एकता प्रकाशित नहीं हो पाती।

पुन: जब विचार अपनी तथाकथित भाषा से सत्ता की अभिव्यक्ति नहीं कर पाता तो उसमें अपने प्रति असंतोष उत्पन्न होता है, क्योंकि एक ओर तो वह सत्ता को प्रकाशित करना चाहता है, परन्तु सम्बन्धात्मक चेतना के रूप में अपनी सीमाओं के कारण वह ऐसा नहीं कर पाता। इसी बात को प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं:"चिंतन का लक्ष्य है सत्य और सत्य का उद्देश्य है अस्तित्व

---

1. "The subject is in no case a mere 'that'. It is never bare reality, or existence without character."

—*Ibid.*, p. 145.

2. "Judgement is essentially the re-union of two sides 'what' and 'that', provisionally estranged. But it is the alienation of these aspects in which thoughts ideality consists."

—*Ibid.*, p. 145.

को प्रत्ययात्मक बाना पहनाना। उसका लक्ष्य सत् को एक ऐसा स्वरूप प्रदान करना है जिसमें उसे स्थिरता प्राप्त हो सके। अन्य शब्दों में सत्य अन्तर्विषय के रूप में एक ऐसे विधेय को प्रस्तुत करता है जो संगतिपूर्ण है और असंगति को दूर करने वाला है और साथ ही अस्थिरता को भी दूर करता है।"[1]

परन्तु विचार अपने इस उद्देय में सफल नहीं हो पाता, अतः सत्य भी अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर पाता। अन्य शब्दों में बुद्धि और इसी कारण सत्य भी सत्ता का उचित प्रकाशन नहीं कर पाते। जिस सत्ता को बुद्धि अपने माध्यम से प्राप्त करती है वह यथार्थ सत्ता से भिन्न होती है, यद्यपि जैसे कि पहले कहा जा चुका है, विचार का प्रयोजन सत्य को ही प्राप्त करना है यानी सत्ता को प्रकाशित करना है परन्तु यह निश्चित है कि जब तक विचार मात्र सम्बन्धात्मक विचार है तब तक वह इस कार्य में सफल नहीं होगा। और कारणों से विचार सत्ता की अभिव्यक्ति के लिये अपर्याप्त है उन्हीं कारणों से सत्य भी सत्ता को अभिव्यक्त करने में असमर्थ व अपर्याप्त होगा।

सत्य की असमर्थता—विधेय का विस्तार :

उपर्युक्त कथन को और अधिक स्पष्ट करते हुए ब्रैडले बताते हैं कि दो कारणों से सत्य अपने उद्देश्य में, यानी विरोध का अन्त करके समन्वय स्थापित करने में सफल नहीं होता। क्योंकि किसी भी निर्णय का उद्देश्य सत्ता स्वयं है और वह एक यथार्थ सीमित अस्तित्व है जो अन्य से सम्बन्धित है और उसे अपने में सम्मिलित करना चाहती है। इस कारण अन्तर्विरोध से पीड़ित है यही नहीं वह उस अन्तर्विरोध से मुक्त होने के लिये भी प्रयत्नशील है। सीमित अस्तित्व के इस स्वरूप को प्रस्तुत करते हुए ब्रैडले कहते हैं: क्योंकि प्रस्तुत का अन्तर्विषय सदा ही अप्रस्तुत से सम्बन्धित होता है और इसलिए तद् का अतिक्रमण करना उसके किम् का अनिवार्य स्वभाव है। इसको हम प्रस्तुत सीमित की प्रत्ययात्मकता कह सकते हैं। उसका (प्रत्ययात्मकता का) निर्माण

---

1. "Truth is the object of thinking, and the aim of truth is to qualify existence ideally. Its end, that is, is to give a character to reality in which it can rest. Truth is the predication of such content as, when predicated, is harmonious, and removes inconsistency and with it un-rest."

—*Ibid.*, p, 145.

विचार द्वारा नहीं होता, अपितु विचार स्वयं उसका विकसित रूप तथा परिणाम है। इस सीमित की अनिवार्य विशेषता यह है कि सर्वत्र अपने को प्रस्तुत करे उसका अन्तविषय तत्काल उसके निजी अस्तित्व को लांघ कर उसके परे पहुंच जाय[1]।

पुन: विधेय के इस विस्तृतीकरण में वह अस्तित्ववान वस्तु बदलती जाती है अत: उसके विधेय भी बदलने चाहिये। इस प्रकार सत्य भी एक निरन्तर प्रक्रिया[2] बन जाता है। परन्तु इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में ऐसी अवस्था कभी नही जब उद्श्देय तथा विधेय दोनों समान हो जांय निष्कर्षत: उद्देश्य विधेय का भेद सदा ही बना रहेगा, उनमें कभी संतुलन नहीं हो पायेगा और संतुलन के अभाव में सत्य (अत: विचार भी) कभी अपने कार्य में सफल नहीं होगा। सारांशत: वह कभी सत्ता को प्राप्त नहीं कर सकेगा।

दूसरे ब्रैडले कहते हैं कि उपयुक्त प्रस्तुति से यह स्पष्ट है कि उद्देश्य विधेय कभी बराबर नहीं हो सकता। उनका अन्तर बना ही रहेगा। क्योंकि सीमित और इसी कारण अन्य से संबंधित होने के कारण उद्देश्य निरन्तर विकसित होने वाला है और जब उद्देश्य का विस्तार होगा तो विधेय भी विस्तृत होता जायगा। पर यदि युक्ति के लिये इन दोनों को बराबर मान भी लिया जाय तब उद्देश्य और विधेय में कोई भेद न रहने से निर्णय के रूप में उनकी अभिव्यक्ति का प्रश्न ही नहीं रह जायेगा। सारांश मे हम यह कह सकते हैं कि यद्यपि निर्णय का कार्य अपने दोनों पक्षों में तादात्म्य स्थापित करना हैं ताकि दोनों एक दूसरे के अनुरूप हो जाय परन्तु उपर्युक्त दो कारणों से वह ऐसा करने में सफल नहीं हो पाता।

तथ्य भी प्रत्ययात्मक है :

विचार की उक्त प्रत्ययात्मकता के साथ ही ऐसा सोचा जाता है कि यह

---

1. "For the content of the given is for ever relative to something not given, and the nature of its 'what' is hence essentially to transcend its 'that'. This we may call the ideality of the given finite. It is not manufactured by thought, but thought itself is its development and product. The essential nature of the finite is that everywhere, as it presents itself, its character should slide beyond the limits of existence." —Ibid., p. 146.
2, Continual process.

किसी तथ्य से सम्बन्धित न होकर उससे बाह्य वस्तु है, और उसे तथ्य पर आरोपित कर दिया जाता है, अर्थात् तथ्य प्रत्ययात्मक नहीं है, परन्तु ब्रैडले इस विचार को भ्रामक मानते हैं क्योंकि उनकी दृष्टि में—"जो तथ्य प्रत्ययात्मक नहीं होते तथा जो अस्तित्व से अन्तर्विषय के पार्थक्य को नहीं दर्शाते, वे कठिनाई से ही वास्तविक होते हैं।"[1]

जिस सत्य को हम बुद्धि के माध्यम से प्राप्त करते हैं, वह भी सत्ता से ही अपकर्षित है, और इसी कारण सत्ता का अपर्याप्त प्रकाशन है। सत्य द्वारा प्रत्ययात्मकता के इस दोष को दूर करने की प्रक्रिया का वर्णन करते हुए ब्रैडले कहते हैं–कि सत्य एक ऐसा प्रयत्न है, जो इस रोग की चिकित्सा होमियोपैथिक पद्धति द्वारा करता है।[2]

तात्पर्य यह है कि किसी अस्तित्ववान् वस्तु के 'तद्' से उसके "किम्" के पार्थक्य को समाप्त करने—यानी सम्पूर्ण को प्रस्तुत करने के लिए विभाजन की प्रक्रिया को तीव्र से तीव्रतम किया जाता है, जिससे वह तनिक भी न रह जाय। किन्तु किसी भी अवस्था में तद् और किम् की एकता को, जो एक बार खंडित हो जाती है, पुनः स्थापित करना सभव नहीं। अतः सत्य अपने इस प्रयत्न में असफल हो जाता है। ऐसी दशा में इस दोष को होमियोपैथिक पद्धति से दूर करने से प्रयास के सम्बन्ध में ब्रैडले इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि इस दोष का पूर्णरूपेण निराकरण कभी नहीं हो सकता, क्योंकि सत्ता को एक बार खण्डों में वितरित करने के पश्चात् जब विचार उन्हें पुनः संयुक्त करना चाहता है, तो अव्यवहितत्व का तत्व उपेक्षित रहता है। यदि वस्तुतः विचार सत् को पूर्णतः अनावृत करना ही चाहता है तो उसे अव्यवहितत्व का अवियोजित स्थिति में समर्थन करना होगा, तब ही वह "तद्" से उसके "किम्" को एकीकृत करने में सफल हो सकेगा और तभी सत्ता एक बार फिर अपने यथार्थ स्वरूप में समर्थित होगी। परन्तु यह अवस्था विचार से भिन्न अपरोक्षानुभूति की अवस्था है—जहां सभी भेद समाप्त हो जाते हैं, विशिष्टताओं का समर्पण हो जाता है और वे एक सर्व अन्तर्भूतकारी में रूपान्तरित हो जाते हैं। सत्य संबंधी अपने इस निष्कर्ष को विरोधाभास के माध्यम से प्रस्तुत करते हुए ब्रैडले कहते हैं :—

"सत्य अस्तित्व की वस्तु है परन्तु अपने इस रूप में उसका अस्तित्व नहीं

1. "For facts which are not ideal, and which show no looseness of content from existence, seem hardly actual." —Ibid., p. 146.
2. "truth, as we have seen, is the effort to heal this disease, as it were homeopathically." —Ibid., p. 146.

यह एक ऐसी विशेषता है जो सत् में विद्यमान है। परन्तु जो सत्य तथा प्रत्यय के रूप में अस्तित्व से पृथक् कर दी गई है और जो उससे पुनः इस प्रकार संयुक्त नहीं हो पाती कि वह एक इकाई के रूप में एकत्र होकर तथ्य का निर्माण क सके। अतः सत्य में हमें खंडित अस्तित्व ही दिखाता है वास्तविक जीवन कदा नहीं। उसका विधेय उसके उद्देश्य के समान कदापि नहीं हो सकता और य ऐसा हो जाय यानी उसके विशेषण अस्तित्व से पुनः आत्मसंगत तथा आत्मसा हो सकें तो वह फिर सत्य नहीं रह जायगा। तब एक अन्य एवं उच्चतर सत में परिणत हो जायगा[1]।"

विचार के जगत में द्वैत :

अतएव विचार के जगत में सदा द्वैत की स्थिति होती है, क्योंकि विचा किसी भी अस्तित्ववान वस्तु के दो पक्षों "तद्" और "किम्" के पृथक्करण मध्य कार्य करता है। फलतः इस तद् व किम् के द्वैत का अतिक्रमण करना उस लिए संभव नहीं। किन्तु इस कथन से ब्रैडले का तात्पर्य यह नहीं कि विचार इ द्वैत के अतिक्रमण का इच्छुक नहीं। पुनः यद्यपि विचार इस द्वैत का अतिक्रम करना चाहता है किन्तु इस भेद और द्वैत की स्थिति के अतिक्रमण का प्रया उसके लिये निःसंदेह आत्मघातक सिद्ध होगा[2] अतः विचार का विषय प्रत्ययात्म ही होगा क्योंकि अपने निजी स्वरूप में इस द्वैत का अतिक्रमण करना विचार के लिये संभव नहीं है।

---

1. "This the truth belongs to existence, but it does not a such exist. It is a character which indeed reality possesse but a character which, as truth and as ideal, has been se loose from existence ; and it is never rejoined to it i such a way as to come together singly and make fac Hence, truth shows a dissection and never an actual life Its predicate can never be equivalent to its subject. An if it became so, and if its adjectives could be at once sel consistent and rewelded to existence, it would not b truth any longer. It would have then passed into anothe and a higher reality."

—Ibid., Page 147

2. " in desiring to transcend this disction thought is aimin at suicide."　　—Ibid., Page 150.

विचार सम्बन्धात्मक है :

विचार में विद्यमान इस मूल असंगति का पूर्ण निषेध उसके अपने स्तर पर संभव नहीं है। और यदि यह मान लिया जाय कि विचार में इस असंगति का अतिक्रमण कर लिया गया है और अब अस्तित्व सत्य से भिन्न नहीं है तो यह कल्पना हमें सीधे विचार की आत्महत्या की ओर ले जायगी। ऐसी दशा में विचार का सत् रूप में अवस्थित होना एक समस्या है। ब्रैडले कहते हैं कि विचार सम्बन्धात्मक और विवेचनात्मक होता है, और यदि वह ऐसा न रह पाय तो उसने निश्चित ही आत्महत्या कर ली है और यदि उसका स्वरूप ऐसा ही है तो प्रश्न है कि फिर उसमें तात्कालिक ज्ञान का समावेश कैसे होगा।"[1]

अन्य शब्दों में यदि विचार अपने वर्तमान स्वरूप का परित्याग कर दे तो वह विचार नहीं रहेगा उसमें अव्यवहित के तत्व को स्वीकार करने से उसकी प्रकृति परिवर्तित हो जायगी और तब वह सम्बन्धात्मक विचार से भिन्न होगा, उसे सम्बन्धातीत होना पड़ेगा और तब वह सत्य से भी अवश्य ही भिन्न होगा क्योंकि विचार जब अपने सम्बन्धात्मक स्वरूप से आगे बढ़ता है तब वह मात्र विचार नहीं रह जाता है।[2] फलत: यह कहा जा सकता है कि अतिक्रमण की इस स्थिति में विचार का अन्त एक ऐसे सत् में होता है जो उसके विशिष्ट स्वरूप को निगल जाता है।[3] किन्तु विचार के किसी उच्च अन्त-र्बोध[4] में अवस्थित होने को अस्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि विचार का लक्ष्य निश्चित ही एक अति सम्बन्धात्मक सत्ता है, किन्तु विचार विचार के रूप में स्वयं को सम्बन्धों तक सीमित रखने के नाते अपने निश्चिय लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता। इन्हीं निष्कर्षों को प्रस्तुत करते हुए ब्रैडले कहते हैं :

"सम्बन्धात्मक स्वरूप एक ऐसा समझौता है, जिस पर विचार अवस्थित होता है। और जिसको वह विकसित करता है। यह अनुभूत पूर्णता से बिखरे

---

1. "Thought is relational and discursive, and, if it ceases to be this, it commits suicide ; and yet if it remains thus, how does it contain immediate presentation."
2. "For when thought begins to be more ·than relational it ceases to be mere thing." —Ibid., Page. 151.
3. "· thought ends in a reality which swallows up its charcter." —Ibid· Page, 152.
4. Higher intuition.

होने की एक अदम्य इच्छा वर्तमान रहती है। इस प्रकार सत्ता विचार में निहित होते हुए भी उससे परे हैं। विचार और सत्ता को न तो एक ही मान सकते हैं और न एक दूसरे से पूर्णत: पृथक् ही मान सकते हैं। सत् विचार के अन्दर निहित आदर्श है। इस कारण सत्ता विचार की पहुंच के एकदम बाहर भी नहीं हैं और उसके समरूप भी नहीं हैं। विचार और सत्ता के सम्बन्ध को अव्यक्त और व्यक्त के सम्बन्ध से भी इंगित कर सकते हैं। विचार व्यक्त और सत्ता उसका ही अव्यक्त रूप है, जिसे व्यक्त करने के लिए वह सतत प्रयत्नशील है। अत: इनमें वास्तव में आन्तरिक सम्बन्ध है बाह्य नहीं।

भिन्न प्रकार से व्यक्त करते हुये कहा जा सकता है कि सत्ता विचार की पूर्णता है, दोनों में पूर्ण व अंश का सम्बन्ध है। विचार अपने स्तर पर अपने ही विशिष्ट रूप में सत्ता को प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि जिस भाषा से वह सत्ता को व्यक्त करना चाहता है वह इतनी जटिल तथा कृत्रिम है कि उसके द्वारा सत्ता की सरल एकता प्रकाशित नहीं हो पाती। अत: विचार को अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अपनी आत्महत्या करनी होगी अपनी विशेषता का निषेध करना होगा। क्योंकि अपने निजी व्यक्तित्व का निराकरण करके ही वह सत्ता को प्राप्त कर सकता है।

कुछ भ्रांतियां और उनका निराकरण :

ब्रैडले द्वारा प्रस्तुत विचार के स्वरूप और सत्ता से उसके सम्बन्धित होने के प्रश्न को लेकर अनेक प्रकार की आपत्तियाँ लाई जा सकती हैं जो कुछ भ्रान्तियों से सम्बद्ध हो सकती हैं। ब्रैडले ने भ्रांति उत्पन्न करने वाली ऐसी आपत्तियों की पूर्व कल्पना करके उनका समुचित निराकरण करने का प्रयास किया है।

विचार और सत्ता का सम्बन्ध बताते हुये जब ब्रैडले निष्कर्षत: यह कहते हैं कि सत्ता विचार से परे है, तो आलोचकों के मस्तिष्क में यह मिथ्या धारणा फैल जाती है कि यदि सत्ता विचार से अधिक है, तो स्वयं विचार उसके विषय में कुछ कहने में असमर्थ है, अत: ब्रैडले की सत्ता इमैनुअल कांट की अपने आप में वस्तु[1] की भांति है। प्रत्युत्तर में ब्रैडले कहते हैं कि यद्यपि हमने विचार को सत्ता से कम या भिन्न तो माना है परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि सत्ता काण्ट के अपने-आप-में-वस्तु की भांति विचार के लिए अज्ञेय है। ब्रैडले सत्ता को इस अर्थ

1. Thing-in-itself.

हुए भेदों को एक सूत्र में बांधने का प्रयास है।"[1]

आलोचनात्मक विचार का यह अहसास है कि सम्बन्धातीत हुए बिना वह सत् को पूर्णतः अनावृत नहीं कर सकता। यही कारण है कि विचार के लिए परम सत् से अपने को एकीकृत करके संतुष्ट होने के प्रयास में अपने निजी स्वरूप को नष्ट करना अनिवार्य है।

विचार व सत्ता में सम्बन्ध :

विचार की प्रत्ययात्मकता कभी समाप्त नहीं होती। उद्देश्य और विधेय दोनों ही इसी विश्व में अर्थात् सत्ता से ही सम्बन्धित हैं। अतः जितने भी प्रत्यय हैं, जिनके माध्यम से हम सत्ता को व्यक्त करते हैं, वे सब सत्ता में ही अवस्थित हैं, हमारी कल्पना में नहीं। परन्तु सत्ता में वे खंडों में विभाजित होकर अस्तित्ववान नहीं है। अतः सभी प्रत्यय सत्ता से सम्बद्ध हैं परन्तु वे वहाँ समन्वित रूप में हैं, विभाजित रूप में नहीं। सत्ता से पृथक् उनकी कल्पना नहीं की जा सकती। अन्य शब्दों में सत्ता में एक ऐसी अविभाज्यता है, जिसे बुद्धि अपने प्रत्ययों के माध्यम से व्यक्त नहीं कर पाती।

विचार और सत्ता में पूर्ण और उसकी ही खण्डों में वितरित एकता का यानी पूर्ण और अपूर्ण अभिव्यंजना का सम्बन्ध है। इस प्रकार ब्रैडले दोनों के बीच एक बड़ा विचित्र प्रकार का सम्बन्ध मानते हैं क्योंकि दोनों एक दूसरे से भिन्न भी हैं और अभिन्न भी। विचार का ध्येय तद् एवं किम् का समन्वित रूप है जो सत्ता स्वयं है, अतः विचार के लिए सत्ता भिन्न का अर्थ है कि सत्ता स्वयं का आदर्श रूप है और यह आदर्श विचार में ही सम्भावना रूप में समाविष्ट रहता है। अतः वह अभिन्न भी है और इस कारण विचार कभी अपने आप से संतुष्ट नहीं रहता व निरन्तर अपने अन्तर्निहित आदर्श को प्राप्त करने का प्रयास करता रहता है। विचार और सत्ता के सम्बन्ध को सीमित-असीमित शब्द प्रतीक—जो उसकी अन्तर्वर्तिता की ओर संकेत करता है, से भी व्यक्त किया जा सकता है। इसी को यूँ भी व्यक्त किया जा सकता है कि विचार मात्र सीमित विचार नहीं है परन्तु उसमें पूर्ण सत्ता को प्राप्त करने की, 'अर्थात् पूर्ण

1. "The relational form is a compromise on which thought stands, and which it develops. It is an altempt to unit differences which have broken out of a felt totality."

—*Ibid.*, Page. 159.

होने की एक अदम्य इच्छा वर्तमान रहती है। इस प्रकार सत्ता विचार में निहित होते हुए भी उससे परे हैं। विचार और सत्ता को न तो एक ही मान सकते हैं और न एक दूसरे से पूर्णत: पृथक् ही मान सकते हैं। सत् विचार के अन्दर निहित आदर्श है। इस कारण सत्ता विचार की पहुंच के एकदम बाहर भी नहीं है और उसके समरूप भी नहीं है। विचार और सत्ता के सम्बन्ध को अव्यक्त और व्यक्त के सम्बन्ध से भी इंगित कर सकते हैं। विचार व्यक्त और सत्ता उसका ही अव्यक्त रूप है, जिसे व्यक्त करने के लिए वह सतत प्रयत्नशील है। अत: इनमें वास्तव में आन्तरिक सम्बन्ध है बाह्य नहीं।

भिन्न प्रकार से व्यक्त करते हुये कहा जा सकता है कि सत्ता विचार की पूर्णता है, दोनों में पूर्ण व अंश का सम्बन्ध है। विचार अपने स्तर पर अपने ही विशिष्ट रूप में सत्ता को प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि जिस भाषा से वह सत्ता को व्यक्त करना चाहता है वह इतनी जटिल तथा कृत्रिम है कि उसके द्वारा सत्ता की सरल एकता प्रकाशित नहीं हो पाती। अत; विचार को अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अपनी आत्महत्या करनी होगी अपनी विशेषता का निषेध करना होगा। क्योंकि अपने निजी व्यक्तित्व का निराकरण करके ही वह सत्ता को प्राप्त कर सकता है।

कुछ भ्रांतियां और उनका निराकरण :

ब्रैडले द्वारा प्रस्तुत विचार के स्वरूप और सत्ता से उसके सम्बन्धित होने के प्रश्न को लेकर अनेक प्रकार की आपत्तियाँ लाई जा सकती हैं जो कुछ भ्रान्तियों से सम्बद्ध हो सकती हैं। ब्रैडले ने भ्रांति उत्पन्न करने वाली ऐसी आपत्तियों की पूर्व कल्पना करके उनका समुचित निराकरण करने का प्रयास किया है।

विचार और सत्ता का सम्बन्ध बताते हुये जब ब्रैडले निष्कर्षत: यह कहते हैं कि सत्ता विचार से परे है, तो आलोचकों के मस्तिष्क में यह मिथ्या धारणा फैल जाती है कि यदि सत्ता विचार से अधिक है, तो स्वयं विचार उसके विषय में कुछ कहने में असमर्थ है, अत: ब्रैडले की सत्ता इमैनुअल कांट की अपने आप में वस्तु[1] की भांति है। प्रत्युत्तर में ब्रैडले कहते हैं कि यद्यपि हमने विचार को सत्ता से कम या भिन्न तो माना है परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि सत्ता काण्ट के अपने-आप-में-वस्तु की भांति विचार के लिए अज्ञेय है। ब्रैडले सत्ता को इस अर्थ

1. Thing-in-itself.

में विचार से परे नहीं मानते कि विचार उसके बारे में निश्चात्मक रूप से कुछ जान ही नहीं सकता। ब्रैडले की सत्ता विचार का ही विषय है यद्यपि विचार सत्ता को पूर्णत: नहीं जान सकता।

कुछ आलोचक ब्रैडले की विचार सम्बन्धी व्याख्या के विरुद्ध यह भी आपत्ति ला सकते हैं कि हेगेल और ग्रीन की भांति ब्रैडले भी विचार को ही अन्तिम सत्[1] के रूप में ग्रहण कर लेते हैं। अत: वे भी उन लोगों की भांति सर्वबुद्धिवादी[2] हैं। इस आपत्ति को अस्वीकार करते हुये इसके निराकरण हेतु ब्रैडले कहते हैं कि यह एक प्रकार का मिथ्या आरोपण है क्योंकि हमने कभी भी विचार को सत् से एकीकृत नहीं किया है। एकीकरण की संभावना स्वीकार कर लेने से ही सर्वबुद्धिवादी कह देना अनुचित है। वे कहते हैं कि हम ऐसा नहीं मानते कि विचार के अतिरिक्त किसी अन्य सत्ता का अस्तित्व नहीं है, या विचार की परिधि के बाहर कोई वस्तु नहीं है। अत: ब्रैडले स्वयं को सर्वबुद्धिवादी या (सर्वविचारवादी) नहीं मानते, यद्यपि उन्होंने वर्तमान प्रसंग में विचार को केन्द्रिय मानते हुये यह स्वीकार किया है कि विचार सम्बन्धात्मक है, परन्तु उसका लक्ष्य निश्चय ही एक संगतिपूर्ण एवं अति सम्बन्धात्मक सत्ता है। अपनी विशिष्ट शैली-गुण और सम्बन्ध तक अपने को सीमित रखने के नाते परम सत् उसकी पहुंच से परे हो जाता है। विचार को परम सत् में रूपांतरित होने के लिए अपने वर्तमान स्वरूप को बदलना होगा—यह कार्य विचार के लिए निश्चय ही आत्मघातक है। अत: स्पष्ट है कि ब्रैडले ने विचार को अन्तिमता नहीं प्रदान की है यद्यपि इसी संदर्भ में वे यह भी कहते हैं कि मैं ऐसे यथार्थवाद का भी समर्थन नहीं करता जो किसी रूप में अति-मानसिकीय तत्व को स्वीकार ही नहीं करता। यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि ब्रैडले के कथन स्वत: विरोधी हैं। प्रत्युत्तर में ब्रैडले कहते हैं कि हमारे कथनों में किसी प्रकार का अन्तर्विरोध नहीं है, हमारी स्थिति यथार्थवाद और सर्वबुद्धिवाद दोनों से भिन्न है। ब्रैडले की सत्ता किस अर्थ में अति मानसिकीय नहीं हैं इसको स्पष्ट करने के लिए वे कहते हैं कि एक ही इकाई में उपस्थिति एवं समन्वित दो तत्व एक दूसरे से इस प्रकार पृथक् एवं बाह्य नहीं हो सकते जिस प्रकार दो असम्बद्ध तत्व। परन्तु एक ऐसी इकाई जिसमें दोनों पक्ष समन्वित रूप में उपस्थित हों उस इकाई से तो अवश्य

1. Ultimete reality.
2. Panlogist.

और उसे विचार इसी कारण अपने वर्तमान रूप से व्यक्त नहीं कर सकता। अत: यदि सत्ता को उसके यथार्थ रूप में पुनः प्राप्त करना है व ऐसे रूप में प्राप्त करना है जो निम्न सम्बन्धात्मक चेतना व सम्बन्धात्मक चेतना से अधिक ठोस हो तो हमें एक ऐसी अनुभूति को प्राप्त करना होगा जो अस्तित्व अन्त-विषय को—तद् किम् को पुन: उनकी उसी अविभाज्यता में ग्रहण कर सके जो प्रथम स्थिति में विद्यमान थी। यह कार्य एक ऐसी अनुभूति का होगा जो सम्बन्धात्मक चेतना से उच्च होगी। इसी को ब्रैडले उच्च सम्बन्धात्मक अनुभूति कहते हैं। इस अवस्था में अनन्त चेतना अनन्त सत्ता के साथ एकीकृत हो जायगी। इसके विषय में विचार नहीं किया जा सकता। पर केवल अनुभूति ही होगी और इसी में हमें सत्ता के वास्तविक रूप का परिचय होगा। इस स्थिति के विषय में यह निश्चित है कि इसमें विचार, मात्र विचार नहीं रह जाता अत: इसके विषय में यह कहा जा सकता है कि 'यदि विचार में तात्कालिक ज्ञान का समावेश करना है तो इसके स्वरूप को रूपान्तरित करना होगा, तब उसका कार्य विधेयों को प्रस्तुत करना न रह जायगा, मात्र सम्बन्धों से परे और सत्य के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु पर पहुंच जाना होगा, संक्षेप में विचार का विलय किसी अधिक संपन्न ज्ञान में होना होगा।[1]

यहां पर एक और महत्वपूर्ण आपत्ति पर विचार करना आवश्यक है। एक व्यापक संपूर्ण में रूपान्तरित होने के लिए विचार की आत्महत्या का सिद्धांत क्या बदतो व्याघाती[2] नहीं है। अर्थात् यह प्रश्न उठता है कि विचार का यह कैसा आदर्श है जिसमें स्वयं उसे अपने व्यक्तित्व का निषेध करना पड़ता है ? इस निषेध में कोई सार्थकता है, अथवा नहीं ? अन्य शब्दों में क्या ऐसे आदर्श की कल्पना की जा सकती है, जिसमें किसी व्यक्तित्व को अपनी ही आंतरिक विशेषता का परित्याग करना पड़े और वह परित्याग उसके लिये सार्थक हो ?

---

1. "To make it include immediate experience its character must be transformed. It must cease to predicate, it must get beyond mere relations, it must reach something other than truth. Thought, in word, must have ceen absorbed into a fuller experience."

—Appearance and Reality, P. 151.

2. Self-contradictory. (स्वतो व्याघाती का भी प्रयोग किया जाता है)

इस आपत्ति का निराकरण करते हुये ब्रैडले कहते हैं कि आत्महत्या के इस सिद्धान्त में कोई विरोध नहीं है क्योंकि यदि विचार, मात्र विचार ही होता तथा गुण और सम्बध ही उसके रूप होते तो आत्महत्या का अर्थ अपने व्यक्तित्व का समर्पण होता ऐसी दशा में विचार के पास कुछ भी शेष नहीं रहता। पर विचार एक वृहत चेतना से आप्लावित है और उसकी अभिव्यंजना ही उसकी निष्पत्ति है और निष्पत्ति को प्राप्ति करने में अपनी विशिष्टता का समर्पण अनिवार्य है—इसलिए मंगलकारी भी है। अतएव विचार को सत् से न्यून कहने का यह अर्थ नहीं कि दोनों का एकीकरण संभव नहीं क्योंकि प्रो० सक्सेना कहते हैं—इस कथन द्वारा कि विचार सत् से न्यून है, ब्रैडले ने जो स्पष्ट करना चाहा है उसका तात्पर्य यह नहीं कि दोनों को एकीकृत नहीं किया जा सकता।[1] प्रत्युत एकत्व की इस संभावना को ब्रैडले स्वीकार करते हैं।

कुछ आलोचकों का कथन हो सकता है कि यह असंभव प्रतीत होता है कि कोई भी वस्तु अपनी आत्महत्या की इच्छा करे व उस आत्महत्या से अपने अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त करके सन्तोष प्राप्त करे। अर्थात् ऐसे आदर्श की कल्पना नहीं की जा सकती जिसमें विचार के निजी अस्तित्व का विलय हो जाय व उसे अपनी आन्तरिक विशेषताओं का हनन करके ही सन्तुष्ट होना पड़े।

परन्तु इसके विचार के विपरीत जी० आर० जी० म्यूर का मत है कि यदि विचार मात्र सीमित होता, वही उसका अन्तिम स्वरूप होता, तब उसकी विशेषताएं ही उसकी अन्तिम सीमाएं भी होतीं व उन विशेषताओं की सुरक्षा उसके जीवन का एकमात्र ध्येय होता। किन्तु वस्तुत: विचार मात्र सीमित ही नहीं है, उसकी विशेष विशेषताओं के पीछे एक सामान्य तत्व भी कार्य करता है। अन्य शब्दों में विचार एक ऐसी ससीम सत्ता है जो असीम द्वारा पोषित है और वही असीम उसका वास्तविक यथार्थ व्यक्तित्व हैं। अत: यदि अपने यथार्थ व्यक्तित्व को प्राप्त करने के लिए, विचार के अपने सीमित व्यक्तित्व का अपहरण अनिवार्य है तब तो उस अवस्था में प्रत्येक सीमित व्यक्तित्व को अपने सीमित व्यक्तित्व के त्याग के लिए सदैव तैयार रहना चाहिए क्योंकि सीमित

1. "In saying that thought is less than reality, what Bradley wishes to stress is not the obvious fact that the two cannot become identical." S. K. Saxena—Studies in Metaphysics of Bradley. Page 204.

व्यक्तित्व के त्याग से वह नष्ट नहीं हो जाता वरन् उसे अपने में असीम अन्तर्वर्ती की प्राप्ति होती है।

उपर्युक्त दोनों मतों में जी० आर० जी० म्यूर का द्वितीय मत ही उचित प्रतीत होता है। वस्तुत: ब्रैडले इसी अर्थ को ध्यान में रखकर विचार (आनुभविक विचार की आत्महत्या की चर्चा करते हैं, व यह उचित भी है, इसमें कोई असंभव बात नहीं है क्योंकि वास्तव में यह अन्य संदर्भ में अहम[1] के समर्पण का प्रतीक है। अहंकार व्यक्तित्व के त्याग के पश्चात् ही यथार्थ व आदर्श व्यक्तित्व को प्राप्त किया जा सकता है। म्यूर कहते हैं कि यदि ब्रैडले ने विचार में बीज रूप में अन्तर्निहित असीमित तत्व को स्वीकार न किया होता व उसे मात्र विचार के ही रूप में प्रस्तुत किया होता तो विचार की आत्महत्या के विरुद्ध उठाई गई आपत्तियों से बचना कठिन होता परन्तु ब्रैडले के अनुसार विचार मात्र विचार नहीं है वरन् उसमें पूर्णता की प्राप्ति की एक अदम्य इच्छा विद्यमान रहती है।[2] अत: विचार के लिए अपनी वैयक्तिकता खोकर विरोधों से युक्त असीमितता को प्राप्त करने में कोई असुविधाजनक बात नहीं है। म्यूर का कथन है कि :

"एक उच्च विचार का प्रत्यय ब्रैडले के दर्शन में सर्वत्र विद्यमान है, और जब वे विचार की आत्महत्या की चर्चा करते है, तो उनका तात्पर्य आनुभविक विचार से है, जिसके लिए वे ऐसा कहते हैं।[3]

अत: ब्रैडले के विचार के लिए ऐसी स्थिति की कल्पना करना असंभव नहीं जिसमें उसके निजी अस्तित्व का विलय हो जाय क्योंकि सभी सत्ताए सम्पूर्ण व्यक्तित्व की प्राप्ति के लिए अपने सीमित व्यक्तित्व को छोड़ सकती है, तो विचार के लिए भी ऐसा चाहना असम्भव नहीं और न ही अत्याचार है।

यहाँ ब्रैडले के मत के विरुद्ध आक्षेप में यह भी कहा जा सकता है कि अन्तिम सत् विचार का ही लक्ष्य होने से स्वयं भी विचार मात्र ही होगा परन्तु यहाँ यह मानकर चला जाता है, कि विचार ऐसी परिपूर्णता की कामना

---

1. Ego.
2. "Thought is not simply thought it contains the nisus towards the whole."
3. G. R. G. Mure "The concept of a greater thought is present in Bradley throughout and when he refers to suicide of thought it is the empirical thought of which he speaks."

नहीं कर सकता जिसमें वह स्वयं लुप्त हो जाय। परन्तु ब्रैडले कहते हैं :

"क्या नदी समुद्र में मिलकर अपने को विलीन नहीं कर देती और आत्मा स्वयं को प्रेम में नहीं खो देती।[1] पुनश्च :

"और फिर प्रभुत्व का ऐसा ही दावा संकल्प की ओर से और पुन सौन्दर्य अनुभूति और आनन्द की ओर से भी किया जा सकता है। जब परम् सर में सभी तत्व अपने लक्ष्य की प्राप्ति करते हैं तो पृथक्-पृथक् वह लक्ष्य किसी एव का नहीं हो सकता। नैतिकता के उदाहरण द्वारा हम इस सिद्धान्त का निरूपण कर सकते हैं। पर्यवसन की इच्छा वस्तुतः उसी को होती है जो केवल मात्र नैतिक न होकर अति-नैतिक होता है। यही नहीं वरन् हमारा व्यक्तित्व स्वर यही नहीं सम्पूर्ण जीवन व्यक्तित्व से परे की कोई वस्तु होना चाहता है।[2] पुन आनुभविक विचार—जिसके स्वातिक्रमणीय स्वरूप की चर्चा ब्रैडले बराबर करते हैं, उसके सम्बन्धात्मक स्वरूप के विषय में ब्रैडले कहते हैं, कि "यह एक ऐसा समझौता है जिसके ऊपर विचार अवस्थित होता है और जिसको वह सतत विकसित करता है। यह अनुभूति पूर्व सम्बन्धात्मक पूर्णता से विखरे हुए भेदों "उन भेदों को एक सूत्र में करने का प्रयत्न है जो एक अन्तर्वर्ती तादात्म्य द्वारा निकट आने के लिए विवश है। पुनः इस अनेकता तथा एकता में सतत समझौता—यही सम्बन्ध का सार है।"[3]

---

1. " does not the *river run* into the sea, and the *self* lose itself in love ? —Appearance and Reality, p. 153.
2. "And further, as good a claim for predominance might be made on behalf of will, and again on beqelf of beauty and sensation and plersure. Where all elements reach their end in the Absolute, that end can belong to no one severally. We may illustrate this principle by the case of morality. That essentially desires an end which is not merely moral because it is super-moral. Nay, even personality itself, our whole individual life and *striving tends to* something beyond mere *personality.*" —*Ibid.*, p. 153.
3. "The relational form is a compromise on which thought stands and which it develops. It is an attempt to unite differences which have broken out of the felt totality–differences forced together by an underlying identity and a compromise between the plurality and the unity, this is the essence of relation." —Ibid., p. 159.

ही भिन्न होगी, जिसमें केवल एक ही पक्ष उपस्थित हो। विचार में केवल एक तत्व (किम्) है, व सत्ता में दोनों तत्व (तद्-किम्) है। अत: विचार और सत्ता में भिन्नता है, दोनों एक ही नहीं है तभी ब्रैडले कहते है कि सत्ता विचार के लिए अन्यत है।

पुन: विचार के लिये सत् किस अर्थ में अतिवर्ती है इसे स्पष्ट करते हुए ब्रैडले कहते हैं: "हम यह भी सुन सकते हैं कि किसी विदेशी (वाह्य) पूर्णता की अपेक्षा रखने का तथ्य विचार के लिए एक पुरानी कठिनाई है। यदि विचार वास्तव में इसकी इच्छा करता है तो यह कोई 'अन्यत्' नहीं हो सकता, क्योंकि हम उसी की अपेक्षा रखते हैं जिसको जानते हैं। अत: विचार की अपेक्षा का विषय कोई वाह्य वस्तु नहीं रह जाती। परन्तु हमारा उत्तर यह है कि हम ऐसी किसी भी द्विविधा की गहराई में पैठ चुके हैं। विचार को अपने लिए ऐसी विशेषता की अपेक्षा होती है जो सत् का निर्माण करती और ये विशेषताएं गृहीत हो जाने पर 'मात्र विचार' को नष्ट कर डालती है। इसीलिए वह एक ऐसी विशेषता है जो विचार से परे है, परन्तु फिर भी विचार उसकी अपेक्षा कर सकता है क्योंकि उसके अस्तित्व में वह पहले से ही अपूर्ण अवस्था में रहती है, और किसी ऐसी वस्तु की पूर्णता की कामना करना जो पहले से ही विद्यमान है, विरोधाभास नहीं ही है।"[1]

अत: सत् का विचार से अन्यत् होने का अर्थ यह नही कि विचार किसी नितान्त विदेशीय लक्ष्य की प्राप्ति करना चाहता है, विपरीतत: वह एक ऐसी अनु-

1. "The fact of thought's desiring a foreign perfection, we may hear, is precisely the old difficulty. It thought desires this, then it is no other, for we desire only what we know. The object of thought's desire cannot, hence, be a foreign object, for what is an *object* is, therefore, not foreign. But we reply that we have penetrated below the surface of any such dilemma. Thought desires for its content the character which makes reality. These feactures, if realized, would destroy mere thought; and hence they are another beyond thought. But thought, nevertheless, can desire them, because its content has them already in incomplete form. And in desire for the completion of what one has there is no contradiction."

—Ibid., pp. 158-59.

भूतिकी प्राप्ति करना चाहता है, जिसमें विचार की प्रत्ययात्मकता और तात्कालिकता का समन्वय हो सके और यह कोई अत्याचार नहीं क्योंकि तात्कालिकता के लिये तत्व को वह पुनः समन्वित करना चाहता है, वह अविकसित क्षमता के रूप में उसमें पहले से ही विद्यमान रहता है क्योंकि हर प्रत्ययात्मकता का आधार कोई तात्कालिक अनुभव ही होता है, अतः उसको प्राप्त करने की चेष्टा करना अथवा विकसित करना किसी विजातीय तत्व की प्राप्ति करना नहीं है।

इसी के साथ एक अन्य आपत्ति यह है संभवतः ब्रैडले ने विचार और सत्‌में बाह्य सम्बन्ध माना है जो इस सिद्धान्त को अध्यात्मवाद की सीमा से बाहर ले जाता है। इस आपत्ति के विरुद्ध ब्रैडले का कथन है कि बाह्य का अर्थ नितान्त असंबद्ध होना नहीं है।

ब्रैडले के अध्यात्मवाद में आंतरिक संबंध को स्वीकार किया गया है। सत् विचार में अन्तर्वर्ती है इसलिए विचार द्वारा परम सत् का स्वीकारात्मक ज्ञान संभव है अतः विचार और सत् में बाह्य संबंध को स्वीकार करना अनुचित प्रतीत होता है। वास्तविकता तो यह है कि सत् विचार के माध्यम से व्यंजित हो रहा है।

पुनः यह आपत्ति भी लायी जा सकती है कि विचार अपनी विशिष्ट शैली, गुण और सम्बन्ध के माध्यम से सत् को व्यक्त करता है तो सत् की गुण सम्बन्ध के माध्यम से यह व्याख्या कहां तक तर्कसंगत है ?

ब्रैडले कहते हैं कि (विचार के बारे में यह कथन ठीक नहीं है) यद्यपि गुण और सम्बन्ध विचार की विशिष्ट शैली अवश्य है परन्तु इसके माध्यम से परम सत् की पूर्ण व्याख्या संभव नहीं। गुण और सम्बन्ध शैली की प्रकृति की विस्तृत व्याख्या के उपरांत ब्रैडले का निष्कर्ष है कि—"सम्बन्धात्मक विचार-शैली जो व्यंजकों और उनके सम्बन्धों को लेकर चलती है, केवल आभास ही दे सकती है सत्य नहीं।"[1] अतः यह निश्चित है कि परम सत् को अनावृत्त करने के प्रयास में विचार को किसी न किसी प्रकार से सम्बन्धातीत होना पड़ेगा—उसे अपनी विशिष्टताओं का परित्याग करना होगा। यह आलोचनात्मक अनुचिंतन का निष्कर्ष है और यही इस बात का प्रमाण भी है कि विचार विसंगतियों से मुक्त होना चाहता है यानी कि विचार एक उच्चतर परिणति

1. "... a relational way of thought—anyone that moves by the machinary of terms and relations— must give appearance, and not truth." —Ibid., p. 28.

का आकांक्षी है और यही विचार का आदर्श है जिसकी अवहेलना सम्भव नहीं है।

पुन: विचार और सत् में इस प्रकार आन्तरिक सम्बन्ध मान लेने के बाद भी कुछ आलोचक यह कह सकते हैं कि जब इनमें आंतरिक सम्बन्ध है तो अतिक्रमण की क्या आवश्यकता है ? विचार से बाहर सत् के अवस्थित न होने पर भी उनमें क्यों अन्तर स्वीकार किया गया है ? ब्रैडले कहते हैं कि यह ठीक है कि विचार और सत् में आन्तरिक सम्बन्ध है किन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि सत् विचार से अधिक व्यापक है। अपनी-अपनी जगह दोनों कथन सत्य हैं। हम इससे इनकार नहीं कर सकते कि सत्ता विचार का विषय है, आदर्श है क्योंकि विचार सत् को जानना चाहता है व उससे एकीकृत होकर संतुष्ट होना चाहता है। परन्तु संपूर्ण सत्ता विचार का सहज विषय नहीं हो पाता—आंशिक रूप में ही विचार उसे, अपना विषय बना सकता है। दूसरी ओर इससे भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि सत्ता विचार के सहज रूप से पार्थक्य बनाये रखती है। इस कथन की पुष्टि में ब्रैडले कहते हैं :

"मैं इस बात को अस्वीकार नहीं करता कि सत्ता विचार का विषय है, मैं तो इस बात को अस्वीकार करता हूं कि वह मात्र विचार का विषय है[1]।"

पुन: वे कहते हैं—

"आपको पता चलेगा कि विचार का विषय अन्ततोगत्वा प्रत्ययात्मक होता है और ऐसा कोई प्रत्यय नहीं जो तत्वत: अपनी सत्ता को अपने अन्तर्गत रखता हो।"[2]

अत: विचार को अपने आदर्श की प्राप्ति के लिए अपने स्वभाव के कारण अपने सीमित स्वरूप का अतिक्रमण करना ही होगा। दोनों के आन्तरिक सम्बन्ध को स्वीकार करने का तात्पर्य यह नहीं कि विचार और सत् में पूर्णत: एकत्व है।

विचार सत्ता की तथ्यात्मकता को नहीं जान सकता इसीलिए सत्ता से उसका पार्थक्य बना रहता है। यहां यह आपत्ति लाई जा सकती है कि जिस विचार को आप सत्ता से भिन्न मानते हैं वह तो वर्तमान समस्या की सीमित

1. "For I do not deny that reality is an object of thought ; I deny that it is barely and merely so." —Ibid., Page 149.
2. "You will find that the object of thought in the end must be ideal, and that there is no idea which, as such, contains its own existence." —Ibid., Page 149.

व सान्त विचार है, परन्तु हम एक ऐसे पूर्ण विचार की कल्पना भी तो कर सकते है, जिसमें उद्देश्य विधेय दोनों परस्पर बराबर हों, अर्थात् जो इतना पूर्ण हो कि सत्ता को प्रस्तुत कर सके। इस आपत्ति के उत्तर में ब्रैडले कहते हैं कि ऐसा विचार की कल्पना—जहां उद्देश्य और विधेय बराबर हो जाय, संभव ही नहीं है। विचार की जैसी प्रकृति प्रस्तुत की गई है, उसमें तो उद्देश्य और विधेय कम से कम दो पद होने आवश्यक हैं साथ ही इनका भेद भी अत्यावश्यक है। वे आगे कहते हैं कि यदि हम ऐसे विचार की कल्पना कर भी लें जिसमें उद्देश्य-विधेय परस्पर बराबर हो जाय तो वह पुनरुक्ति[1] होगी। क्योंकि यदि विचार में उद्देश्य-विधेय का भेद समाप्त हो जाय तो यह वह विचार नहीं रहेगा जिसे हम जानते हैं तब विचार एक अनुभूति में बदल जायगा, जिसमें विचार के अतिरिक्त अन्य भी तत्व होंगे जैसे तात्कालिकता का तत्व आदि। इस अनुभूति में हमारा सुपरिचित विचार एक ऐसे अंशक के रूप में विद्यमान होगा, जो सम्पूर्ण अनुभूति में आत्मसात होकर ही अस्तित्ववान है। विचार की ऐसी पूर्ण अवस्था के चित्र को प्रस्तुत करते हुए ब्रैडले कहते हैं :

"इस प्रकार की परिपूर्ण अवस्था में उस अव्यवहितत्व का एक श्रेष्ठ रूप होगा जो न्यूनाधिक रूप में अनुभूति में पाया जाता है, और इस परिपूर्णता में सारे भेद और विभाग विलीन हो जायेंगे। वह एक परिपूर्ण अनुभव होगा जिसमें सारे तत्व समन्वित रूप में होंगे। वहां पर विचार एक श्रेष्ठ अन्तर्दृष्टि के रूप में होगा, संकल्प का वह रूप होगा जिसमें आदर्श यथार्थ हो चुका होगा, और इस समस्त सिद्धि में सौन्दर्य, सुख तथा भावना सभी बनी रहेगी।"[2] उस परम सत् के अन्तर्गत सत्य तथा तथ्य—दोनों ही रहेंगे, जायगा कुछ भी नहीं। अत: उसमें हमारे अनुभव के प्रत्येक सूत्र का समावेश होना चाहिए। सत्ता वास्तव में एक समन्वित तात्कालिक अनुभूति है

1. Tautology.
2. "Tuch a whole state would possess in a superior form that immediacy which we find (more or less) in feeling; and in this whole all divisions would .be healed up. It would be experience entire, containing all elements in harmony. Thought would be present as a higher intuition; will would be there where the ideal had become reality; and beauty and pleasure and feeling would line on in this total fulfilment." —Ibid. P. 152.

अतः विचार के लिए समन्वित इकाई को ग्रहण करने में कोई अस्वाभाविक बात नहीं है। यही नहीं, यह समन्वित अनुभूति विचार की मृत्यु नहीं वरन् उसका पूर्णत्व है और पूर्णत्व की यह कामना अनुचित भी नहीं। इसके रूप को स्पष्ट करते हुए ब्रैडले कहते हैं :

इसलिए न तो एकता का पक्ष और न अनेकता का पक्ष और न इन दोनों विशेषताओं के संयुक्त रूप का पक्ष ही विचार से वस्तुतः बहिर्गत है। एक पूर्णता प्राप्त करने में, प्रत्येक वस्तु को आत्मसात करने और साथ ही एक संघर्ष को अन्तर्निहित रखने में तथा उससे ऊपर उठने की इच्छा करने में विचार वस्तुतः किसी बाह्य वस्तु की अपेक्षा नहीं करता। परन्तु जैसा कि हम देख चुके हैं इस प्रकार की पूर्णता घातक सिद्ध होगी। इस प्रकार का परिणाम मात्र विचार को बलात् समाप्त कर देगा। पुनः "इस प्रकार की पूर्वकल्पित स्वातिक्रमणता एक 'अन्यत' है परन्तु इस अन्यत को व्यक्त करना कोई विरोध नहीं।"[1]

स्पष्ट है कि विचार अथवा किसी भी सीमित वस्तु को अपनी पूर्णता प्राप्त करने के लिए अपनी अपूर्णता खोनी पड़ेगी। इस रूप में सत्ता को विचार से अन्यत मानने की स्थिति अर्थात् विचार को सत् से पृथक मानने में कोई असंगति नहीं है। सत् विचार के लिए विदेशी नहीं अपितु उसकी पूर्णता की स्थिति है। जब हम अपूर्णता की स्थिति में पूर्णता की कल्पना करेंगे तो वह अन्यत तो रहेगा ही, ब्रैडले के शब्दों में :

"इसीलिए हमारे परम सत् के भीतर विचार को अपना अन्यत बिना किसी असंगति के साथ मिल सकता है। सम्पूर्ण सत् केवल विचारित विषय ही होगा परन्तु वह इस तरह से विचारित होगा कि मात्र विचार भी उसमें लीन

1. "Hence neither the aspect of unity, nor of plurality, nor of both these features in one is really foreign to thought. There is nothing foreign that thought wants in desiring to be a whole, to comprehend everything, and yet to include and be superior to discord. But on the other hand, such a completion, as we have seen, would prove destructive ; such an end would imphatically make an end of mere thought ...... Such anticipated self transcendence is another ; but to assert that other is not a self-contradiction."
—Ibid., p. 160

व सान्त विचार है, परन्तु हम एक ऐसे पूर्ण विचार की कल्पना भी तो क सकते है, जिसमें उद्देश्य विधेय दोनों परस्पर बराबर हों, अर्थात् जो इत पूर्ण हो कि सत्ता को प्रस्तुत कर सके। इस आपत्ति के उत्तर में ब्रैडले कह हैं कि ऐसा विचार की कल्पना—जहां उद्देश्य और विधेय बराबर हो जा संभव ही नहीं है। विचार की जैसी प्रकृति प्रस्तुत की गई है, उसमें तो उद्देश और विधेय कम से कम दो पद होने आवश्यक हैं साथ ही इनका भेद अत्यावश्यक है। वे आगे कहते हैं कि यदि हम ऐसे विचार की कल्पना कर लें जिसमें उद्देश्य-विधेय परस्पर बराबर हो जाय तो वह पुनरुक्ति[1] होगी क्योंकि यदि विचार में उद्देश्य-विधेय का भेद समाप्त हो जाय तो यह वह विचा नहीं रहेगा जिसे हम जानते हैं तब विचार एक अनुभूति में बदल जायगा, जिस विचार के अतिरिक्त अन्य भी तत्व होंगे जैसे तात्कालिकता का तत्व आदि इस अनुभूति में हमारा सुपरिचित विचार एक ऐसे अंशक के रूप में विद्यमा होगा, जो सम्पूर्ण अनुभूति में आत्मसात होकर ही अस्तित्ववान है। विचार क ऐसी पूर्ण अवस्था के चित्र को प्रस्तुत करते हुए ब्रैडले कहते हैं :

"इस प्रकार की परिपूर्ण अवस्था में उस अव्यवहितत्व का एक श्रे रूप होगा जो न्यूनाधिक रूप में अनुभूति में पाया जाता है, और इ परिपूर्णता में सारे भेद और विभाग विलीन हो जायेंगे। वह एक परिपू अनुभव होगा जिसमें सारे तत्व समन्वित रूप में होंगे। वहां पर विचार ए श्रेष्ठ अन्तर्दृष्टि के रूप में होगा, संकल्प का वह रूप होगा जिसमें आद यथार्थ हो चुका होगा, और इस समस्त सिद्धि में सौन्दर्य, सुख तथा भावन सभी बनी रहेगी।"[2] उस परम सत् के अन्तर्गत सत्य तथा तथ्य—दोन ही रहेंगे, जायगा कुछ भी नहीं। अतः उसमें हमारे अनुभव के प्रत्येक सूत्र का समावेश होना चाहिए। सत्ता वास्तव में एक समन्वित तात्कालिक अनुभूति है

---

1. Tautology.
2. "Tuch a whole state would possess in a superior form tha immediacy which we find (more or less) in feeling; anc in this whole all divisions would be healed up. It woulc be experience entire, containing all elements in harmony, Thought would be present as a higher intuition; wil would be there where the ideal had become reality; anc beauty and pleasure and feeling would line on in this total fulfilment."   —Ibid. P. 152.

अत: विचार के लिए समन्वित इकाई को ग्रहण करने में कोई अस्वाभाविक बात नहीं है। यही नहीं, यह समान्वित अनुभूति विचार की मृत्यु नहीं वरन् उसका पूर्णत्व है और पूर्णत्व की यह कामना अनुचित भी नहीं। इसके रूप को स्पष्ट करते हुए ब्रैडले कहते हैं :

इसलिए न तो एकता का पक्ष और न अनेकता का पक्ष और न इन दोनों विशेषताओं के संयुक्त रूप का पक्ष ही विचार से वस्तुत: बहिर्गत है। एक पूर्णता प्राप्त करने में, प्रत्येक वस्तु को आत्मसात करने और साथ ही एक संघर्ष को अन्तर्निहित रखने में तथा उससे ऊपर उठने की इच्छा करने में विचार वस्तुत: किसी बाह्य वस्तु की अपेक्षा नहीं करता। परन्तु जैसा कि हम देख चुके हैं इस प्रकार की पूर्णता घातक सिद्ध होगी। इस प्रकार का परिणाम मात्र विचार को बलात् समाप्त कर देगा। पुन: "इस प्रकार की पूर्वकल्पित स्वातिक्रमणता एक 'अन्यत' है परन्तु इस अन्यत को व्यक्त करना कोई विरोध नहीं।"[1]

स्पष्ट है कि विचार अथवा किसी भी सीमित वस्तु को अपनी पूर्णता प्राप्त करने के लिए अपनी अपूर्णता खोनी पड़ेगी। इस रूप में सत्ता को विचार से अन्यत मानने की स्थिति अर्थात् विचार को सत् से पृथक मानने में कोई असंगति नहीं है। सत् विचार के लिए विदेशी नहीं अपितु उसकी पूर्णता की स्थिति है। जब हम अपूर्णता की स्थिति में पूर्णता की कल्पना करेंगे तो वह अन्यत तो रहेगा ही, ब्रैडले के शब्दों में :

"इसीलिए हमारे परम सत् के भीतर विचार को अपना अन्यत विना किसी असंगति के साथ मिल सकता है। सम्पूर्ण सत् केवल विचारित विषय ही होगा परन्तु वह इस तरह से विचारित होगा कि मात्र विचार भी उसमें लीन

---

1. "Hence neither the aspect of unity, nor of plurality, nor of both these features in one is really foreign to thought. There is nothing foreign that thought wants in desiring to be a whole, to comprehend everything, and yet to include and be superior to discord. But on the other hand, such a completion, as we have seen, would prove destructive ; such an end would imphatically make an end of mere thought ...... Such anticipated self transcendence is another ; but to assert that other is not a self-contradiction."
—Ibid., p. 160

हो जायगा। यही सत विचारणा अन्ततः पूर्ण रूपेण संतुष्ट अनुभूति होगी। और ऐसे ही संकल्प भी पूर्णतः संकल्पित होकर हमारा परम सत् बन जाता है।……अनुभूति विचार और संकल्प सभी में ऐसी अपूर्णताएं होती हैं जो किसी पूर्णता की ओर संकेत करती हैं। परन्तु इस उच्च इकाई (पूर्णता) में किसी का भी कोई अंश नष्ट नहीं होता।"[1]

अब ब्रैडले कहते हैं कि यदि यह आपत्ति लाई जाय कि ऐसा परम सत् कांट की 'स्वयं-वस्तु'[2] है तो मुझे सदेह होगा कि आपत्ति करने वाले परम सत् व 'स्वयं-वस्तु. को ठीक समझते भी हैं, क्योंकि जो वस्तु सत्य को अपने में अन्तर्निहित कर सकती है, उसे **स्वयं-वस्तु** की संज्ञा किस प्रकार दी जा सकती है। ब्रैडले अपने-आप-में-वस्तु के सिद्धान्त को नहीं मानते साथ ही इस सिद्धान्त से अपने सिद्धांत को पूर्णतः भिन्न मानते हैं क्योंकि उनके अनुसार परम सत् सभी विशिष्ट चेतनाओं का प्राप्य है। वह एक ऐसी समग्र समन्वित अनुभूति है, जिसमें तीनों तत्व (बुद्धि, भावना, संकल्प) अपनी पूर्णता को प्राप्त करते हैं और इसीलिए अपूर्ण स्थिति में भी वे उस प्राप्य को अपने में आत्मसात् रखते हैं। परन्तु जिस परम सत् को वह अपूर्ण स्थिति में आत्मसात् किये रहते हैं, वह उनके लिये अज्ञेय नहीं हो सकता क्योंकि उसी आदर्श की प्रेरणा के अधीन ये सभी कार्य कर रहे हैं। यद्यपि उस परम सत् को हम भले ही परिभाषित न कर सकें परन्तु वह हमारे लिये पूर्णतः अज्ञेय नहीं हो सकता। इस प्रकार स्वयं वस्तु के सिद्धान्त का विरोध कर अपने भिन्न मत की स्थापना करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि सत् के जिस रूप के सिद्धान्त से हम नियंत्रित हो रहे हैं वह कैसे पूर्णतः अपरिभाष्य व अज्ञेय हो सकता है। भले ही हम उसकी उचित परिभाषा देने में असमर्थ हों? और इसी कारण ब्रैडले अपनी पुस्तकों में कहीं भी परम

---

1. "Hence in our Absolute, thought can find its other without inconsistency. The entire reality will be merely the object thoughtout. but thought out in such a way that mere thiuking is absorbed. This same reality will be feeling that is satisfied completely." "... And again volition, if willed out, becomes our Absolute" ...... "Feeling, thought and volition have all defects which suggest something higher. But in that higher unity no fraction of anything is lost." —Ibid., pp: 160-161.
2. "Thing-in-itself."

सत् को परिभाषित करने का प्रयास नहीं करते, वे केवल उसकी ओर संकेत करते हैं।

सारांशत: परम सत् एक मूर्त सामान्य है जिसमें संपूर्ण छोटे-छोटे विशेषों का निषेध हो जाता है। पर स्पष्ट रहे कि सत् अ-विशेष हैं व विचार विशेष। अतएव इनको एक नहीं कहा जा सकता। साथ ही व्यावहारिक जगत के व अनुभूति के सभी तत्व सीमित हैं अतः उनमें से किसी एक के साथ अथवा कुछ के साथ अथवा सभी के संयोग के साथ हम सत् का तादात्म्य नहीं कर सकते, यद्यपि वह सभी चेतनाओं का प्राण है, ऐसी समग्र अनुभूति या समग्र इकाई है जिसमें सभी तत्व पूर्णता प्राप्त करते हैं व अपूर्ण स्थिति में भी उस पुण्य को ये सत्ताएं अपने में अन्तर्निहित सत् के रूप में आत्मसात् किये रहती हैं। इसी कारण ब्रैडले कहते हैं कि मेरा संपूर्ण व्यक्तित्व जो प्रेरणा या आदर्श रूप में मेरे अन्दर निहित है, वह मेरे लिये भावात्मक रूप में अपरिभाष्य भले ही हो परन्तु अज्ञेय कदापि नहीं हो सकता क्योंकि उसकी अभिव्यक्ति प्रत्येक आभास के माध्यम से हो रही है।

निष्कर्ष :

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि विचार मात्र विचार के रूप में सत्ता को प्राप्त नहीं कर सकता व परम सत् एक विशेष अर्थ में, विचार के दायरे से बाहर ही रह जाता है[1] फिर भी यह कहना अनुचित नहीं होगा कि ब्रैडले ने विचार के स्वरूप को जिस ढंग से प्रस्तुत किया है, वह ठीक हैं, उनके चिंतन में कोई दोष नहीं है। प्राय: सभी अध्यात्मकवादी तत्वमीमांसक 'विचार' को इसी रूप में ग्रहण करते हैं। परन्तु यहां इसकी चर्चा भी अवांछनीय नहीं कि ब्रैडले के तत्वमीमांसीय चिंतन में कुछ नवीनता अवश्य हैं। यह नवीनता विशेषतया काण्ट तथा हेगेल के संदर्भ में उल्लेखनीय है। वस्तुत: ब्रैडले की स्थिति काण्ट और हेगेल के मध्य की है। काण्ट के दर्शन में विचार तथा सत् में एक पूर्ण सम्बन्ध विच्छेद दिखाई देता है, और हेगेल के दर्शन में 'विचार और सत्' में पूर्ण तादात्म्य दिखाया गया है। किन्तु ब्रैडले की स्वीकृति है कि 'विचार' और 'सत्' सर्वथा एक नहीं साथ ही उनमें इतनी विषमता भी

1. "Our intellect, then, has been condemned to confusion and bankruptcy, and the reality has been left out side uncomprehended."

नहीं कि 'विचार' 'सत्' के अनावरण में नितान्त असमर्थ हो। यद्यपि विचार सत् को उसकी पूर्णता में ग्रहण करने में अपने वर्तमान स्वरूप के नाते असमर्थ हैं तथापि वह सत् के सामान्य स्वरूप की एक रूपरेखा तो प्रस्तुत कर ही सकता है। अन्य शब्दों में विचार अपनी विसंगतियों के कारण सत् को पूर्ण व्यंजना में असफल होने के पश्चात् भी वह सत् का एक प्रतिमान[1] प्रस्तुत करके परम सत् की दिशा में अग्रसर होने का महत्वपूर्ण संकेत देता है। विचार द्वारा सत् के अनावरण की इस संभावना का हम निषेध नहीं कर सकते क्योंकि जो संभव है उसे सामान्य सिद्धांत के अनुसार होना चाहिये और वह निःसंदेह है।"[2]

1. Criterion.
2. "For what is 'possible' and what a general principle compels us to say 'must be' that certatnly 'is'."
—Ibid., page. 173.

३ त्रुटि

ब्रैडले ने परम सत् के विषय में जो सामान्य रूपरेखा प्रस्तुत की है, यह एक परिपूर्ण सत्ता की है। इस सत्ता की स्वीकृति के विरुद्ध जीवन के कुछ ऐसे ठोस सत्य हैं जिनके साथ—परम दृष्टि में, इसकी संगति दिखलायी नहीं देती[1]। ये तथ्य क्रम से हैं—त्रुटि, अशुभ, देश-काल आदि। इन तथ्यों का या तो समुचित स्पष्टीकरण हमें प्रस्तुत करना चाहिये या इन्हें इस प्रकार संशोधित रूप में प्रस्तुत करना चाहिये कि इनकी यह विसंगति एक चुनौती न रह जाय। ब्रैडले कहते हैं मैं इन तथ्यों की तथ्यता से इंकार नहीं करता—ये हैं और न ही मैं इनके उद्भव की बात करना चाहता हूं क्योंकि इस प्रकार की चर्चा अनावश्यक है।

अपने इस विश्वास के औचित्य को प्रस्तुत करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि किसी भी अंशक के लिए उस परिपूर्णता को जानना सम्भव नहीं जिसके अन्तर्गत वह सम्मिलित है क्योंकि इसका अर्थ यह होगा कि 'एक ससीम सत्ता अपरिमित की दृष्टि से विश्व को प्रस्तुत करे और यह तभी संभव होगा जब वह ससीम अपरिमित में रूपांतरित होकर अपनी निजी सत्ता को ही नष्ट कर चुका हो।[2] और ब्रैडले कहते हैं यदि इस प्रकार का रूपांतरण संभव भी होता तो भी उसकी कोई आवश्यकता नहीं हैं। क्योंकि सभी कुछ को संपूर्ण विस्तार में जान लेना और परम सत् विषयक सिद्धान्त को इस प्रकार न जान सकने पर सर्वथा अस्वीकार कर देना—ये दो ऐसे विकल्प नहीं जिनके बीच अनिवार्यत: हमें चुनाव करना है। क्योंकि वे कहते हैं एक सामान्य सिद्धान्त को किसी भी ऐसे तथ्य के आधार पर अप्रमाणित नहीं किया जा सकता है जिसका उसके

---

1. "If our Absolute is possible in itself, it seems hardly possible as things are." —Ibid., p. 163.
2. "It would mean a view by the finite from the Absolutes point of view, and in that consummation the finite would have been transmuted and destroyed."

—Ibid., Page 163

नहीं कि 'विचार' 'सत्' के अनावरण में नितान्त असमर्थ हो। यद्यपि विचार सत् को उसकी पूर्णता में ग्रहण करने में अपने वर्तमान स्वरूप के नाते असमर्थ हैं तथापि वह सत् के सामान्य स्वरूप की एक रूपरेखा तो प्रस्तुत कर ही सकता है। अन्य शब्दों में विचार अपनी विसंगतियों के कारण सत् को पूर्ण व्यंजना में असफल होने के पश्चात् भी वह सत् का एक प्रतिमान[1] प्रस्तुत करके परम सत् की दिशा में अग्रसर होने का महत्वपूर्ण संकेत देता है। विचार द्वारा सत् के अनावरण की इस संभावना का हम निषेध नहीं कर सकते क्योंकि जो संभव है उसे सामान्य सिद्धांत के अनुसार होना चाहिये और वह निःसंदेह है।"[2]

1. Criterion.
2. "For what is 'possible' and what a general principle compels us to say 'must be' that certatnly 'is'."
—Ibid., page. 173

३ त्रुटि

ब्रैडले ने परम सत् के विषय में जो सामान्य रूपरेखा प्रस्तुत की है, यह एक परिपूर्ण सत्ता की है। इस सत्ता की स्वीकृति के विरुद्ध जीवन के कुछ ऐसे ठोस सत्य हैं जिनके साथ—परम दृष्टि में, इसकी संगति दिखलायी नहीं देती[1]। ये तथ्य क्रम से हैं—त्रुटि, अशुभ, देश-काल आदि। इन तथ्यों का या तो समुचित स्पष्टीकरण हमें प्रस्तुत करना चाहिये या इन्हें इस प्रकार संशोधित रूप में प्रस्तुत करना चाहिये कि इनकी यह विसंगति एक चुनौती न रह जाय। ब्रैडले कहते हैं मैं इन तथ्यों की तथ्यता से इंकार नहीं करता—ये हैं और न ही मैं इनके उद्‌भव की बात करना चाहता हूं क्योंकि इस प्रकार की चर्चा अनावश्यक है।

अपने इस विश्वास के औचित्य को प्रस्तुत करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि किसी भी अंशक के लिए उस परिपूर्णता को जानना सम्भव नहीं जिसके अन्तर्गत वह सम्मिलित है क्योंकि इसका अर्थ यह होगा कि 'एक ससीम सत्ता अपरिमित की दृष्टि से विश्व को प्रस्तुत करे और यह तभी संभव होगा जब वह ससीम अपरिमित में रूपांतरित होकर अपनी निजी सत्ता को ही नष्ट कर चुका हो।'[2] और ब्रैडले कहते हैं यदि इस प्रकार का रूपांतरण संभव भी होता तो भी उसकी कोई आवश्यकता नहीं हैं। क्योंकि सभी कुछ को संपूर्ण विस्तार में जान लेना और परम सत् विषयक सिद्धान्त को इस प्रकार न जान सकने पर सर्वथा अस्वीकार कर देना—ये दो ऐसे विकल्प नहीं जिनके बीच अनिवार्यतः हमें चुनाव करना है। क्योंकि वे कहते हैं एक सामान्य सिद्धान्त को किसी भी ऐसे तथ्य के आधार पर अप्रमाणित नहीं किया जा सकता है जिसका उसके

---

1. "If our Absolute is possible in itself, it seems hardly possible as things are." —Ibid., p. 163.
2. "It would mean a view by the finite from the Absolutes point of view, and in that consummation the finite would have been transmuted and destroyed." —Ibid., Page 163

नहीं कि 'विचार' 'सत्' के अनावरण में नितान्त असमर्थ हो। यद्यपि विचार सत् को उसकी पूर्णता में ग्रहण करने में अपने वर्तमान स्वरूप के नाते असमर्थ हैं तथापि वह सत् के सामान्य स्वरूप की एक रूपरेखा तो प्रस्तुत कर ही सकता है। अन्य शब्दों में विचार अपनी विसंगतियों के कारण सत् को पूर्ण व्यंजना में असफल होने के पश्चात् भी वह सत् का एक प्रतिमान[1] प्रस्तुत करके परम सत् की दिशा में अग्रसर होने का महत्वपूर्ण संकेत देता है। विचार द्वारा सत् के अनावरण की इस संभावना का हम निषेध नहीं कर सकते क्योंकि जो संभव है उसे सामान्य सिद्धांत के अनुसार होना चाहिये और वह निःसंदेह है।"[2]

1. Criterion.
2. "For what is 'possible' and what a general principle compels us to say 'must be' that certatnly 'is'."
—Ibid., page. 173.

त्रुटि का स्वरूप :

ब्रैडले के अनुसार 'त्रुटि' के स्वरूप को यदि हम देखें तो हम उसे सामान्यत: स्वीकृत 'सत्' और 'असत्' दोनों ही कोटियों में प्रस्तुत नहीं कर सकते। वह सत् नहीं है क्योंकि उसमें संगति का अभाव है, आंतरिक विरोध है। परन्तु इसी कारण वह असत् भी नहीं क्योंकि उसका अस्तित्व असंदिग्ध रूप से है यानी उसकी तथ्यता से इंकार नहीं किया जा सकता। प्रश्न स्वाभाविक है कि यदि त्रुटि है तो फिर उसका आधार क्या है? उसका आवास कहाँ है? स्पष्ट है वह परम सत् में अवस्थित नहीं हो सकती क्योंकि परम सत् में किसी प्रकार की असंगति के अस्तित्व का प्रश्न ही नहीं उठता। और किसी सीमित विषयी में उसके अस्तित्व की कल्पना संभव नहीं है, क्योंकि उसे भी अन्तत: परम सत् में ही अस्तित्ववान होना चाहिए। फलस्वरूप त्रुटि के सम्बन्ध में अपने सहज निष्कर्षों को प्रस्तुत करते हुये ब्रैडले कहते हैं कि 'त्रुटि का कोई घर नहीं है, उसका अस्तित्व में कोई स्थान भी नहीं है। फिर भी (एक विशेष अर्थ में) उसका अस्तित्व है' इससे इंकार नहीं किया जा सकता।[1]

त्रुटि आभास है, पर झूठा आभास[2] :

यूं तो ब्रैडले कहते हैं कि सभी आभास आन्तरिक विसंगतियों से युक्त हैं। 'आभास' परिभाषा से ही एक ऐसा अन्तर्विषय है जो अपने अस्तित्व से पृथक्कृत है और पुन: उससे संयुक्त नहीं होता[3]। अन्य शब्दों में विधेय के रूप में प्रत्यय किसी अस्तित्ववान सत् के अन्तर्विषय को प्रस्तुत करता है और इस रूप में वह सत्ता द्वारा एक विशेष अर्थ में स्वीकार्य भी होता है। पर वह एक घटना विशेष भी है और इस रूप में वह अस्तित्व से पृथक् [हो] जाता है। पुन: इस प्रकार से पृथक्कृत होकर प्रत्येक प्रत्यय 'सत्ता' [या] 'अस्तित्व' के सन्दर्भ में आभास ही है। पर यही आभास—अपने अन्त-

---

1. "Error has no home, it has no place in existence; and yet for all that, it exists. —Ibid., p.
2. False Appearance.
3. "Content not at one with its existence, a 'what' l[oosened] from its 'that.'" --Ibid.,

आधार पर स्पष्टीकरण हमारे लिए संभव न हो। वस्तुत: कोई भी तथ्य उसके लिए तब तक चुनौती प्रस्तुत नहीं करता जब तक हम यह न सिद्ध कर दें कि वह उसके साथ यथार्थ में असंगत है। यदि वह तथ्य सिद्धांत के बाहर रहता है तो उससे केवल यह पता चलता है कि हमारा सिद्धान्त विस्तार की दृष्टि से अभी अपूर्ण है, उससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि सिद्धान्त अनुचित है—भ्रामक है और इसलिये उसे अस्वीकार करना चाहिये। अन्य शब्दों में उसके द्वारा सिद्धान्त का खंडन तो उसी अवस्था में संभव है जबकि उस तथ्य को पूर्णतया समझ लिया जाय और इसके आधार पर हमें यह विश्वास हो जाय कि वह सिद्धान्त के साथ निश्चयात्मक रूप से असंगत है।[1] अपने विचारों को इस प्रश्न पर विकसित करते हुए ब्रैडले कहते हैं ज्ञान सम्बन्धी एक भ्रामक विश्वास के आधार पर ही हम इन तथ्यों को परम सत् विषयक कल्पना के विरुद्ध एक चुनौती के रूप में मान सकते हैं। आपत्ति लाने वाला व्यक्ति इस विश्वास के साथ अपनी आपत्ति प्रस्तुत करता है कि वह परिपूर्ण सत् को पूर्णत: जानता है और यह भी जानता है कि ये सभी तथ्य उसके साथ असंगत हैं। स्पष्ट है वह मानवीय ज्ञान की शक्ति के विषय में अत्यधिक आशावादिता रखता है और उसकी सीमाओं का अहसास नहीं रखता।[2] यह अनुचित है। निष्कर्षत: ब्रैडले कहते हैं यदि हम तथ्यों की असंगति को सिद्ध नहीं कर पाते, उसके बारे में जानते भी नहीं और तथ्यों को जिस रूप में जानते हैं उनकी संगति ही निष्कर्षित होती है तो इससे परम सत् विषयक सिद्धान्त अन्तत: सिद्ध होता हुआ ही दिखलायी देता है।

---

1. "While if they merely remain outside, that points to incompleteness in detail and not falsity in principle. A general doctrine is not destroyed by what we fail to understand. It is destroyed only by that which we actually do understand and can show to be inconsistent and discrepant with the theory adopted." —Ibid., p, 163–64.

   "Error and evil are no disproof of absolute experience so long as we merely fail to see how in detail it comprehende them. They are a disproof when their narure is under stood in such a way as to collide with the Absolute." —Ibid., p. 164.

2. "We can much overestimate the extent of human power." —Ibid., page. 164.

त्रुटि का स्वरूप :

ब्रैडले के अनुसार 'त्रुटि' के स्वरूप को यदि हम देखें तो हम उसे सामान्यत: स्वीकृत 'सत्' और 'असत्' दोनों ही कोटियों में प्रस्तुत नहीं कर सकते। वह सत् नहीं है क्योंकि उसमें संगति का अभाव है, आंतरिक विरोध है। परन्तु इसी कारण वह असत् भी नहीं क्योंकि उसका अस्तित्व असंदिग्ध रूप से है यानी उसकी तथ्यता से इंकार नहीं किया जा सकता। प्रश्न स्वाभाविक है कि यदि त्रुटि है तो फिर उसका आधार क्या है ? उसका आवास कहाँ है ? स्पष्ट है वह परम सत् में अवस्थित नहीं हो सकती क्योंकि परम सत् में किसी प्रकार की असंगति के अस्तित्व का प्रश्न ही नहीं उठता। और किसी सीमित विषयी में उसके अस्तित्व की कल्पना संभव नहीं है, क्योंकि उसे भी अन्तत: परम सत् में ही अस्तित्ववान होना चाहिए। फलस्वरूप त्रुटि के सम्बन्ध में अपने सहज निष्कर्षों को प्रस्तुत करते हुये ब्रैडले कहते हैं कि 'त्रुटि का कोई घर नहीं हैं, उसका अस्तित्व में कोई स्थान भी नहीं है। फिर भी (एक विशेश अर्थ में) उसका अस्तित्व है' बससे इंकार नहीं किया जा सकता।[1]

त्रुटि आभास है, पर झूठा आभास[2] :

यूँ तो ब्रैडले कहते हैं कि सभी आभास आन्तरिक विसंगतियों से युक्त हैं। 'आभास' परिभाषा से ही एक ऐसा अन्तर्विषय है जो अपने अस्तित्व से पृथक्कृत हैं और पुन: उससे संयुक्त नहीं होता[3]। अन्य शब्दों में विधेय के रूप में प्रत्यय किसी अस्तित्ववान सत् के अन्तर्विषय को प्रस्तुत करता है और इस रूप में वह सत्ता द्वारा एक विशेष अर्थ में स्वीकार्य भी होता है। थर वह एक घटना विशेष भी है और इस रूप में वह अस्तित्व से पृथक् हो जाता है। पुन: इस प्रकार से पृथक्कृत होकर प्रत्येक प्रत्यय 'सत्ता' यानी 'अस्तित्व' के सन्दर्भ में आभास ही है। पर यही आभास—अपने अन्त-

---

1. "Error has no home, it has no place in existence ; and yet for all that, it exists. —Ibid., p. 165.
2. False Appearance.
3. "Content not at one with its existence, a 'what' loosened from its 'that.'" —Ibid., p. 165.

विषय की दृष्टि से यदि किसी ऐसे अस्तित्व से सम्बद्ध हो जाता है, जो उसे अपनी विशेषता के रूप में स्वीकार कर लेता है तो वह सत्य कहलाता हैं। विपरीतत: यदि ऐसे अस्तित्व से सम्बद्ध हो जाता है जो उसे इस रूप में स्वीकार नहीं कर पाता तो वह त्रुटि कहलाता है। अत: ब्रैडले के विचार में त्रुटि और सत्य दोनों आभास होते हुए अस्तित्ववान सत् की दृष्टि से ही भिन्न कहलाते हैं।[1]

अपने इन्हीं निष्कर्षों को दार्शनिक पदावली में व्यक्त करते हुए ब्रैडले कहते है विधेय के रूप में प्रत्यय द्विपक्षीय है, वह एक घटना विशेष है साथ ही अस्तित्ववान सत्ता की किसी विशेषता को प्रस्तुत करने वाला पद भी है। उसके इन दो पक्षों में कभी भी एकता स्थापित नहीं हो पाती—ये दोनों पक्ष एक दूसरे से विसम्बन्धित ही रहते हैं। अन्य शब्दों में उनका यह विसम्बन्धन[2] किसी भी विन्दु पर, कभी भी, दूर नहीं हो पाता बल्कि विचार के स्तर पर यह विसम्बन्धन और गहरा ही होता जाता है।[3] विधेय की यह विशिष्टता और भी स्पष्ट हो जाती है यदि हम प्रत्यक्ष से उदाहरण न लेकर प्रतिभा से उदाहरण लें। स्पष्ट है कि तब अन्तविषय के रूप में उसका किम् रूप उसके तद् पक्ष से

---

1. "Appearance will be truth when a content, made alie to its own being, is related to some fact which accepts its qualification. The true idea is appearance in respect of its own being as fact and event, but is reality in connexion with other being which it qualifies: Error, on the other hand, is content made loose from its own reality and related to a reality with which it is discrepant." —Ibid., p. 166. .... 'It is the repulse by a substantive of a liberated adjective." —Ibid., Page. 166.
2. "But an idea has also another side, its own piivate being as something which is and happens. And in idea as content, is alienated from this its own existence as an event." —Ibid., Page, 165.
3. "Appearance then will be looseness of character from being, the distinction of immadiate onenes into 2 sides, a 'that' and a 'what', And this looseness tends further to harden into fracture and into the separation of two sundered existences." —Ibid., p. 165.

भिन्न होगा और किसी भी स्थिति में तद् रूप नहीं हो सकता।

एक भ्रांति का निराकरण :

इसी प्रसंग में ब्रैडले इन आभासों से सम्बन्धित एक भ्रांति को भी निराधार मानते हैं। न ही 'सत्य' के क्षेत्र में और न ही त्रुटि के क्षेत्र में निरपेक्ष सत्य तथा निरपेक्ष त्रुटि की कल्पना सार्थक है। इसमें मात्रागत भेद होता है और अपनी संपूर्णता के लिए जिस निरपेक्ष की ये अपेक्षा करते हैं, वह परिपूर्ण सत् न तो सत्य ही है और न त्रुटि ही बल्कि इन दोनों को समन्वित करने वाला और इन जैसे अनेक सापेक्षत: विरोधी पदों को समन्वित करने वाला सर्वग्राही सत् है। ब्रैडले कहते हैं: 'मेरा विश्वास है कि कहीं भी अन्तिम रूप से निरपेक्ष सत्य और दूसरी ओर नितान्त त्रुटि नहीं है।'[1]

त्रुटि से सम्बद्ध दो प्रश्न :

प्रथम प्रश्न :

'त्रुटि' की प्रकृति को निर्धारित करने केपश्चात् और सत्य से उसके अन्तर को स्पष्ट करने के पश्चात् ब्रैडले इसी से सम्बन्धित दो महत्वपूर्ण प्रश्न उठाते हैं :

१. त्रुटि को सत् के द्वारा स्वीकार क्यों नहीं किया जाता,

२. फिर भी किस अर्थ में त्रुटि सत् के साथ समन्वित हो सकती है।

प्रथम प्रश्न पर विचार प्रस्तुत करते हुये ब्रैडले कहते हैं सत् त्रुटि को इसलिए नहीं स्वीकार करता क्योंकि सत् संगतिपूर्ण है और त्रुटि में आंतरिक विरोध है पर ऐसा कहने से मेरा यह अभिप्राय नहीं है कि उसके अन्तर्विषय (किम्) और अस्तित्व (तद्) पक्ष में विरोध हैं। इस रूप में उसकी असंगति त्रुटि के स्वरूप को प्रस्तुत नहीं करती। इस प्रकार के अर्थ का आरोपण, ब्रैडले कहते हैं, मेरे अपने दृष्टिकोण में उचित नहीं है। क्योंकि उसके साथ जो ध्वनि सम्बन्धित है, वह यह कि उसका अन्तर्विषय, जिसे 'निर्णय' के संदर्भ में विधेय कहेंगे, स्वतोव्याघाती है। और वह स्वतोव्याघाती निर्णय के पूर्व ही है। पर

---

1. "Ultimately there are, I am convinced, no absolute truths and on the other side there are no mere errors."
—Essays on Truth and Reality, P. 252.

मेरे विचार के अनुसार उसका स्वतोव्याघाती स्वरूप निर्णय के साथ ही आविर्भूत होता है। इसीको अपनी अपूर्व शैली में व्यक्त करते हुये ब्रैडले कहते हैं कि 'त्रुटि सत्ता की इस प्रकार की प्रस्तुति है कि फलस्वरूप एक असंगत अन्तर्विषय का आविर्भाव होता है जो इसी कारण अस्वीकृत भी होता है।'[1] इसीको स्पष्ट करते हुये वे कहते हैं 'जहाँ अस्तित्व एक ऐसे अन्तर्विषय के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है जो मूलत: उसके साथ असंगत है तो वहाँ पर निश्चित ही त्रुटि होगी[2]। इसीको और स्पष्ट करते हुये ब्रैडले कहते हैं जहां अस्तित्ववान सत्ता में विसंगति नहीं है पर हमारे निर्णय के माध्यम से उसमें असंगति आ गयी है तो निश्चित जानना चाहिए कि यह अतिरिक्त प्रस्तुति ही वस्तुतः भ्रामक है और सत्ता उस प्रस्तुति से अप्रभावित रहती है।[3] पुन: यह स्मरण रखना चाहिए कि यह निष्कर्ष इस एक विश्वास पर आधारित है कि अस्तित्ववान सत्ता ने स्वयं किसी प्रकार से इस प्रस्तुति को जो असंगत है, प्रेरित नहीं किया है, यानी वह स्वयं इसके लिये उत्तरदायी नहीं है।

यथार्थवाद का खंडन :

इसके पश्चात् ब्रैडले त्रुटि से सम्बन्धित एक भिन्न मत के संदर्भ में अपने विचार प्रस्तुत करते हैं। यह यथार्थवादी दृष्टिकोण है और इसके अन्तर्गत त्रुटि अनुभव-प्रदत्त से भिन्न है। कभी-कभी इसे यह कह करके भी प्रस्तुत किया जाता है कि इसमें आंतरिक प्रतिभा जो आत्मनिष्ठ है, और बाह्य संवेदनाओं में जिनका वस्तुनिष्ठ आधार है, जो अन्तर है उसकी अवहेलना होती है।

पर ब्रैडले कहते हैं कि इस विचारधारा में अनेक कठिनाइयां हैं और यह

---

1. Error is the qualification of a reality in such a way that in the result it has inconsistent content, which for that reason is rejected." —Ibid., p. 167.
2. "Where existence has a 'what' colliding with itself, there the predication of this 'what' is an erroneous judgement." —Ibid., p. 167.
3. "If a reality is self-consistent, and its further determination has introduced discord, there the addition is the mistake and the reality is unaffected." —Ibid., p. 167.

अनेक पूर्व धारणाओं से दूषित है। इस सिद्धान्त के समर्थक 'प्रदत्त' पर बल देते हैं। प्रश्न है कि क्या मात्र 'प्रदत्त को पाना संभव है? पुनः क्या किसी वर्तमान संवेदन के आधार पर हम अपने सभी निर्णयों तथा ज्ञान को सत्यापित कर सकते हैं? क्या, अन्य शब्दों में, सत्य के प्रतिमान के रूप में तथाकथित प्रदत्तों का प्रयोग सफलतापूर्वक किया जा सकता है? पुनः ब्रैडले कहते हैं यथार्थवाद की यह धारणा कि हम ऐसा कर सकते हैं अनेक पूर्व धारणाओं पर आधारित है। पहली यह कि बाह्य संवेदन कभी भ्रामक नहीं हो सकते और दूसरी वह अंधापन है, जो इस बात का अहसास नहीं रखता कि 'आंतरिक' उतना ही ठोस तथ्य है जितना कि बाह्य।[1]

ब्रैडले कहते हैं कि यदि 'प्रदत्त' का अन्तर्विषय असंगत है तो उसे सत्य स्वीकार करना संभव नहीं। और इस निष्कर्ष को स्वीकार न करना या यह कहना कि प्रदत्त में कोई असंगति होती ही नहीं—दोनों ही अनुचित है। पुनः एक अन्य आपत्ति के संदर्भ में ब्रैडले अपना निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि यथार्थवादी कह सकते हैं कि सत्य और त्रुटि दोनों तथ्यों से अनुरूपता और विरूपता से सम्बन्धित है। अन्तर्विषय की स्वयं से संगति का दोनों में प्रश्न ही नहीं उठता। प्रत्युत्तर में ब्रैडले अपने पूर्व निष्कर्ष को उदाहरण में समर्थित करते हुए प्रस्तुत करते हैं। दो निर्णय वाक्यों में एक सही है दूसरा गलत। दूसरा वाक्य इसलिये गलत है कि अस्तित्ववान सत्ता प्रस्तुति के रूप में दोनों को समान रूप से स्वीकृति नहीं कर पाती।[2] पर जब हम 'त्रुटि' को सामान्यतः प्रस्तुत करते हैं तो उसे यथार्थ से भिन्न रूप में करते हैं। हम मान लेते हैं कि दोनों विधेय परस्पर असंगत है और इन दोनों में से एक ही सत्य हो सकता है और जो सत्य है वह इस कारण सत्य है कि वह 'तथ्य' के अनुरूप है। विपरीततः त्रुटि वह है जो तथ्य से विपरीत है। ब्रैडले कहते हैं व्यवहारतः भले ही त्रुटि की यह प्रस्तुति उपयोगी हो क्योंकि कामचलाऊ है पर त्रुटि के यथार्थ स्वरूप के साथ न्याय करने में यह अक्षम है। त्रुटि के मूल में विधेय की असंगति स्वयं अपने से नहीं है अथवा किसी दूसरे विधेय से

1. Ibid., pp. 167-68. "The strange prejudice that outward sensations are never false, and dull blindness which fails to realize that the 'inward' is a fact just as solid as the outward."
—Ibid., p. 168.

2. Error consists in "giving to the real a self-discrepant content."
—Ibid., p. 168.

मेरे विचार के अनुसार उसका स्वतोव्याघाती स्वरूप निर्णय के साथ ही आविर्भूत होता है। इसीको अपनी अपूर्व शैली में व्यक्त करते हुये ब्रैडले कहते हैं कि 'त्रुटि सत्ता की इस प्रकार की प्रस्तुति है कि फलस्वरूप एक असंगत अन्तर्विषय का आविर्भाव होता है जो इसी कारण अस्वीकृत भी होता है।'[1] इसीको स्पष्ट करते हुये वे कहते हैं 'जहाँ अस्तित्व एक ऐसे अन्तर्विषय के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है जो मूलत: उसके साथ असंगत है तो वहाँ पर निश्चित ही त्रुटि होगी[2]। इसीको और स्पष्ट करते हुये ब्रैडले कहते हैं जहाँ अस्तित्ववान सत्ता में विसंगति नहीं है पर हमारे निर्णय के माध्यम से उसमें असंगति आ गयी है तो निश्चित जानना चाहिए कि यह अतिरिक्त प्रस्तुति ही वस्तुत: भ्रामक है और सत्ता उस प्रस्तुति से अप्रभावित रहती है।[3] पुन: यह स्मरण रखना चाहिए कि यह निष्कर्ष इस एक विश्वास पर आधारित है कि अस्तित्ववान सत्ता ने स्वयं किसी प्रकार से इस प्रस्तुति को जो असंगत है, प्रेरित नहीं किया है, यानी वह स्वयं इसके लिये उत्तरदायी नहीं है।

यथार्थवाद का खंडन :

इसके पश्चात् ब्रैडले त्रुटि से सम्बन्धित एक भिन्न मत के संदर्भ में अपने विचार प्रस्तुत करते हैं। यह यथार्थवादी दृष्टिकोण है और इसके अन्तर्गत त्रुटि अनुभव-प्रदत्त से भिन्न है। कभी-कभी इसे यह कह करके भी प्रस्तुत किया जाता है कि इसमें आंतरिक प्रतिभा जो आत्मनिष्ठ है, और वाह्य संवेदनाओं में जिनका वस्तुनिष्ठ आधार है, जो अन्तर है उसकी अवहेलना होती है।

पर ब्रैडले कहते हैं कि इस विचारधारा में अनेक कठिनाइयां हैं और यह

---

1. Error is the qualification of a reality in such a way that in the result it has inconsistent content, which for that reason is rejected."   —Ibid., p. 167.
2. "Where existence has a 'what' colliding with itself, there the predication of this 'what' is an erroneous judgement."   —Ibid., p. 167.
3. "If a reality is self-consistent, and its further determination has introduced discord, there the addition is the mistake and the reality is unaffected."   —Ibid., p. 167.

अनेक पूर्व धारणाओं से दूषित है। इस सिद्धान्त के समर्थक 'प्रदत्त' पर जोर देते हैं। प्रश्न है कि क्या मात्र 'प्रदत्त को पाना संभव है? पुनः क्या किसी वर्तमान संवेदन के आधार पर हम अपने सभी निर्णयों तथा ज्ञान को सत्यापित कर सकते हैं? क्या, अन्य शब्दों में, सत्य के प्रतिमान के रूप में तथाकथित प्रदत्तों का प्रयोग सफलतापूर्वक किया जा सकता है? पुनः ब्रैडले कहते हैं यथार्थवाद की यह धारणा कि हम ऐसा कर सकते हैं अनेक पूर्व धारणाओं पर आधारित है। पहली यह कि बाह्य संवेदन कभी भ्रामक नहीं हो सकते और दूसरी वह अंधापन है, जो इस बात का अहसास नहीं रखता कि 'आंतरिक' उतना ही ठोस तथ्य है जितना कि बाह्य।[1]

ब्रैडले कहते हैं कि यदि 'प्रदत्त' का अन्तर्विषय असंगत है तो उसे सत्य स्वीकार करना संभव नहीं। और इस निष्कर्ष को स्वीकार न करना या यह कहना कि प्रदत्त में कोई असंगति होती ही नहीं—दोनों ही अनुचित है। पुनः एक अन्य आपत्ति के संदर्भ में ब्रैडले अपना निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि यथार्थवादी कह सकते हैं कि सत्य और त्रुटि दोनों तथ्यों से अनुरूपता और विरूपता से सम्बन्धित है। अन्तर्विषय की स्वयं से संगति का दोनों में प्रश्न ही नहीं उठता। प्रत्युत्तर में ब्रैडले अपने पूर्व निष्कर्ष को उदाहरण में समर्थित करते हुए प्रस्तुत करते हैं। दो निर्णय वाक्यों में एक सही है दूसरा गलत। दूसरा वाक्य इसलिये गलत है कि अस्तित्ववान सत्ता प्रस्तुति के रूप में दोनों को समान रूप से स्वीकृति नहीं कर पाती।[2] पर जब हम 'त्रुटि' को सामान्यतः प्रस्तुत करते हैं तो उसे यथार्थ से भिन्न रूप में करते हैं। हम मान लेते हैं कि दोनों विधेय परस्पर असंगत है और इन दोनों में से एक ही सत्य हो सकता है और जो सत्य है वह इस कारण सत्य है कि वह 'तथ्य' के अनुरूप है। विपरीततः त्रुटि वह है जो तथ्य से विपरीत है। ब्रैडले कहते हैं व्यवहारतः भले ही त्रुटि की यह प्रस्तुति उपयोगी हो क्योंकि कामचलाऊ है पर त्रुटि के यथार्थ स्वरूप के साथ न्याय करने में यह अक्षम है। त्रुटि के मूल में विधेय की असंगति स्वयं अपने से नहीं है अथवा किसी दूसरे विधेय से

1. Ibid., pp. 167-68, "The strange prejudice that outward sensations are never false, and dull blindness which fails to realize that the 'inward' is a fact just as solid as the outward."
—Ibid., p. 168.

2. Error consists in "giving to the real a self-discrepant content."
—Ibid., p. 168.

असंगति भी नहीं है। त्रुटि त्रुटि तभी होती है, जब उसके माध्यम से हम सत्ता को प्रस्तुत करने की चेष्टा करते हैं।

द्वितीय प्रश्न :

इस प्रश्न के पश्चात् ब्रैडले—सत् में त्रुटि किस रूप में समन्वित है, इस प्रश्न पर विचार करते हैं। प्रश्न अन्ततः यह है कि यदि त्रुटि असत्य आभास है, क्योंकि असंगत है तो परम सत् जो संगति है, में वह किस प्रकार और किस रूप में विद्यमान है ?

प्रत्युत्तर में ब्रैडले कहते हैं स्पष्ट है 'त्रुटि' को हम उसकी असंगति के कारण अस्वीकार ही क्यों न करें, पर उसकी तथ्यता से हम इंकार नहीं कर सकते।[1] जिन तत्वों को हम समन्वित करते हैं वे और उनका संकेत—ये सारी वस्तुएं असत् नहीं। चाहे कितना ही हम उस रूप की निंदा करें जिसमें वे अस्तित्ववान सत्ता को प्रस्तुत करते हैं, फिर भी इस निन्दा के बावजूद उसकी तथ्यता का निराकरण संभव नहीं।[2]

पर उनकी तथ्यता को स्वीकारते हुए हम यह भी महसूस करते हैं कि उन्हें ठीक रूप में अन्ततः अस्तित्ववान नहीं माना जा सकता। यानी अस्तित्ववान होते हुए भी वे एक अर्थ में अस्तित्ववान नहीं है।[3] प्रश्न यह है कि फिर इस विरोधाभास का स्पष्टीकरण क्या है ? ब्रैडले कहते हैं कि इसका एक ही उत्तर उचित समझ में आता है। त्रुटि सत्य है पर अपूर्ण सत्य है और पूरक तत्व के अभाव में—जो उसे परिपूर्णता प्रदान करने वाला तत्व है, ही वह त्रुटिपूर्ण प्रतीत होता है।[4] वस्तुतः ऐसी किसी भी विशेषता की हम कल्पना

---

1. "Qualification by the Self discrepant exists as a fact"
— Ibid., p. 169.
2. "You may condemn them, but your condemnation cannot act as a spell to abolish them wholly. If they were not there you could not judge them."
—Ibid., p. 169.
3. "You Pronounce them ·apparently somehow to exist without aeally existing." —Ibid., p. 169.
4. "Error is truth, it is partial truth, that is false only because partial and left incomplete." —Ibid., p. 169.

नहीं कर सकते और न ही हम उनकी किसी ऐसी व्यवस्था की कल्पना कर सकते हैं जो नितान्त काल्पनिक हों—यानी जिसका सत् में आधार न हो। व्यवस्था जो मिथ्या कहलाती है वह भी निराधार नहीं है। वह मिथ्या केवल इसलिये कहलाती है कि अपनी अल्पज्ञता के कारण हम उसके पूरक तत्वों को प्रस्तुत करने में असमर्थ रहते हैं। यदि उन पूरक तत्वों को प्रस्तुत कर सकें जो सत्ता में विद्यमान हैं, पर अबोधता की वर्तमान स्थिति में हमारे लिये अप्राप्य हैं तो निश्चित ही उसकी एकपक्षीयता दूर हो जायेगी और वह सत् रूप में अवस्थित हो सकेगी।[१]

अपने इस निष्कर्ष के सम्बन्ध में एक संगत भ्रांति की ओर संकेत करते हुए तथा उसका निराकरण करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि मेरा उपरोक्त कथन से यह आशय कदापि नहीं कि थोड़ी-बहुत हेर-फेर से तत्वों की असम्बद्धता और उनकी असंगति दूर हो जायगी और वे समन्वित हो जायेंगे। ज्ञान की वर्तमान स्थिति में तो यह असंभव ही है। किस प्रकार सभी तत्व उस परिपूर्णता में समन्वित है—इसे विस्तार में जानना तो हमारे लिये संभव नहीं है पर इतना तो सच है कि सभी तत्व अपनी विशिष्टताओं के साथ उसमें समन्वित होकर अस्तित्ववान है। किस प्रकार ये सब सुरक्षित हैं संगतिपूर्ण है, इसके लिये तो हमें सर्वज्ञ होना पड़ेगा। स्पष्ट है सर्वज्ञता मानव के लिये-बोध को वर्तमान स्थिति में असंभव है। पर इतना तो हम सिद्धान्ततः स्वीकार कर सकते हैं कि इनकी विसंगतियों का विलय होकर इन्हें समन्वित रूप से अस्सितत्ववान होना ही है—यही नहीं वे समन्वित होकर ही वस्तुतः अस्तित्ववान है।[२]

1. "The only mistake lies in our failure to give also the complement The reality owns the discordance and the discrepancy of false appearance; but it possesses also much else in which this jarring character is swallowed up and is dissolved in fuller harmony." —Ibid., p. 70.
2. "To know all the elements of the universe, with all the conjuctions of those elementy, good and bad, is impossible for finite minds. Aand hence, obiously, we are unable throughout to reconstruct our discrepancies. But we can comprehend in general what we cannot see exhibited in detail," —Ibid., p. 170.

   "We have crossed the threads of the connexion between our 'whats' and our 'thats' and have thus caused collision, a collision which disappears when things are taken as a whole." —Ibid., p. 171.

स्पष्ट है कि 'त्रुटि' और 'सत्य' दोनों ही एक पक्षीय दृष्टि का परिणाम है। इस एक पक्षीयता का 'परिपूर्णता' में अतिक्रमण करके ही हम उस एकांगिता से मुक्त हो सकते हैं। पुन: यह भी स्पष्ट है कि हमारे लिये इस एक पक्षीयता से मुक्ति बोध की वर्तमान स्थिति में—संबंधात्मक चेतना के स्तर पर संभव नहीं है। हमें चेतना के एक दूसरे आयाम में ही अवस्थित होना होगा और इस आयाम को ब्रैडले 'अतिप्राज्ञ अव्यवहितत्व' की संज्ञा देते हैं और जिसकी स्वीकृति प्रच्छन्न रूप से इस सम्पूर्ण पुस्तक में विद्यमान है और जिसे अनेक प्रसंगों के माध्यम से स्पष्ट करने की चेष्टा की गयी है। बोध की वर्तमान स्थिति और उससे उत्पन्न कठिनाइयों की ओर संकेत ब्रैडले एक अत्यंत ही सुंदर पर नितान्त काल्पनिक उदाहरण के माध्यम से करते हैं। कल्पना कीजिये कि कुछ ऐसे प्राणी हैं जिनकी आत्मायें अपने शरीर से पृथक् होकर रात्रि को भ्रमण करती हैं। प्रात: वे अपने शरीर में पुन: प्रविष्ट हो जाती हैं और रात्रि के अनुभवों से निश्चित ही लाभान्वित होती दिखायी देती हैं। आइये इसे 'सत्य' की संज्ञा दे दी जाय। पुन: कल्पना कीजिये कि प्रात: जब ये आत्मायें अपने शरीर में प्रविष्ट होती हैं, तो वे अपने शरीर में न जाकर दूसरे में चली जाती हैं। इसे 'त्रुटि' की संज्ञा दी जा सकती है। अब कल्पना कीजिये कि इस विश्व के केन्द्र में 'विश्वात्मा' है जो इन सभी पर शासन करने वाला है। उसके लिये दूसरी स्थिति में वर्तमान असंगति का कारण और उसका रूप दोनों ही स्पष्ट है। और यह भी संभव है कि वह ही इस असंगति के मूल में भी है। उपरोक्त से स्पष्ट हो गया होगा कि त्रुटि का स्वरूप उसकी अपूर्णता है। विश्व का कोई भी तत्व-कितना भी न्यूनतम क्यों न हो, परिपूर्णता में अपना स्थान रखता है। पर हमारी अल्पज्ञता उसे गलत जगह प्रस्तुत करती है और इस प्रकार वह सहज संगति में बाधक होती है। यदि हम उस केन्द्रीय दृष्टि को प्राप्त कर लें- जहाँ से हम सभी तत्वों को उनके समुचित स्थान में अवस्थित कर सकेंगे या अधिक अच्छा होगा, यह कहना कि अवस्थित पायेंगे। तो हमें स्पष्ट हो जायगा कि इस विश्व में किसी के भी विलय अथवा निराकरण का प्रश्न ही नहीं उठता।[1]

---

1. "Error......will come merely from isolation and defect, from the limitation of each being to the 'this" and the mine." —Ibid., Page 172.

'त्रुटि' मात्र निषेधात्मक नहीं—वह भावात्मक है ?

कुछ लोग संभवत: यह प्रश्न करेंगे कि हमारी प्रस्तुति अपूर्ण है और इसलिए अरक्षणीय है। त्रुटि केवल निषेधात्मक नहीं है उसका एक भावात्मक रूप है। और वह है विरोध का, असंगति का। अतएव प्रश्न है कि इस विशिष्टता का सत् में क्या स्थान होगा ? क्या केवल तत्वों को केवल पुनसम्बन्धित करके इस विसंगति को समाप्त किया जा सकता है ?

आपत्ति की सार्थकता को ब्रैडले स्वीकार करते हैं। उसमें विद्यमान ध्वनि को भी वे स्वीकार करते हैं। यह सही है कि केवल तत्वों को पुनर्व्यवस्थित करके 'त्रुटि' को रूपांतरित नहीं किया जा सकता है। पद और सम्बन्धों की शैली की कृत्रिमता को वे एक अध्याय में पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं। अतएव यदि हम केवल इसी शैली का अनुसरण करें तो परम सत् की परिपूर्णता को इसके माध्यम से हम कभी प्राप्त नहीं कर सकते, यह निश्चित है।[1] परिपूर्णता एक उच्चतर या यूँ कहें उच्चतम अनुभूति है, जिसमें सम्बन्धात्मक स्तर की चेतना में विद्यमान और उसके द्वारा समर्थित भेदों का सहज अतिक्रमण हो चुका होता है। स्पष्ट है इस संभावना को प्रस्तुत करने के साथ ही ब्रैडले के 'त्रुटि' सम्बन्धी विचार के विरुद्ध अन्तिम आपत्ति भी निराधार सिद्ध हो जाती है। अपनी सारी विशिष्टता के बावजूद 'त्रुटि' एक व्यापक अनुभूति में समन्वित हो सकेगी, इस संभावना से इन्कार करना हमारे लिये असम्भव प्रतीत होता है। पुनः ब्रैडले वर्तमान प्रसंग में इस बात को एक बार फिर कहना उचित समझते हैं कि किस प्रकार प्रत्येक आभास रूपांतरित होकर उस परिपूर्णता में समन्वित तत्व रूप में अस्तित्ववान होगा इसके बारे में बोध की वर्तमान स्थिति में विस्तार से कुछ कहना असंभव है।

---

1. "The problem of error cannot be solved by an enlarged scheme of relation".. Again, the Absolute is not, and cannot be thought as, any scheme of relations. If we keep to these there is no harmonious unity in the whole. The absolute is beyond a mere arrangement, however, well compensated, though an arrangement is assuredly one aspect of its being. Reality consists in a higher experience, superior to the distinctions which it includes and overrides."

—Ibid., p. 172.

पर इस संभावना से इंकार करना असम्भव हैं और इससे अधिक का वे दावा भी नहीं करते। पर इस दोष के बावजूद—यदि इसे दोष कहा जा सकता है, यह हल न असम्भव है और न ही दुर्बोध है।[1]

इस विचार का विरोध करने वाले 'त्रुटि' को एक चुनौती के रूप में प्रस्तुत करते हैं। त्रुटि असंगति का प्रतिनिधित्व करता है और परम सत् संगति का। दोनों में समन्वय असम्भव है। अन्य शब्दों में एक का दूसरे द्वारा आत्मसात होना असम्भव है। पर ब्रैडले कहते हैं हम देख चुके हैं कि उनके पास इस निष्कर्ष को निष्कर्षित करने का कोई आधार नहीं है। इसके विपरीत हम जीवन में देखते हैं कि 'त्रुटि' रूपांतरित होकर उच्चतर सत्य के रूप में अवस्थित होती। और यही तथ्य इस विश्वास का भी आधार है कि विश्व में त्रुटि' कहलाने वाले आभास भी अन्ततः एक परिपूर्ण अनुभूति में रूपान्तरित हो सकेंगे और अन्त में ब्रैडले कहते हैं जिसकी संभावना में हम विश्वास करते हैं उसे वस्तुतः यथार्थ भी होना चाहिए। अन्य शब्द में, परम सत् हैं।

1. "It is impossible for us to show, in the ca of every error how in the whole it is made good. It is impossible even apart from detail, to realize how the relational form, is in general absorbed. But, upon the other hand I deny that our solution is either unintelligible or impossible. And possibility here is all that we want."

—Ibid, p.173]

४ अशुभ

अशुभ या अशिव की समस्या का आरम्भ इस भ्रांति से हुआ है कि परम सत् एक पूर्ण व्यक्ति है और यह भी कि वह एक नैतिक व्यक्तित्व है। ब्रैडले कहते हैं कि सही दृष्टि रखने वाले व्यक्ति के लिए 'अशिव' कोई भी समस्या नहीं प्रस्तुत करता, क्योंकि उससे सम्बन्ध जो भी उभयत: पाश[1] दिखलायी देता है वह एक स्पष्ट स्वतोव्याघात है और इसलिये उसकी चर्चा लाभकारी न होगी।[2] पर सामान्य दृष्टि रखने वाले व्यक्ति के लिये तो यह एक महत्वपूर्ण समस्या है और इसका समाधान आवश्यक है।

अशुभ के तीन रूप : दुख की अनुभूति :

अत: अशुभ के प्रश्न पर यदि हम विचार करें तो उसके तीन अर्थ हमारे सामने स्पष्ट हो जायेंगे। सर्वप्रथम उसे दुख के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, द्वितीय किसी उद्देश्य को प्राप्त करने की असफलता को भी अशुभ के रूप में ही माना जाता है और तृतीय और अन्तिम रूप नैतिक क्षेत्र से सम्बन्धित है। इस संदर्भ में अनैतिकता को अशुभ की ही एक महत्वपूर्ण अभिव्यंजना के रूप में स्वीकार किया जाता है। ब्रैडले क्रम से इन तीनों रूपों की चर्चा करते हैं और कहते हैं कि इनके अस्तित्व से इंकार नहीं किया जा सकता है और न ही यह कहा जा सकता है कि जिस रूप में ये अस्तित्ववान हैं, ये शिव हैं। अतएव हमारे सामने प्रश्न यह है कि क्या इनका रूपांतरण संभव नहीं है? अन्य अन्य शब्दों में, क्या जिस रूप में ये प्रस्तुत होते हैं इनका निरसन संभव नहीं? दु:ख के संदर्भ में इस प्रश्न को लेते हुए ब्रैडले कहते हैं कि कभी-कभी सुख की एक व्यापक मिश्रित अनुभूति में छोटी-छोटी दु:खात्मक

---

1. Dilemma.
2. "The dilemma is plainly insoluble because it is based on a clear self-contradiction and the discussion of it here would be quite un-instructive". —Ibid., p. 174.

अनुभूतियां अपनी दुखात्मकता का विलय करती हुई दिखलायी देती हैं और इस प्रकार दुख का सुख में परिवर्तित होना—अन्य शब्दों में दु:खों का सुख के द्वारा आत्मसात होना, हममें से प्रत्येक के जीवन में बार-बार घटित होता हुआ दिखलायी देता है।[1] और कई बार तो दु:ख की प्रतीति सुखात्मक अनुभूति के साथ अनिवार्यत: संलग्न भी दिखायी देती है, यानी उसके अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता, फिर भी संतुलन सुख के ही पक्ष में उभरता दिखलायी देता है। परिपूर्ण सत् की कल्पना में भी इससे अधिक कुछ नहीं चाहिये। यदि परिपूर्ण सर्वग्राही सत् में दुख अपनी दुखात्मकता का विलय करता हुआ अस्तित्ववान हो या अपनी दुखात्मकता के साथ परिपूर्ण अनुभूति के साथ संलग्न भी रहे पर संतुलन सुखात्मकता की दिशा में है तो ज्ञान की वर्तमान स्थिति में यह निष्कर्ष सिद्धांत का समर्थन करने वाला ही माना जायेगा।[2] पुन: नैराश्यवादी दृष्टिकोण के समर्थन भले ही यह कहें कि जीवन में सुख की अपेक्षा दुख का अतिरेक है पर ब्रैडले इसके विरुद्ध मानते हैं कि जीवन में दुख की अपेक्षा सुख का अतिरेक है और जीवन के महत्वपूर्ण तथ्य ही उनके इस निष्कर्ष के समर्थक हैं। इन तथ्यों के आधार पर भावी सुख में वर्तमान दुख के प्रतितुलन की सभावना से इंकार नहीं किया जा सकता है और इस आधार पर परम सत् विषयक सिद्धांत का समर्थन किया जा सकता है। क्योंकि जिसकी सभावना की कल्पना सभव हो और जिसे अनिवार्यत: होना ही चाहिये, वह वस्तुत: है भी।[3]

पुन: ब्रैडले कहते हैं कि कुछ अत्यधिक आशावान होकर यह भी कह सकते हैं कि भावी सुख की सुखात्मक में अभिवृद्धि के लिए दुख: का होना आवश्यक है, वह उसके उभारने के लिए उद्दीपन का कार्य करता है। पर इस प्रकार का विश्वास न तो तथ्यों के आधार पर सत्यापित होता है और न ही वर्तमान दृष्टि से उसका कोई महत्व ही है।

---

1. Bradley cites the testimony of smaller and sometimes bigger pains "being wholly swallowed up in a larger composite pleasure." —Ibid., p. 175.
2. "Such a balance is all that we want in the case of absolute perfection." —Ibid., p. 175,
3. "For what may be, if it also must be, assuredly is." —Ibid., p. 176,

जीवन की विफलतायें :

शुभ के द्वितीय स्वरूप की चर्चा करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि जीवन की विफलतायें दुःखप्रद हैं—इससे इंकार नहीं किया जा सकता। पर यदि इनकी प्रकृति का अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट हो जायेगा कि इनका यह स्वरूप हमारे अत्यधिक संकुचित—कभी—कभी तात्कालिक, दृष्टिकोण का परिणाम है। जिन उद्देश्यों को हम जीवन में स्वीकार करते हैं और जिन्हें न प्राप्त करके हम व्याकुल हो अपना संतुलन खो देते हैं, वे अनिवार्यतः एक नितान्त संकुचित व्यक्तिगत दृष्टिकोण से समथित होते हैं।[1] अतएव, इनकी विफलता हमें उस क्षण विशेष में परास्त कर देती है। पर यदि हम जरा सी भी तटस्थता बरतें तो हम देखेंगे कि इनमें से एक भी संवधित प्रयास अन्ततः विफल नहीं होता। एक व्यापक दृष्टि को विकसित करने पर स्पष्ट हो जायेगा कि भावी सफलताओं के लिये उन्होंने एक महत्वपूर्ण अर्थ में मार्ग प्रशस्त किया था और इनमें से बहुत से प्रयास अपनी खोयी हुई सार्थकता पुनः प्राप्त कर लेते हैं। ब्रैडले इस प्रश्न पर अपने आशय को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि मेरा यह अर्थ कदापि नहीं कि सभी उद्देश्य, जिन्हें हम समय-समय पर स्वीकार करते हैं और जिनकी सफलता के लिए हम भरपूर प्रयास करते है वे सभी पृथक्—पृथक् पूरे होते हैं। मेरा यहां पर केवल यही अर्थ है कि ये सभी उद्देश्य अपने विलय द्वारा जीवन की भावी सफलताओं का पथ प्रशस्त करते हैं और इस रूप में उनमें सम्मिलित कहते हैं।[2]

पुनः स्पष्टीकरण के रूप में और अपने निष्कर्षों को इस संदर्भ में समर्थित करते हुए ब्रैडले कहते हैं—परिपूर्ण सत् में किस प्रकार सभी कुछ आत्मसात् हो जाता है, इसे सत्यापित करना मानवीय चेतना के लिये असंभव है। पर फिर भी इस संभावना को स्वीकार किया जा सकता है। वह दुर्बोध नहीं है और क्योंकि परम सत् पूर्ण है, इसलिये इस प्रकार की संगति का भी

1. "Ends which fail" are "ends selected by ourselves and selected more or less erroneously." Ibid., p, 177.
2. "I do not mean that every finite end, as such, is realized. I mean thet it is lost, and becomes an element, in a wider idea which is one with existence." Ibid., p. 177.

अनुभूतियां अपनी दुखात्मकता का विलय करती हुई दिखलायी देती हैं और इस प्रकार दुख का सुख में परिवर्तित होना—अन्य शब्दों में दुःखों का सुख के द्वारा आत्मसात होना, हममें से प्रत्येक के जीवन में बार-बार घटित होता हुआ दिखलायी देता है।[१] और कई बार तो दुःख की प्रतीति सुखात्मक अनुभूति के साथ अनिवार्यतः संलग्न भी दिखायी देती है, यानी उसके अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता, फिर भी संतुलन सुख के ही पक्ष में उभरता दिखलायी देता है। परिपूर्ण सत् की कल्पना में भी इससे अधिक कुछ नहीं चाहिये। यदि परिपूर्ण सर्वग्राही सत् में दुख अपनी दुखात्मकता का विलय करता हुआ अस्तित्ववान हो या अपनी दुखात्मकता के साथ परिपूर्ण अनुभूति के साथ संलग्न भी रहे पर संतुलन सुखात्मकता की दिशा में है तो ज्ञान की वर्तमान स्थिति में यह निष्कर्ष सिद्धांत का समर्थन करने वाला ही माना जायेगा।[२] पुनः नैराश्यवादी दृष्टिकोण के समर्थन भले ही यह कहें कि जीवन में सुख की अपेक्षा दुख का अतिरेक है पर ब्रैडले इसके विरुद्ध मानते हैं कि जीवन में दुख की अपेक्षा सुख का अतिरेक है और जीवन के महत्वपूर्ण तथ्य ही उनके इस निष्कर्ष के समर्थक हैं। इन तथ्यों के आधार पर भावी सुख में वर्तमान दुख के प्रतितुलन की सभावना से इंकार नहीं किया जा सकता है और इस आधार पर परम सत् विषयक सिद्धांत का समर्थन किया जा सकता है। क्योंकि जिसकी सभावना की कल्पना सभव हो और जिसे अनिवार्यतः होना ही चाहिये, वह वस्तुतः है भी।[३]

पुनः ब्रैडले कहते हैं कि कुछ अत्यधिक आशावान होकर यह भी कह सकते हैं कि भावी सुख की सुखात्मक में अभिवृद्धि के लिए दुखः का होना आवश्यक है, वह उसके उभारने के लिए उद्दीपन का कार्य करता है। पर इस प्रकार का विश्वास न तो तथ्यों के आधार पर सत्यापित होता है और न ही वर्तमान दृष्टि से उसका कोई महत्व ही है।

---

1. Bradley cites the testimony of smaller and sometimes bigger pains "being wholly swallowed up in a larger composite pleasure." —Ibid., p. 175.
2. "Such a balance is all that we want in the case of absolute perfection." —Ibid., p. 175.
3. "For what may be, if it also must be, assuredly is." —Ibid., p. 176.

जीवन की विफलतायें :

अशुभ के द्वितीय स्वरूप की चर्चा करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि जीवन की विफलतायें दुःखप्रद हैं—इससे इंकार नहीं किया जा सकता। पर यदि इनकी प्रकृति का अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट हो जायेगा कि इनका यह स्वरूप हमारे अत्यधिक संकुचित—कभी—कभी तात्कालिक, दृष्टिकोण का परिणाम है। जिन उद्देश्यों को हम जीवन में स्वीकार करते हैं और जिन्हें न प्राप्त करके हम व्याकुल हो अपना संतुलन खो देते हैं, वे अनिवार्यतः एक नितान्त संकुचित व्यक्तिगत दृष्टिकोण से समर्थित होते हैं।[1] अतएव इनकी विफलता हमें उस क्षण विशेष में परास्त कर देती है। पर यदि हम जरा सी भी तटस्थता बरतें तो हम देखेंगे कि इनमें से एक भी संबंधित प्रयास अन्ततः विफल नहीं होता। एक व्यापक दृष्टि को विकसित करने पर स्पष्ट हो जायेगा कि भावी सफलताओं के लिये उन्होंने एक महत्वपूर्ण अर्थ में मार्ग प्रशस्त किया था और इनमें से बहुत से प्रयास अपनी खोयी हुई सार्थकता पुनः प्राप्त कर लेते हैं। ब्रैडले इस प्रश्न पर अपने आशय को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि मेरा यह अर्थ कदापि नहीं कि सभी उद्देश्य, जिन्हें हम समय-समय पर स्वीकार करते हैं और जिनकी सफलता के लिए हम भरपूर प्रयास करते है वे सभी पृथक्—पृथक् पूरे होते हैं। मेरा यहां पर केवल यही अर्थ है कि ये सभी उद्देश्य अपने विलय द्वारा जीवन की भावी सफलताओं का पथ प्रशस्त करते हैं और इस रूप में उनमें सम्मिलित कहते हैं।[2]

पुनः स्पष्टीकरण के रूप में और अपने निष्कर्षों को इस संदर्भ में समर्थित करते हुए ब्रैडले कहते हैं—परिपूर्ण सत् में किस प्रकार सभी कुछ आत्मसात् हो जाता है, इसे सन्यापित करना मानवीय चेतना के लिये असंभव है। पर फिर भी इस संभावना को स्वीकार किया जा सकता है। वह दुर्बोध नहीं है और क्योंकि परम सत् पूर्ण है, इसलिये इस प्रकार की संगति का भी

1. "Ends which fail" are "ends selected by ourselves and selected more or less erroneously." Ibid., p, 177.
2. "I do not mean that every finite end, as such, is realized. I mean thet it is lost, and becomes an element, in a wider idea which is one with existence."

Ibid., p. 177.

उसमें अस्तित्व होना ही चाहिये ।[1]

अशिव का अनैतिक रूप :

अशिव के तृतीय—यानी अनैतिक रूप की चर्चा सर्वाधिक महत्वपूर्ण है । इसमें प्रत्यय एवं अस्तित्व में यानी आदर्श एवं यथार्थ अभिव्यंजना में स्पष्ट विरोध है । यही नहीं, इसी प्रश्न पर यह भी कहा जा सकता है, कि एक महत्वपूर्ण अर्थ में यह विरोध स्वयं नैतिकता के अस्तित्व के लिये अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि इस विरोध के अभाव में नैतिकता संभव ही नहीं है । कांट के विद्यार्थी ब्रैडले के इस कथन में विद्यमान ध्वनि को सरलता से समझ लेंगे । नैतिकता का प्रश्न, काण्ट कहते है, एक ऐसी चेतना के लिये ही सार्थक है जो द्वन्द्वात्मक है, जिसमें दो विरोधी तत्वों का शाश्वत विरोध है । एक ऐसी चेतना के लिये जिसमें नैतिक एवं अनैतिक के विवेक का आविर्भाव ही नहीं हुआ है, यानी एक निर्नैतिक चेतना के लिये, अनैतिक शब्द कोई अर्थ नहीं रखता है, ऐसा प्राणी जो कुछ भी करता है, वह उसके लिये सहज ही होता है । इस स्तर पर सभी पशु अवस्थित है । उनका जीवन मात्र सहज वृत्यात्मक है । पुन: एक ऐसी पावन दिव्य चेतना के लिये जो 'शिवत्व' में स्थायी रूप से अवस्थित हो चुकी है हम एक बार फिर प्रथम प्रकार प्रकार की सहजता का एक उच्च स्तर पर साक्षात् करते हैं । इसी को 'होली विल' कहते हैं जो द्वन्द्वों का अतिक्रमण कर चुकी है पर मानवीय चेतना देवत्व से ही शिवत्व को प्राप्त करना चाहती हैं और निश्चित है वह देवत्व उसे सहज-वृत्यात्मक स्तर का अतिक्रमण करके ही प्राप्त होगा । अतएव वह निरंतर संघर्ष में रत चेतना है, विभाजित है, इसलिये संपूर्ण नहीं है, यद्यपि संपूर्ण की ओर गतिशील है ।

पर इसी स्वातिक्रमणीय मानवीय नैतिक चेतना में अन्तर्वर्ती और सक्रिय प्रतिमान के अध्ययन द्वारा हम उस दिशा तथा निष्पत्ति के विषय में अनुमान लगा सकते हैं जिस ओर वह प्रवहमान है और जिसे प्राप्त करने पर वह स्थायी

---

1. "Either to verify this consumation, or even to see how in detail it can be, is alike impossible. But for all that' such perfection in its general idea is intelligible and possible. And because the Absolute is perfect, this harmony must also exist."　　—Ibid., Page 177.

संतोष की प्राप्ति कर लेगी। यह निश्चित है कि उस निष्पत्ति में उसकी वर्तमान व्यग्रता और इस व्यग्रता के मूल में विद्यमान अन्तर्विरोध को जाना ही होगा। वह संगति की स्थिति होगी और उसमें वर्तमान विरोधों को विलय होना ही होगा अतएव इस व्यापक सर्वग्राही निष्पत्ति को यदि अति नैतिक निष्पत्ति कहा जाय, तो अनुचित न होगा और इस व्यापक सर्वग्राही निष्पत्ति में जैसा कि पूर्व प्रसंगों में कहा जा चुका है, सभी तत्व अपने विरोध का समर्पण करते हुये रूपांतरित होते हुए सुरक्षित रहेंगे।

पुनः ब्रैडले कहते हैं कि यदि इस संभावना को सिद्धान्ततः हम स्वीकार कर सकते हैं कि अशिवत्व को अपने सभी रूपों में, परिपूर्ण में रूपांतरित होना है तो फिर अशिव किसी भी प्रकार से परम सत् विषयक हमारी कल्पना के लिये चुनौती नहीं हो सकता।[1]

एक भ्रांति का निराकरण :

इसी प्रश्न पर एक संभव भ्रांति की ब्रैडले चर्चा करते हैं और उसका निराकरण भी करते हैं। वे कहते हैं कि जब परम सत् के विषय में हम यह कहते हैं कि इस परिपूर्णता में सभी विभेदों, विरोधों एवं सभी प्रकार के पार्थक्य का विलय होगा तो हमारा यह आशय नहीं कि वह एक खोखला अन्तर्विषयहीन अवशेष होगा जिसे दार्शनिक 'स्वयं-अपने-में-वस्तु' की संज्ञा देते हैं।[2] परिपूर्ण निष्पत्ति वर्तमान अवस्था से किसी भी अर्थ में न्यून कैसे हो सकती है ? वे तो पुनः एक बार यहाँ पर स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि यद्यपि सम्बन्धात्मक स्वरूप का और उसमें विद्यमान विसंगति का विलय कैसे होगा इसके बारे में पूरा बोध हमारे लिये संभव नहीं है, पर इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि 'वह' वर्तमान से न्यून होगी। ब्रैडले कहते हैं निःसदेह वह हमारी सभी कल्पनाओं से कहीं अधिक समृद्धिशाली होगी और उसका समुचित वर्णन करने में हम सर्वथा असमर्थ है क्योंकि वह हमारी कोटियों के माध्यम से व्यंजित नहीं हो सकती।

---

1. "If possible, then as before, it is indubitably real."
—Ibid., p. 179.

2. Empty residue ; and bare thing-in-it self is "a flat monotony of emptiness."
—Ibid., p. 180.

५ सत्य और सत् की मात्राएं

ब्रैडले बोसां के लार्ड हेल्डेन आदि हेगेलवादी अध्यात्मवादियों ने सत्ता की मात्राओं का सिद्धान्त प्रतिपादित किया हैं। यद्यपि इन विचारकों के सिद्धान्तों की अपनी चिंतनगत विशेषतायें हैं, तथापि एक ही मूल सिद्धान्त से सम्बन्ध होने के कारण इनमें समानता है। ये सभी हेगलीय दृष्टिकोण से प्रेरित होकर विश्वास करते हैं कि समस्त सान्त सत्ताएं विभिन्न रूपों में परम सत् की विभिन्न अभिव्यक्तियां हैं और वे क्योंकि खंड-खंड में विभाजित प्रस्तुत होती हैं अतएव अपूर्ण हैं। परन्तु अपनी अपूर्णताओं के पश्चात् भी वे सब समान मात्रा में अपूर्ण नहीं हैं। हेगेल समस्त सान्त सत्ताओं में उच्च और निम्न कोटि का भेद इस मानदंडके आधार पर स्वीकार करते है कि उच्च स्तर की सत्ताएं अधिक मूर्त होती हैं और उनमें अधिक संगति, सामंजस्य, संतुलन एवं पूर्णता होती है, जबकि निम्न स्तर की सत्ताएं अपेक्षाकृत कम मूर्त, कम पूर्ण और कम संगत स्वरूप होती हैं। ब्रैडले का सत्य की मात्राएं तथा सत् का सिद्धान्त हेगेल के दर्शन के इस सान्त सम्बन्धी सिद्धान्त से अत्यधिक प्रभावित है जैसा कि उन्होंने स्वीकार किया है।[1]

ब्रैडले के अनुसार सीमित सत्ताएं, जो दृष्ट हैं, सत्ता की आभास मात्र है, इसीलिए वे अपूर्ण एवं असत्य हैं, परन्तु वे सब समान मात्रा में अपूर्ण व असत् नहीं हैं। दूसरी ओर ब्रैडले यह भी कहते हैं कि सान्त सत्ताएं होते हुये भी विभ्रम एवं त्याज्य नहीं है क्योंकि उनमें परम सत्ता आँशिक रूप में विद्यमान है। अन्य शब्दों में 'सत्ता' किसी न किसी प्रकार समस्त सान्त सत्ताओं की मध्यस्थता से अपने को अभिव्यक्त कर रही हैं। अत: समस्त सीमित सत्ताएं उस परम सत् की विभिन्न मात्राओं की, अंशोंकी अभिव्यक्तियां है। इस प्रकार कोई भी अस्तित्ववान वस्तु सत्ता से शून्य नहीं है, यद्यपि सत्ता उन समस्त सान्त व सीमित वस्तुओं के माध्यम से भिन्न-भिन्न मात्रा में ही

---

1. "I may mention that in this Chapter I am, perhaps even more than elsewhere indebted to Hegel."
—Appearance and Reality p. 318.

अभिव्यक्त हो रही हैं। संपूर्णतः वह उनमें से किसी में भी न पृथक्-पृथक् और न समवेत रूप से ही अभिव्यक्त हो रही हैं। निष्कर्षतः यह कह सकते हैं, उनमें गुणात्मक भेद नहीं वरन् भावात्मक भेद है।

परम सत् में मात्रा भेद नहीं है :

ब्रैडले निरपेक्ष या परम सत् का एक प्रमुख लक्षण पूर्णता मानते हैं। परम सत् पूर्ण है उसमें किसी भी प्रकार की कोई अपूर्णता नहीं है, क्योंकि वह एक है और संपूर्ण नानात्व समन्वित होकर उसी पूर्णता में समाहित है। ऐसे निरपेक्ष परम सत् में पूर्णता के अंश या मात्राएं खोजना युक्तिसंगत नहीं, क्योंकि वह तो परमार्थिक सत्ता है। फिर भी हमारे अनुभव में सत् की पूर्णता न्यूनाधिक अंशों में ही प्रतीत हो रही है। ये अंश स्वयं परम सत्ता में नहीं प्रतीत होते। ये तो अपनी मध्यस्थता से केवल आभासित जगत निर्मित करते हैं। अतः 'मात्रा' शब्द का प्रयोग केवल विशिष्ट सीमित सत्ताओं के संदर्भ में ही सार्थक हो सकता है। आभासों को ही हम उच्च और निम्न कह सकते हैं। उन्हें ही मूल्यों के अनुक्रम में स्थान दिया जा सकता है।

भिन्न प्रकार से प्रस्तुत करते हुए कह सकते हैं कि परम सत् में मात्राएं नहीं पायी जातीं, अतः उस निरपेक्ष सत्ता के सम्बन्ध में आंशिकता का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि वह पूर्ण है व पूर्णता में न्यूनाधिकता नहीं होती। ब्रैडले के शब्दों में : "परम सत्——में मात्राए नहीं हैं, क्योंकि वह परिपूर्ण है और पूर्णता में कोई न्यूनता एवं अधिकता संभव नहीं हैं। इस प्रकार के विधेयों का सम्बन्ध और सार्थकता केवल दृष्ट-जगत में ही है।"[1]

ब्रैडले की निरपेक्ष सत्ता पूर्ण, अनन्त और शंकर की भाषा का प्रयोग करते हुए कह सकते हैं कि बाधारहित है, उसमें न अपूर्णता और न वह असीम ही है, अतः जैसा कि कहा जा चुका है, उसमें आंशिकता भी है। मात्रा अथवा अंश सम्बन्धात्मक पद[2] हैं। इनका प्रयोग वही हो सकता है, जहां एक से अधिक वस्तुएं हों या कम से कम दो हों या वहां जहां वस्तुओं के बीच

---

1. "The Absolute has of course no degrees; for it is perfact, and there can be no more ar less in imperfection. Such predicators belong to and have a meaning only in the world of appearance." —Ibid., p. 318.
2. Relational term.

तुलना का अथवा सम्बन्ध का अवसर हो। अतः निरपेक्ष सत् के सम्बन्ध में सत् की मात्राओं का प्रश्न निरर्थक व निराधार है।

आभास में मात्राएं :

पुनरावृत्ति के दोष के बावजूद यह कहना चाहेंगे कि परम सत् में भेद नहीं है। मात्राओं का प्रश्न भाषाओं के ही संदर्भ में उठाया जा सकता है, अतः आंशिकता की प्रतीति आभास में ही पायी जाती है। दृश्य जगत की समस्त वस्तुएं सीमित होने के नाते अपूर्ण हैं। सीमाएं तीन प्रकार की होती हैं, देशगत, कालगत और वस्तुगत। ये तीनों सीमाएं आभाषित वस्तुओं को आवद्ध किये हैं, । स्वयं दिक्काल भी अन्य वस्तुओं तथा परस्पर एक दूसरे से परिच्छिन्न है। परन्तु अनुभव से यह ज्ञात है कि जगत की सभी वस्तुएं समान रूप से सीमित या परिछिन्न नहीं है, उनमें अनेक भेद दृष्टिगोचर होते हैं। कुछ वस्तुओं का आकार छोटा है, कुछ का बड़ा, कुछ अल्पकाल तक अवस्थित रहती है तो कुछ अधिक समय तक। कुछ वस्तुएं शीघ्र परिवर्तित होती रहती हैं तो कुछ अपेक्षाकृत देर में और कम। इस प्रकार वस्तुओं में आकार, विस्तार, स्थायित्व, सामन्जस्य सम्बन्धी अनेक भेद भिन्न-भिन्न मात्राओं में पाये जाते हैं। परन्तु आभासित जगत की सभी वस्तुएं यथार्थ या पूर्ण सत् के अन्तर्गत ही समन्वयात्मक ढंग से समाविष्ट है, अर्थात् उसकी प्रतीत सर्वथा भ्रांति और त्याज्य नहीं क्योंकि उसमें आंशिक रूप में सत् विद्यमान है। पूर्ण सामंजस्ययुक्त वस्तु ही पूर्ण यथार्थ और सत्य है अतः न्यूनतर सामंजस्य युक्त वस्तुएं आंशिक सत्य ही कही जा सकती हैं। अतएव सान्त सत्ताएं जैसी भी हैं और उनकी अभिव्यक्ति जिस प्रकार की भी हो उन्हें हम एक विशिष्ट क्रम में रख सकते हैं और जिस प्रतिमान के आधार पर हम उन्हें क्रमवद्ध करेंगे वह है कि कितनी मात्रा में, कितने अंश में वे संगतिपूर्ण एवं व्यापक है, यानी कितनी मात्रा में वे अपने माध्यम से परम सत् को अभिव्यक्ति कर रही है। यही ब्रैडले द्वारा स्वीकृत 'सत् की मात्राएं और सत्' सम्बन्धी सिद्धान्त हैं। वे स्वयं कहते हैं :

"दो प्रस्तुत आभासों में से एक जो अधिक विस्तृत अथवा अधिक समन्वयशील है, वह अधिक वास्तविक है। वह किसी एक मात्र' सर्वव्यापी व्यक्तित्व के अधिक निकट पहुंचता है। दूसरे शब्दों में उसकी अपूर्णताओ को दूर करने के लिये हमे थोड़ा सा ही परिवर्तन करना पड़ेगा।

जो सत्य और जो तथ्य परम सत् में परिणत होने के लिये पुनर्व्यवस्था तथा वृद्धि की कम अपेक्षा रखता है वह अधिक वास्तविक और अधिक सत्य है। और सत् और सत्य की मात्राओं से हमारा अभिप्राय यही है। सत् के लक्षणों से अधिक युक्त होना और अपने भीतर सत् की अधिक मात्रा रखना, ये दो बातें ऐसी है, जो एक ही वस्तु को कहने के दो ढंग हैं।"[1]

समस्त दृष्टिगोचर होने वाली सान्त सत्ताओं को ब्रैडले सत् का आभास मानते हैं अतः उनके अनुसार वे अपूर्ण और असत्य है, परन्तु सभी समान रूप से अपूर्ण नहीं है जैसा कि वे स्वयं कहते हैं कि दो आभासों में से जो एक अधिक विस्तृत, विशाल एवं समन्वित है, वह अधिक सत्य है। यह कथन एक ऐसे एकत्व की ओर संकेत करता है जो सबको अपने में समन्वित करने वाली इकाई है। अपूर्णताओं की समाप्ति करने के लिये हमको उसमें कुछ परिवर्तन लाना होगा। अतः ये विभिन्न अंशों में सत्य है और इन्हें ही हम तथ्य की संज्ञा देते हैं। फलतः जिनको निरपेक्ष में परिवर्तित करने के लिये कम से कम पुनर्व्यवस्था एवं संशोधन की आवश्यकता होती है, वह अधिक सत्य और सत् होते हैं। ब्रैडले का सत्य और सत् की मात्राओं के सिद्धान्त का तात्पर्य यही है।

ब्रैडले का यह सिद्धांत विशेषतया विचार और सामान्यतया अनुभूति के सभी प्रकारों से सम्बन्धित है, तथा उन्हीं के माध्यम से स्पष्ट भी होता है। विचार प्रत्ययात्मक है परन्तु वह प्रत्ययात्मकता के दोष का समर्पण करके एक परिपूर्ण अनुभूति में रूपान्तरित हो सकता है। विचार जब स्वयं को

1. "Of two given appearances the one more wide, or more harmonious, is more real. It approaches nearer to a single, all containing individuality. To remedy its imperfections, in other words, we, should have to make a smaller alteration. The truth and the fact, which to be converted into the Absolute, would require less rearrangement and addition, is more real and truer. And this is what we mean by degrees of reality and truth. To possess more the character of reality and to contain within oneself a greater amount of the real are two expressions for the samething."

—Ibid., pp. 322-23.

विकसित करके एक उच्चतर अनुभूति में अवस्थित होता है, तो उसके पूर्व उसका एक पक्षीय रूप विसर्जित हो जाता है और उसमें आमूल परिवर्तन आ जाता है परन्तु इस आमूल परिवर्तन, विकास एवं रूपान्तरण की भी मात्राएं हैं। अतएव प्रत्येक विचार समान रूप से महत्वपूर्ण नहीं है।

ब्रैडले जब अनुभव के आधार पर सत् का समर्थन करते हैं, तो वे इस अनुभूति को एक विशिष्ट सामान्य से भिन्न अर्थ में ग्रहण करते हैं। सामान्य अनुभूतियों के स्वरूप का वर्णन करते हुए वे कहते हैं कि परम सत् को अभिव्यक्त करने वाली सभी अनुभूतियां समान नहीं हैं। उच्च एवं निम्न विचार और उसी अर्थ में उच्च एवं निम्न अनुभूतियों में निम्नतर विचार एवं अनुभूति वह है, जो परम सत् के स्वरूप को न्यूनतम मात्रा में प्रकाशित करती है तथा उच्चतम विचार एवं अनुभूति वह है जो परम सत् को स्पष्टतम रूप में व्यंजित करते हैं। किसी भी प्रकार की अनुभूति में इतनी सामर्थ्य नहीं है कि वह सम्पूर्ण हो जाय। वह सदैव ही सत् से न्यून रहेगी क्योंकि जहाँ वैविध्य है वहाँ एकांतिकता है, और इसलिए जो एकान्तिक है वह सम्पूर्ण हो ही नहीं सकती। बौद्धिक, नैतिक, धार्मिक एवं सौन्दर्यात्मक अनुभूतियों को अनुभूति की श्रृंखला में उच्चतम स्थान प्राप्त है परन्तु ये सभी परस्पर एक दूसरे से भिन्न हैं और इनमें समान रूप से विषयी और विषय का द्वैत विद्यमान है। यह द्वैत ही इन अनुभूतियों की विशेषता है जिसका समर्पण वे अपने स्तर पर नहीं कर पाती। पर परम सत् एक सर्वव्यापी अद्वैत सत् है—उसमें द्वैत का अभाव है, इसलिये जहाँ द्वैत है वहाँ सत् के संगतिपूर्ण रूप की व्यंजना संभव नहीं है। सभी अनुभूतियां अपनी सम्पूर्ण एकान्तिकता का समर्पण कर सम्पूर्ण बनाना चाहती हैं परन्तु इनमें यथार्थ और आदर्श का द्वैत बना रहता—यही उनकी प्रत्यात्मकता है। अतः कोई भी अनुभूति कितनी ही विकसित क्यों न हो जाय वह सम्पूर्ण नहीं हो सकती। अतएव अनुभूतियों में आंशिकता है, मात्रागत भेद है, और परम सत् परिपूर्ण है अतः उसमें ब्रैडले मात्राएं स्वीकार नहीं करते। स्पष्ट है यदि सत् में सत्य की मात्राएं मान ली जायेंगी तो सत् की सम्पूर्णता नष्ट हो जायगी। इसके अतिरिक्त निरपेक्ष सत्ता सर्वग्राही[1] है उसके बाहर कुछ भी नहीं है। पूर्ण में सब कुछ समाविष्ट होना चाहिये अतः उसमें आंशिकता अथवा मात्राएं नहीं हैं। परन्तु आभास में सब कुछ समन्वित नहीं

1. All inclusive इसके लिये सर्व अन्तर्भूतकारी शब्द का भी प्रयोग किया गया है।

है, उसके बाहर भी बहुत कुछ रहता है, अतः उसकी पूर्णता आंशिक है। न्यूनाधिक रूप में सत्य होने और न्यूनाधिक रूप में वास्तविक होने का अर्थ किसी छोटे या बड़े अन्तराल के द्वारा सर्वसमिष्ट अथवा स्वयं सिद्धि की अवस्था से पृथक् होना है।

इस प्रकार परम निरपेक्ष की स्थापना के पश्चात् ब्रैडले इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि प्रत्येक सीमित सत्ता के माध्यम से परम निरपेक्ष सत्ता अपनी अभिव्यक्ति करती है। अन्य शब्दों में आभासित जगत की प्रत्येक सीमित सत्ता में परम सत्ता बीज रूप में विद्यमान है भले ही उसके माध्यम से वह कम मात्रा में अभिव्यक्त होती हो, अथवा अधिक मात्रा में। इस प्रकार हम देखते है कि प्रत्येक सान्त सत्ता में कमी है पर यदि उस कमी को पूरा कर दिया जाय अर्थात् कमी वाला अंश उसमें जोड़ दिया जाय तो प्रत्येक सान्त सत्ता पूर्ण हो जायगी[1]। इस प्रकार प्रत्येक सान्त सत्ता में सम्पूर्ण बनने की संभावना है परन्तु उसके सम्पूर्ण बनने के लिए यह आवश्यक है कि उसमें शेष अपकर्षित अंश या जिसे पूरक तत्व भी कहा जा सकता है, इस पूरक तत्व से उसके स्वरूप में आमूल परिवर्तन आ जाता है क्योंकि वह एक ऐसा तत्व है जो उसे अपने स्तर पर मात्र विस्तारित होने से प्राप्त नहीं होता। पुनः जिसमें आंतरिक विसंगति अधिक है, उसे परम सत् बनने के लिए अपने में अधिक परिवर्तन एवं संशोधन की आवश्यकता पड़ती है और जिसमें संगति का अधिक अंश विद्यमान है, उसमें कम परिवर्तन एवं संशोधन की। अतएव इसी सत्य की मात्राएं एवं सत् के सिद्धान्त को परिवर्तन एवं संशोधन का सिद्धान्त भी कहते हैं और जो अनुभव जगत से ही सम्बन्धित है। इस सामान्य सम्बन्धात्मक अनुभव को ब्रैडले न तो प्राथमिक ही मानते हैं, न अन्तिम ही। ऐसा अनुभव सामान्य ज्ञान की प्राप्ति में ही सहायक होता है। पर तत्वमीमांसीय दृष्टि से उस ज्ञान का कोई महत्व नहीं है। ब्रैडले कहते हैं क्योंकि कोई भी "सम्बन्धात्मक दृष्टि अपने में सार रूप में विरोध को समाहित रखती है।[2] अतः संबंधात्मक अनुभूति अपने मूल रूप में आत्मव्याघात कहलाती है।"[3]

1. Every finit is capable of becoming whole but not until the balance has been restored."

—Appearance and Reality p.

2. "..... Any relational view involves self contradiction in its essence." —F.H. Bradley, "Collected Essays", p. 630.
3. "Relational Experience must hence in its very essence be called self contradictory." —Ibid., p. 635.

सारांशत: कोई भी सम्बन्धात्मक अनुभूति सत् या पूर्ण सत्य को नहीं प्राप्त कर सकती ।[1]

विचार की सम्बन्धात्मकता :

ब्रैडले ने सत्य की मात्राएं और सत् सिद्धान्त का प्रस्तुतीकरण एवं विश्लेषण विचार के संदर्भ में विचार की प्रकृति को लेकर ही किया है। अत: विचार की मूल प्रकृति को समझने के पश्चात् ही ब्रैडले के सत्य की मात्राओं के सिद्धान्त को समझा जा सकता है ।

स्वयं सत्ता या परम सत्य ही विचार का अन्तिम एवं एक मात्र आदर्श एवं उद्श्य । अन्य शब्दों में किसी भी प्रकार प्रयास करके सत्ता को प्राप्त करना ही विचार का लक्ष्य अथवा ध्येय है। परन्तु अपनी सम्बन्धात्मक प्रकृति के कारण विचार सत् का वास्तविक स्वरूप व्यक्त करने में असफल ही रहता है, क्योंकि विचार की भाषा, जिससे वह सत्ता को प्रस्तुत करता है, अधूरी, संपूर्ण और अपर्याप्त है। अत: विचार सत्ता को कितना भी अधिक सही प्रस्तुत क्यों न करे, सत्ता का वास्तविक स्वरूप वह व्यक्त नहीं कर पाता ।

निर्णय की सोपाधिकता :

ब्रैडले के दर्शन में मात्राओं के मूल्य को उचित रूप में समझने के लिए निर्णय की प्रकृति और सत् से उसके सम्बन्ध को स्पष्ट करना आवश्यक है। विचार की न्यूनतम इकाई है 'निर्णय' और उनके अनुसार प्रत्येक निर्णय सापेक्षतया सत्य हैं। अर्थक्रियावाद[2] के मुख्य समर्थकों यथा जान डीवी और विलियम जेम्स आदि ने भी निर्णय की सोपाधिकता का समर्थन किया है। उनके अनुसार निर्णय वाक्य जिस सत्य को प्रस्तुत करते हैं वह सोपाधिक[3] और सापेक्ष है। परन्तु यह अर्थक्रियावादी दृष्टिकोण सामान्य जीवन में

---

1. "And thus the relational view, while justified and more than justified in advancing, must fail in the end to reach full reality or truth."

—F, H. Bradley–Collected Essays, P. 630.

2. Pragmatism.
3. Conditional.

स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि हमारा सामान्य दृष्टिकोण सत्य की निरपेक्षता का समर्थन करता है। अर्थक्रियावादियों से भिन्न ब्रैडले ने निर्णय सम्बन्धी जो दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है, वह इस प्रश्न पर सामान्य जीवन के अधिक निकट है। उनके अनुसार निर्णय चाहे वह स्वीकारात्मक हो अथवा निषेधात्मक, वह सत् के विषय में कुछ न कुछ प्रतिपादन अवश्य करता है और वह प्रतिपादन एक सीमित सन्दर्भ में निरपेक्षतः सत्य है। परन्तु वह एक दूसरे अर्थ में सीमित है और इसी कारण सोपाधिक है। इस सोपाधिकता को स्पष्ट करते हुए वे कहते है कि क्योंकि चिंतन की प्रक्रिया में विचार 'तद्' से उसके 'किम्' को अपकर्षित करके अपने को केवल 'किम्' पक्ष पर ही केन्द्रित रखता है तथा 'तद् पक्ष पूर्णतः अवहेलित रहता है इसलिये विचार की प्रस्तुति असंपूर्ण रहती है। किन्तु सत् के अनावरण के प्रयास में विचार निरन्तर अपने स्तर पर इस खंडित एकता को पुनर्व्यवस्था[1] द्वारा एकीकृत करता है। पर विचार का यह प्रयास आत्मघातक है। निर्णय की अतः विचार की क्योंकि विचार की न्यूनतम इकाई निर्णय है आत्मघातकता अथवा स्वयं विरोधी प्रकृति को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है कि निर्णय में कम से कम 'उद्देश्य-विधेय' दो पद अवश्य होते हैं। जिसे हम 'एस इज पी' (S is p) शब्द प्रतीत से व्यक्त कर सकते है। इसमें योजक[2] 'इज' ("is") उद्देश्य और विधेय में पूर्ण तादात्म्य को व्यक्त करता है। परन्तु जब तक ये दो पद दो हैं, इनमें पूर्ण तादात्म्य कैसे हो सकता है? अन्य शब्दों में विचार की भाषा मात्र विधेयों तक ही सीमित है। अर्थात् विषय तक ही हैं पर उद्देश्य या अस्ति में तद् तथा किम् दोनों समन्वित हैं। अतएव, विचार के माध्यम से हम किम् पक्ष की कितनी भी अधिक व्याख्या क्यों न करते जाय ऐसी स्थिति कभी नहीं आती कि विधेयों के माध्यम से उद्देश्य पूर्ण रूप से व्यक्त हो जाय। अन्य शब्दों में विचार तद् किम् के पार्थक्य पर ही निर्भर करता हैं, वह उनको कभी एक रूप नहीं कर सकता। अतः विचार जब भी किसी तथ्य को जानना चाहेगा तो वह उसे उसके पूर्ण समन्वित रूप में नहीं जान सकता। वह उद्देश्य से किम् को पृथक् करके ही उसे जान सकेगा और वह एक ऐसा पार्थक्य है, जिसमें उद्देश्य की तदता कभी उचित रूप से प्रस्तुत हो नहीं हो पाती। इसे यूं भी प्रस्तुत किया जा सकता है कि विचार किम् के

1. Re-arrangement.
2. Copula.

विश्लेषण में ही उलझ कर रह जाता है, जब कि सत्ता तद् एवं किम् का समन्वित रूप है। निर्णय की आत्मघातक प्रकृति के ही कारण कोई भी दिया गया निर्णय पूर्ण सत्य नहीं होगा। इसी तथ्य को व्यक्त करने के लिये ब्रैडले कहते हैं : हमारे सभी निर्णयों को सत्य होने के लिए सोपाधिक होना चाहिए।[१]

परन्तु ये निर्णय सोपाधिक इसी अर्थ में है कि 'प्रत्येक निर्णय और सत्य विभेदीकरण अपकर्षण और चुनाव पर आश्रित है।[२] अतः उसका प्रत्येक प्रतिपादन अपूर्ण है तभी ब्रैडले का कथन हैं कि—"प्रत्येक निर्णय इसलिए अव्यवहितत्व का अतिक्रमण करता है।[३] और इसलिए इन निर्णयों को विभिन्न सीमा तक अन्ततोगत्वा सोपाधिक ही कहा जाना चाहिए।"[४] क्योंकि यदि निर्णय अन्ततः विचार अपने तथाकथित स्वरूप, उद्देश्य, विधेय के द्वैत को त्याग देगा तो विचार स्वयं ही नष्ट हो जायगा।[५] अन्ततोगत्वा उद्देश्य और विधेय में कोई एक किसी दूसरे का स्थान नहीं ले सकता।

अतः निर्णय इस अर्थ में सोपाधिक होते हैं क्योंकि वे जिस बात का समर्थन करते है वह अपूर्ण है, वह अपने रूप में सत् को प्रस्तुत नहीं कर पाता अथवा यूं कहें वह निर्णय सत् रूप नहीं कहा जा सकता और विशेष कर तब तक जब तक निर्णय में आवश्यक पूरक तत्व सम्मिलित न हुआ हो, परन्तु

---

1. "And hence all our judgements to be true must become conditional", —Appearance and Reality, pp. 319–20.
2. "All judgement and truth depend on distinction, upon abstraction and relation."
—Essays on Truth and Reality, p. 329.
3. "Every judgement therefore transcends immediacy...
—F. H. Bradley. —Ibid., p. 330.
4. "And hence our judgement always but to a varying extent must in the end be called conditional."
—Appearance and Reality, p. 320.
5: There is still a difference unremoved, between the subject and the predicate, a difference which, while it persists, shows a failure in thought, but which, if removed, would wholly destroy the special essence of thinking."
—Ibid., Page 319.

यह पूरक तत्व अन्ततोगत्वा निर्णय द्वारा अज्ञात ही रह जाता है।[1]

इसलिए वे कहते हैं कि 'वस्तुत: हमने सदा ही अपने कथन को उस अज्ञात तत्व पर अवलम्बित तथा निर्भर रखा है।"[2]

तात्पर्य यह है कि सत्ता के वास्तविक स्वरूप में तात्कालिकता का तत्व अथवा अव्यवहितत्व निहित है, जिसे तत्व के विचार के स्तर पर प्राप्त नहीं किया जा सकता। तभी वह विचार के स्तर पर अज्ञेय है। अत: विचार कितना भी प्रयास क्यों न करे विचार मात्र विचार के रूप में सत्ता को प्राप्त नहीं कर सकता। जहां तक निर्णय का प्रश्न है, उसमें क्योंकि किम् पक्ष ही प्रस्तुत होता है और वह भी विभिन्न मात्राओं में ही प्रस्तुत होता है। अत: निर्णय द्वारा सत्य की मात्राओं की प्रस्तुति को ब्रैडले ने स्वीकार किया है, कि प्रत्येक निर्णय सत्ता को प्राप्त करना चाहता है। अत: यदि यह कहा जाय कि निर्णय द्वारा परम सत् की अभिव्यक्ति और आवरण दोनों होता है तो अतिशयोक्ति न होगी। जब तक निर्णय में 'अव्यवहितत्व' का अभाव होगा वह संपूर्ण नहीं हो सकता। और दूसरी दृष्टि से प्रत्येक निर्णय में सत्य की जितनी भी मात्रा है, यानी वह सत्य को जिस रूप में प्रस्तुत करेगा उसी अनुपात में वह निरपेक्ष रूप से सत्य होगा। तथ्य से निर्णय के सामंजस्य स्थापित करने के लिए हमें निर्णय में कुछ परिवर्तन एवं संशोधन आवश्यक रूप से करना होगा। अत: निर्णय में मात्राएं होने के नाते विचार के स्तर पर उच्चतम सत्य ही क्यों न प्राप्त हो जाय वह सदैव सत्ता से कम ही रहेगा, क्योंकि वह विचार के स्तर पर प्राप्त सत्य है, जिसमें अव्यवहितत्व समाहित नहीं है।

सत्य में मात्राएं और सत् :

ब्रैडले के दर्शन में विचार के संदर्भ में 'सत्य' और 'सत्' या 'सत्ता' एक नहीं है। वे विचार और निर्णय की प्रकृति एवं उनके द्वारा सत् को मात्रा

---

1. "Judgements are conditional in this sense, that what they affirm is incomplete, it cannot be attributed to Reality as such, and before its necessary complement is added. And, in addition, this complement in the end remains unknown." —Ibid., Page 320.
2. "Thus we really always have asserted subject to, and at the mercy of the unknown;" —Ibid., p: 320.

के अनुपात में अभिव्यक्त करने की सीमा का उल्लेख करके एक अन्य निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार विचार की प्रत्ययात्मकता तथा निर्णय की सापेक्षता एवं सोपाधिकता के साथ सत्य की प्रत्ययात्मकता एवं उसकी मात्राओं का प्रश्न भी सम्बन्धित है। सत्य में भी प्रत्ययात्मकता है क्योंकि उसमें अव्यवहितत्व का तत्व अपेक्षित है। अतएव सत् में रूपान्तरित होने के लिए उच्चतम सत्य में भी यह तत्व समाहित होना आवश्यक है, और ऐसी दशा में सत् का जो चित्र हमारे समक्ष प्रस्तुत होगा वह निश्चय ही सत्य से भिन्न होगा। अन्य शब्दों में तब विचार 'सत्ता' में परिवर्तित हो जायगा और तब उसमें मात्राओं का प्रश्न ही नहीं रहेगा, क्योंकि ब्रैडले के अनुसार सत्ता के स्तर पर मात्राएं नहीं होती। इसी को एक व्यापक संदर्भ में यूं भी कहा जा सकता है कि विश्व की सभी अनुभूतियां किसी न किसी मात्रा में सत्य है तथा एक अन्तर्निहित नितान्त आन्तरिक प्रेरणा के आधीन होकर सम्पूर्ण सत् की ओर अग्रसर है। ब्रैडले कहते हैं—"सत्य उस समय तक संपूर्ण नहीं होता जब तक वह किसी भी रूप में अपने सत् को अपने साथ एकीकृत करने में असफल रहता है।"[1] अत: स्पष्ट है कि उनके अनुसार आभास असत् मात्र नहीं है, अर्थात् वह पूर्णतः सत्ता से शून्य नहीं है, यद्यपि वह सत् भी नहीं है। सत् की उपस्थिति व अभिव्यक्ति प्रत्येक आभास में प्रेरणा एवं आंशिक उपलब्धि दोनों ही रूपों में अवश्य विद्यमान है। इसी सिद्धांत के अनुसार ब्रैडले ने कहा कि 'परम सत्य'[2] और 'परम भ्रांति'[3] नामक कोई चीज नहीं है। इन शब्दों का प्रयोग लौकिक अर्थ में और वह भी मात्र कल्पना की संपूर्णता के लिए किया जाता है। अन्य शब्दों में ये मात्र काल्पनिक विन्दु हैं। यह निश्चित है कि ऐसा कोई भी सत्य नहीं होता जो पूर्णतया सत्य हो जिस प्रकार ऐसी कोई भी भ्रांति नहीं जो पूर्णतया असत्य हो। ब्रैडले के शब्दों में :

"ऐसा कोई भी सत्य नहीं जो पूर्णत: सत्य हो जिस प्रकार कोई त्रुटि ऐसी नहीं जो पूर्णत: असत्य हो। सभी का समान रूप से अवलोकन करने तथा संकीर्ण अर्थ में ग्रहण करने पर उनमें केवल मात्रा तथा न्यूनता एवं अधिकता

---

1. "Truth is not perfect so long as it fails anywhere to include its reality."

—Essays on Truth and Reality, p. 330.

2. Absolute Truth
3. Absolute error

का प्रश्न उठेगा।"[1]

किसी विशेष संदर्भ में ही हमारे विचार पूर्णतः भ्रांति अथवा सत्य समझ लिये जांय परन्तु सत्य और भ्रांति मात्रा का विषय है।[2]

इसी प्रकार निर्णय के लिए भी वे कहते हैं, कि "हमारे निर्णय कदापि पूर्ण सत्य के स्तर तक नहीं पहुंच सकते और वे केवल प्रामाणिकता की न्यूनता अथवा अधिकता को पाकर ही संतुष्ट हो जायेंगे।"[3]

इस प्रकार सत्य में केवल मात्रा का भेद है। और इसको मापने का एक सीधा तरीका है और वह यह कि सत्य को सत् में रूपांतरित होने के लिये जिस अनुपात में अपने को बदलने की आवश्यकता होगी उसी अनुपात में वह सत्य होगा। इस प्रकार सत्य और सत् नितान्त पृथक् और असम्बद्ध नहीं है वरन् उनमें आन्तरिक सम्बन्ध है। सत्य ही विकसित होकर तथा अव्यवहितत्व के तत्व को सम्मिलित करके सत् में परिवर्तित हो जाता हैं। पर यहाँ विकास तथा रूपांतरण का एक तकनीकी अर्थ है। विकसित होकर वह एक भिन्न आयाम को प्राप्त कर लेता है। वे कहते हैं: 'सत्य इस अर्थ में सत् के समान है कि स्वयं को संपूर्ण बनाने के लिए उसे सत् होना पड़ेगा।"[4]

संपूर्ण सत्य और सत् :

परम सत् सर्वग्राही और सम्पूर्ण है परन्तु सत्य अपनी प्रकृति के नाते

---

1. "There will be no truth which is entirely true, just as there will be no error which is totally false. With all alike, if taken strictly, it will be question of amount and will be a matter of more or less."

   —Appearance and Reality, pp. 320-21.

2. Our thoughts certainly, for some pruposes, may be taken as wholly false, or again as quits accurate ; but truth and error measured by the Absolute, must each be subject always to degree."

   —Ibid., p. 321.

3. "Our judgements, in a ward can never reach as far as perfect truth, and must be content merely to enjoy more or less of validity."

   —Ibid., p. 321.

4. "Truth is identical with reality in the sense that in order to prefect itself it would have to become Reality."

   —Essays on Truth & Reality. p. 343-44.

सापेक्षिक और अपूर्ण है। ऐसी दशा में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि इस सापेक्षता एवं अपूर्णता के विद्यमान होने पर कोई विचार किसी मात्रा में कैसे सत् होगा ? प्रत्युत्तर में ब्रैडले का कथन है कि एक दृष्टि से "सत्य और सत् की संपूर्णता का स्वरूप अन्ततः समान है।"[1]

इसलिए प्रत्येक आभास को सापेक्षतः यथार्थ—यानी सत् मानना पड़ेगा। प्रत्येक आभास न्यूनाधिक मात्रा में सत्य है तथा वह संपूर्ण सत् में रूपान्तरित होने के लिए सतत प्रयत्नशील है। क्योंकि प्रत्येक सान्त आभास में परम सत् अन्तर्वर्ती है। परन्तु निरपेक्ष रूप से यह कि आभासों में सत् की मात्राएं हैं, एक सार्थक कथन न होगा क्योंकि यद्यपि उनमें परम सत् उपस्थित है, परन्तु कितनी मात्रा में है और अपनी संपूर्ण अभिव्यंजना में किसी प्रकार रूपांतरित होगा—हमें इसकी जानकारी नहीं है। और न ही ज्ञान के वर्तमान धरातल पर यह संभव ही है। परम सत् एक सर्वग्राही सत्ता है, जिसमें सभी आभास समन्वित रूप में अवस्थित रहते हैं, परन्तु आभासों में सब कुछ समन्वित नहीं रहता। उससे बाहर भी कुछ रहता है, जिस कारण वह कभी भी अपनी विशिष्टताओं के साथ परिपूर्ण सत्य नहीं होगा। उसकी पूर्णता आंशिक से होगी। ब्रैडले के अनुसार सापेक्षतः परम सत्य को कहा जा सकता है, जिसमें परम सत् होने के लिए सबसे कम मात्रा में परिवर्तन की आवश्यकता हो। इसी प्रकार परम भ्रांति हम उस आभास को कह सकते हैं, जिसमें सत् बनने के लिए सबसे अधिक परिपर्तन की आवश्यकता होती है, क्योंकि उसमें सत्ता न्यूनतत मात्रा में होती है। और इस प्रकार इन दो काल्पनिक बिन्दुओं के बीच सत्य के सत् में परिणत होने के लिए जिस परिमाण में कम अथवा अधिक सत् की आवश्यकता पड़ेगी उसी के अनुसार उसकी सत्यता होगी।[2] अन्य शब्दों में पुनरावृत्ति के दोष के बावजूद यह कहना अनुचित न होगा कि कोई भी आभास सत्ता से नितांत शून्य नहीं है और भ्रांति भी आभास ही है। अतः वह भी सत्ता से शून्य नहीं है, अतः परम भ्रांति नहीं है। इसी प्रकार उच्चतम सत्य भी परम सत् इसलिये नहीं है, क्योंकि कोई भी सत्य क्यों न हो वह विचार के स्तर पर प्राप्त सत्य है, और विचार के स्तर पर प्राप्त

1. Perfection of Truth and of Reality has in the end the same character. (A. & R. p. 221)
2. "Truths are true, according as it would take less or more to convert them into reality." —Ibid., p. 321.

सत्य कभी भी उन कारणों से जो प्रस्तुत किये जा चुके हैं, परम सत् नहीं हो सकता : अतः सत्य कितना भी पूर्ण व उच्च कोटि का क्यों न हो वह सत्ता से हमेशा कम ही रहेगा। साराशतः सत्य के सामन नहीं हो सकता, अतः सत्य भी आभास है यद्यपि वह उच्चतम श्रेणी का है। इस दृष्टि से सत्य और भ्रांति दोनों ही आभास है। एक उच्च कोटि का व दूसरा निम्न कोटि का। हम यह भी कह सकते हैं कि मिथ्या या भ्रांति और सत्य एक ही पैमाने पर अवस्थित विभिन्न सत्ताएं हैं, दोनों आभास हैं, दोनों को संपूर्ण सत् का रूप ग्रहण करने के लिये अपने वर्तमान स्वरूप को परिवर्तित एवं संशोधित करना होगा। परन्तु पूरक तत्व की अप्रियता के कारण क्योंकि विचार के स्तर पर यह अज्ञात पूरक कभी ज्ञेय नहीं हो सकता, जिस प्रकार यह अज्ञात तत्व सत्य के सम्पर्क में आकर उसे सत् बनाएगा अर्थात् किस प्रकार हमारे सत्य को सत् के रूप में परिवर्तित करेगा। इसके विषय में भी हम कुछ नहीं कह सकते। परन्तु इतना निषेधात्मक रूप से अवश्य कह सकते हैं कि उस अज्ञात पूरक तत्व के जुड़ जाने पर कुछ अन्तर अवश्य आयेगा। और यह निश्चित है कि जो सत्य में वह अज्ञात तत्व जुड़ जायगा तब सत्ता प्राप्त हो जायगी और तब वहां सत्य एवं सत्ता की मात्राओं का प्रश्न ही समाप्त हो जायगा। क्योंकि सत् की मात्राओं का यह प्रश्न तो केवल सत्य के स्तर का है, सत्ता के स्तर का नहीं। अतएव विचार के स्तर पर सत्ता की अज्ञेयता का तात्पर्य यह है कि व्यावहारिक बुद्धि या प्रागनुभविक विचार जिस माध्यम से सत्ता को प्रस्तुत करने का प्रयास करते हैं वह माध्यम ही अपूर्ण है अतः उससे जो भी कुछ प्राप्त होगा वह भी अपूर्ण ही होगा, जबकि सत्ता पूर्ण एवं सर्वग्राही है।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि सत्य सापेक्षिक हैं तथा सदैव अपूर्ण है फिर भी ब्रैडले कहते हैं कि पूर्णता की कमी होते हुए भी प्रत्येक विचार किसी न किसी मात्रा में अवश्य सत्य होता है। एक ओर वह मानदंड से अनुरूपता, स्थापित करने में असमर्थ रह जाता है, साथ ही दूसरी ओर वह अपने माध्यम से इस मानदंड को अभिव्यक्त भी करता है।[1] परन्तु यहां यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि वह मानदंड क्यों है? ब्रैडले के विचार में

1. "..... truth is relative and always imperfect though failing of perfection, all thought is to some degree true. On the one hand it falls short of, and, other hand at the same time, it realizes the standard." —Ibid., p. 321.

सत्य और सत् कोनों की ही पूर्णता का अंततोगत्वा एक ही स्वरूप है। उसमें सुनिश्चित स्वाश्रित व्यष्टित्व होता है। सत्य में आन्तरिक समन्वय अथवा व्याप्ति और सर्वसमावेश के लक्षण अवश्य ही प्रकट होने चाहिए, और ये दोनो विशेषताएं एक ही सिद्धांत के दो भिन्न-भिन्न पक्ष हैं। प्रथम जो स्वयं विरोधी है वह खटकता है क्योंकि उसके भीतर निहित परिपूर्णता अपने अंगों के बीच संघर्ष उत्पन्न कर देती है और इन संघर्ष को आमंत्रित करने वाले अपने संदर्भों से वियुक्त तत्वों के बीच समन्वय स्थापित करने का उपाय यह है कि इन असंगतियों को एक विस्तृत व्यवस्था में पुनः फैला दिया जाय। परन्तु दूसरी ओर समन्वय, नियंत्रण और सीमितता में मेल नहीं खाता, क्योंकि जो वस्तु सर्वव्यापी नहीं है उसमें तत्वतः आन्तरिक असंगति होगी।[1]

सत्ता को प्राप्त करने के प्रयास में तत्व बुद्धि के द्वारा एक ऐसा स्थायी व्यष्टित्व में रूपांतरित हो जाता है कि उसमें उसका अपना निजी स्वभाव समाहित हो जाता है, वह अन्य शब्दों में एक ऐसी पूर्ण इकाई में परिणत हो जाता है जिसमें संपूर्ण असंगतियों का अन्त हो जाता है और एक व्यवस्था (system) स्थापित हो जाती है। ब्रैडले के शब्दों में :

"इस प्रकार प्रसार और समन्वय के दो पक्ष सिद्धान्ततः एक ही हो जाते हैं, यद्यपि हमारे काम के लिये वे कुछ अंश तक पृथक्-पृथक् हो जाते हैं, और अभी हमें उनको अलग-अलग समझने में ही संतोष करना चाहिये।[2]

---

1. "Truth must exhibit the mark of internal harmony, or again, the mark of expansion and all inclusiveness. And these two characteristics are diverse aspects of a single principle. That which contradicts itself in the first place, jars, because the whole, immanent within it drives its parts into collision. And the way to find harmony, as we have seen, is to redistribute these discrepancies in a wider arrangement. But in the second place, harmony is incompatible with restriction and finitude."

—Appearance and Reality, pp.. 321–22.

2. "The two aspects of extension and harmony, are thus in principle one, though ( ) for our practice they in some degree fall apart. And we must be content, for the present, to use them independently." --Ibid., Page 322.

पुन: अपने विचारों को इस प्रश्न पर एक अन्य कोण से विकसित करते हुये वे कहते हैं : न्यूनाधिक मात्रा में सत्य एवं वास्तविक होने का अर्थ है किसी छोटे अथवा बड़े अंतराल के द्वारा सर्वसमष्टि अथवा स्वयं सिद्धि की अवस्था से पृथक् होना। उदाहरणार्थ ब्रैडले कहते हैं : दो प्रस्तुत आभासों में एक जो अधिक विस्तृत अथवा समन्वयशील है, वह अधिक वास्तविक है[1] ।"

इन आभासों की अपूर्णताओं की समाप्ति एवं परिपूर्ण सत् में उनके रूपांतरण एवं अवस्थिति हेतु परिवर्तन अपेक्षित है। जिस अनुपात में इन आभासों में कम अथवा अधिक परिवर्तन की अपेक्षा होगी उस अनुपात में ही वह आभासों की श्रेणी में उच्च होगा। इसीको दूसरे प्रकार से प्रस्तुत करते हुये कहा जा सकता है कि सत्य में सत् की मात्रा इस बात पर निर्भर करती है कि उसमें परिवर्तन के बाद कितना अपना अंश शेष रह जाता है या जो कुछ भी अपरिवर्तित रह जाता है, वही उसमें पूर्ण सत् है। अपने आशय को पुन: स्पष्ट करते हुये ब्रैडले कहते है कि सत्य की मात्राओं से हमारा तात्पर्य यही है कि जो सत्य, अथवा तथ्य परम सत् में रूपान्तरित होने के लिए पुनर्व्यवस्था एवं वृद्धि की जितनी कम अपेक्षा रखता है, वह उतना ही अधिक वास्तविक और सत्य है।

असत्य आभास की सत्य में परिणति :

पूर्व कथनों के अतिरिक्त ब्रैडले के अनुसार यह भी सम्भव है कि पूर्णता एवं पुनर्व्यवस्था द्वारा असत्य आभास भी सत्य में रूपान्तरित हो जाय तभी उन्होंने पूर्ण मूल और पूर्ण त्रुटि के प्रत्यय का भी खण्डन किया है। व्यावहारिक दृष्टि से ये प्रत्यय महत्वपूर्ण हो सकते हैं परन्तु तात्विक दृष्टि से इनका कोई महत्व नहीं है। पूर्ण त्रुटि अथवा किसी ऐसे तथ्य की, जिसमें सम्पूर्ण सत् में परिवर्तित होकर समाहित होने की सामर्थ्य हो, कल्पना नहीं की जा सकती। ऐसा कोई भी तथ्य नहीं जिसमें परम सत् में रूपान्तरित होने की क्षमता ही न हो। उसमें कम से कम न्यूनतम सत् अवश्य ही होगा, जो विकसित होकर परिपूर्ण सत् में परिणत हो सके। इस सम्बन्ध में ब्रैडले कहते हैं। "कोई त्रुटि केवल उसी अर्थ में पूर्ण हो सकती है, जबकि सत्य

1- "Of two given appearanccs the one more wide, or more harmonious it more real —Ibid., PP. 322-23.

रूप में परिणत होने पर उसका विशेष रूप पूर्णतः विलुप्त हो जाय और उसकी वास्तविक सत्ता नष्ट हो जाय।"[1]

परन्तु यह कथन सत्य के निम्नतर प्रकारों पर भी लागू होना चाहिए क्योंकि तत्वमीमांसीय दृष्टि से सत्य और असत्य के बीच कोई निश्चित भेद-भाव नहीं हो सकता। सभी आभासों के बारे में यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि आन्तरिक सत् में उनकी परिणति स्वीकार कर लेने पर उनमें शेष क्या रह जायगा? ब्रैडले का उत्तर है कि प्रत्येक अवस्था में अवशेष की मात्रा से ही सत्य की मात्रा और सत् का निर्धारण होता है।

मात्राओं के आधार पर आभासों का क्रम निर्देशन :

मात्राओं के आधार पर जगत के सभी आभासों को एक श्रेणी के तारतम्य में क्रमबद्ध किया जा सकता है। यद्यपि ब्रैडले के अनुसार यह कार्य साधारण नहीं तथापि तत्व शास्त्र को आभासों में मात्राओं के आधार पर क्रम निर्देशन करना चाहिये। अतः ब्रैडले ने क्रम निर्देशन हेतु कुछ सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है, जो निम्नलिखित है :

(१) जो आभास अनुभव का क्षेत्र अधिक घेरते हैं, वे अधिक सत्य है।

(२) जो आभास दूसरे आभासों से अपेक्षाकृत अधिक स्थायी है अथवा उनमें अधिक काल तक परिवर्तन नहीं होता या कम परिवर्तन होता है, वे अधिक सत्य हैं।

(३) दो वस्तुओं अथवा आभासों में वह आभास अपेक्षाकृत अधिक सत्य है, जिसमें सामंजस्य अधिक है?

निष्कर्ष :

इस प्रकार यह कहना अनुचित नहीं होगा कि ब्रैडले का परम सत् मात्राओं के प्रत्यय से प्रभावित नहीं है। निश्चय ही मात्रा का यह सिद्धांत

---

1. "An error can be total only in this sense that when it is turned into truth, its particular nature will have vanished, and its actual self be destroyed." —Ibid., p. 823.

आभासों से ही सम्बन्धित है। मात्राएं चाहें सत्य में हों अथवा असत्य में उनका सम्बन्ध आभास से ही है। सत् एक सम्पूर्ण सर्वग्राही सत्ता है जिसमें सभी अनुभूतियां तथा आभास विकसित एवं रूपान्तरित होकर अवस्थित रहते हैं। ऐसे सम्पूर्ण सत् में मात्राएं नहीं हैं। मात्राओं का प्रश्न आभासों के ही सम्बन्ध में सार्थक होगा। प्रत्येक सत्य अथवा आभास में यह सामर्थ्य है कि वह वृद्धि एवं परिवर्तन द्वारा सत् से एकीकृत हो सके। परन्तु ऐसा करने पर उन्हें अपने वर्तमान स्वरूप का समर्पण करना होगा, उसे सम्पूर्ण सत् में समाहित होने के लिये अपनी विशिष्टताओं को किस मात्रा में खोना होगा यह तथ्य ही इस बात का प्रमाण है कि किसी आभास में सत् की कितनी मात्रा है तथा वह किस अंश तक यथार्थ है।

संक्षेप में ब्रैडले के सिद्धान्त पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करने पर विदित होता है कि एक सत्य और एक सत्, पुनः सत्य की मात्राएं और सत्- ये दोनों ही कल्पनायें उनके सिद्धान्त में विशेष सार्थकता के साथ उपस्थित है और उनका प्रतिपादन उन्होंने अत्यन्त सशक्त ढंग से किया है तथा यह स्थापित कर दिया है कि "सत्य के लक्ष्य की पूर्ण प्राप्ति उस सत् में होती है, जो बुद्धि को आत्मसात करके उनका अतिक्रमण करता है।"[1]
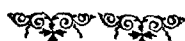
1. "The complete attainment of truth's end is reached only in that reality, which includes and transcends intelligence"
—Essays on Truth and Reality, P. 331:

६ शिवत्व[1]

नैतिकता अथवा धर्म के अन्तिम सत्य के रूप में स्वीकार करने के सम्बन्ध में जो सामान्य पूर्वाग्रह है, मुख्यत: उसी से प्रेरित होकर और उसी का विरोध करने के आशय से ब्रैडले ने शिवत्व की कल्पना पर यहां विचार किया है। सामान्यत: शिवत्व की कल्पना नैतिकता अथवा धर्म में केन्द्रीय समझी जाती है। पर ब्रैडले के अनुसार परम तत्व सब प्रकार से संगतिपूर्ण और सत् है, अतएव उसे शिवत्व की संज्ञा नहीं दी जा सकती है। वे इसी सदर्भ में शिवत्व की सापेक्षता का उल्लेख करते हैं। उनके अनुसार अशिवत्व और शिवत्व भ्रांतियां नहीं हैं क्योंकि उनकी तथ्यता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इसीलिए उन्हें आभास कहा गया है। वे जीवन के एकांगी पक्ष है, जिनमें से प्रत्येक पूरक तत्व की मध्यस्थता से अपने से व्यापक एक परिपूर्ण इकाई में अतिक्रान्त और रूपान्तरित होता है।[२]

शिवत्व का विश्लेषण करते हुए ब्रैडले कई ऐसे अर्थों को प्रस्तुत करते हैं, जिन्हें शिव के ही रूप में प्रस्तुत किया जाता है यथा—इच्छा-सतुष्टि या सुख-प्रत्यय, आत्म-साक्षात्कार, नैतिकता, धर्म और ईश्वर। इन रूपों में शिवत्व की सामान्यत: कल्पना की जाती है। ब्रैडले ने इनका विश्लेषण करते हुए यह स्पष्ट किया है कि इन सभी रूपों में वह आंतरिक विसंगतियों से युक्त है। अत: इन्हें इस रूप में अंतिमता नहीं प्रदान की जा सकती है। इस कारण अन्तिम सत् केवल परम तत्व है और ये सब मात्र उसके आभास हैं। अत: निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि शिवत्व की ये विभिन्न अभिव्यंजनायें उपरोक्त अर्थ में आभास है, सत् नहीं। पुन: ब्रैडले यह भी कहते हैं कि पूर्णत्व में जो सत् का ही पर्याय है, विभिन्न अनुपात में ये शुभ की सभी अभिव्यंजनायें

---

1. Goodness.
2. "Evil and good are not illusions, but they are most certainly appearances; they are out-sided aspects; each overruled and transmuted in the whole."

—A. & R., P. 355.

अनिवार्यत: सम्मिलित हैं।[1] पुन: इस कथन के औचित्य को प्रस्तुत करते हुए ब्रैडले कहते हैं–ऐसा इसलिए कि एक अन्तर्व्यापी पूर्णत्व की सक्रियता से ही इनका निर्माण होता है और वही इन भेदों का औचित्य भी प्रस्तुत करता है।

शिवत्व के विभिन्न अर्थ :

सामान्यत: शिवत्व को हम एक ऐसा तत्व मान सकते हैं, जो हमारी इच्छा को पूर्ण करे यानी वह जिसका हम अनुमोदन करते हैं, और जिसमें हमें संतोष की प्रतीति होती है। इसे एक और प्रकार से प्रस्तुत करते हुए हम यह कह सकते हैं कि वह हमारे समक्ष 'मूल्य' के रूप में आता है। ब्रैडले शिवत्व के स्वरूप की चर्चा करते हुए कहते हैं कि उसके अन्तर्गत वस्तुत: वे ही तत्व मौजूद हैं जो सत्य में विद्यमान रहते हैं। दोनों में ही 'प्रत्यय' तथा 'अस्तित्व' के बीच एक प्रकार की अनुरूपता या भिन्न प्रकार से प्रस्तुत करते हुए कह सकते हैं कि एक तादात्म्यता रहती है पर दोनों के प्रारम्भ बिन्दु एक दूसरे के विपरीत हैं। सत्य में हम 'अस्तित्व' से प्रारम्भ करते हुए प्रत्ययों के माध्यम से उस संपूर्णता को व्यंजित करते हैं जिसका वह प्रतिनिधित्व करता है और शुभ में ठीक इसके विपरीत हम एक 'प्रत्यय' से प्रारम्भ करते हैं जो पूर्णता का प्रतिनिधित्व करता है और उस पूर्णत्व को हम किसी अस्तित्व में निर्मित करते हैं अथवा उसमें ढूंढ़ निकालते हैं। पुन: पूर्णत्व का प्रतिनिधित्व करने वाले इस प्रत्यय को हम वांछित भी मानते हैं। शिवत्व सम्बन्धी इस निष्कर्ष को प्रस्तुत करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि एक विचार रूप में इच्छित अन्तर्विषय का अस्तित्व में मूर्त होना ही शिवत्व है और इस प्रकार वह किसी मनोनीत प्रत्यय के आधार पर किसी तथ्य को मापने की कल्पना को अपने में निहित रखता है। वे कहते हैं कि शिवत्व एवं सत्य दोनों में ही प्रत्यय एवं अस्तित्व दोनों तत्वों के बीच एक अपूरित अंतर है और इस अंतर को पूरित करने का सम्बन्ध

1. "The Absolute is perfact in all its detail, it is equally true and good throughout. But, upon the other side, each distinction of better and more true, every degree and each comparative stage of *reality* is essential, they are made and justified by all-pervasive action of one immanent perfection.
A. & R., P. 355.

'प्रक्रिया' से है जो काल की मध्यस्थता से सम्पन्न होती हैं। अतएव दोनों ही आभास है और सत् की एकांगी अभिव्यंजनायें हैं।[1]

पर उपरोक्त प्रस्तुति के विरुद्ध आपत्ति लायी जा सकती हैं, कि क्या शिवत्व के लिये प्रत्यय का होना अनिवार्य है ? क्या वह सुखात्मक अनुभूति, जिसमें हम संतोष का अनुभव करते हैं, अपने में शिव नहीं ? अन्य शब्दों में क्या प्रत्यय के बिना कोरी भावना को—यानी सुख की अनुभूति को शिव कहा जा सकता है ? ब्रैडले का उत्तर निषेधात्मक है। उसका कहना है कि शिवत्व में अनिवार्यता इच्छा की तृप्ति निहित है और 'इच्छा' में किसी प्रत्यय की शुभ रूप में स्वीकृति एवं अनुभूति आवश्यक है। अपने विचारों का स्पष्टीकरण करते हुए वे कहते हैं कि इसका कारण यह है कि जिस स्तर पर हम जीवन व्यतीत करते हैं वह मुख्यत: मानसिक हैं और उस स्तर पर हमें जो तृप्त और संतुष्ट करता है, उसका इच्छा के साथ कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य रहता है।

पुन: जहां इच्छा का अभाव है, यानी उस प्रत्यय का अभाव है, जो हमें तृप्ति प्रदान कर सकता है और जिसे हम शुभ रूप में स्वीकार करते हैं, तो उस अनुभूति को शिवत्व की संज्ञा नहीं दी जा सकती है, वह निश्चित ही शिवत्व से निम्नस्तर की अनुभूति है[2] ऐसी अनुभूति शिवत्व में रूपांतरित हो

1. "Goodness is the verification in existence of a desired ideal content, and it thus implies the measurement of fact by a suggested idea. Hence both goodness and truth conta. in the separation of idea and existence, and involve a process in time. And, therefore, each in appearance, and but a one-sided aspect of the real."
—Appearance and Reality, p.. 356.

2. "Such an experience would be, but it would not, properly have yet become either good are true...For at our level of mental life whatever satisfies and contents us can hardly fail to have some implication with desire. And, if we take it where as yet it suggests nothing. Where we have no idea, of what we feel, and where we do not realize, however dimly, that it is this which .is good"--then it is no paradox to refuse to such a stage the name of goodness"
—Ibid., p. 357.

सकती है—यदि उसे उपरोक्त रूप में हम एक क्षण भर को ही लें, क्योंकि तब उस वस्तु का, जो हमें संतुष्ट करेगी एक सुनिश्चित प्रत्यय हमारे भीतर होगा और उस प्रत्यय को जीवन में भी हम साकार पायेंगे। पर जहाँ प्रत्यय का अभाव है, उसे हम किसी भी प्रकार सत्य या शिव की संज्ञा नहीं दे सकते। निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि शिवत्व की दृष्टि से इच्छा का तत्व उतना महत्वपूर्ण नहीं जितना प्रत्यय का।

पुन: अपने विचारों को इस प्रश्न पर प्रस्तुत करते हुये वे कहते हैं कि शिवत्व के लिये प्रत्यय आवश्यक है, यह तो पर्याप्त स्पष्ट है, पर इच्छा उतनी ही आवश्यक है, इस बात पर संदेह किया जा सकता है। अनेक बार हम किसी सुखात्मक प्रत्यय को जीवन में मूर्तमान पाते है, और उसका अनुमोदन भी करते हैं,। पर उन स्थितियों में 'इच्छा' की अनिवार्य उपस्थिति हो, यह आवश्यक नहीं। इन स्थितियों में जीवन में आदर्शो की सहज अभिव्यंजना हो जाती है, हमें क्षण भर को भी संघर्ष और विरोध नहीं दिखायी देता, अत: ऐसी स्थितियों में इच्छा के आविर्भाव का प्रश्न ही नहीं उठता।

अनेक लोग इच्छा विषयक इस कथन को विवादास्पद मान सकते हैं, पर ब्रैडले कहते हैं उन्हें इसे अस्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है। पुन: वे कहते हैं इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि इन दोनों का, यानी शिव और इच्छा का सम्बन्ध सांयोगिक है। पर वे कहते हैं कि अन्तत: क्योंकि इच्छा का विकास होना है, इसलिए एक अर्थ में वह अनिवार्य भी है। पुन: इच्छा के अभाव में अनुमोदन एक अत्यन्त ही तरल स्थिति है और क्योंकि आन्तरिक स्थिति में शीघ्र ही संघर्ष आरम्भ हो जाता है, इसलिए अनिवार्यत: इच्छा का भी आविर्भाव होना निश्चित है।

पर फिर भी इस बात पर बल देना चाहिए कि शिवत्व म इच्छा की तुलना में प्रत्यय की उपस्थिति महत्वपूर्ण है और इस कारण हमें यह नहीं मानना चाहिये कि मात्र सुखद अनुभूति या सुख देने वाली वस्तु निजी रूप में स्वयं शिव है। शिव सुखद और जितना ही वह उच्चतर कोटि का है, उतना ही अधिक सुखद होना चाहिये। और यह भी जोड़ा जा सकता है, कि सामान्यत: सुख शुभ है क्योंकि जो दुखद है उसे सहज ही इच्छित चाहिये। पर हमें इस कारण यह नहीं कहना चाहिए कि जो कुछ भी सुखद है उसमें हमें इच्छा की परितृप्ति मिलती है, या उसमें अनिवार्यत: वह तृप्ति या अनुमोदन मिलना चाहिये। क्योंकि जैसा कि पूर्व पृष्ठों में कहा जा चका

उठाया जा सकता है। इस प्रकार के प्रश्न करने की प्रवृत्ति वस्तुतः हमारे अपकर्षण की प्रवृत्ति का परिणाम है जो आन्तरिक रूप से सम्बद्ध तत्वों को पृथक्-पृथक् कर लेती है और फिर उनकी परस्पर सम्बद्धता के विषय में प्रश्न उठाती है। शुभ तथा इच्छा की संतुष्टि इसी प्रकार आन्तरिक रूप से सम्बद्ध तथ्य है जो एक दूसरे से पूर्णतः पृथक् नहीं किये जा सकते। शुभ के अस्तित्व में किसी न किसी रूप में इच्छा का और अन्ततः संतुष्टि का तत्व विद्यमान रहता है और उसे इस तत्व से विमुक्त करके प्रस्तुत करना अनुचित है। पर सत्य है कि एक निम्न स्तर पर कुछ समय के लिए सुख इच्छित न हो पर तब उसे न हम इच्छित ही कह सकते हैं और न ही अनुमोदित। पर यह कहना कि सुख ही शिवत्व का एकाकी रूप है या उसकी ही उत्पत्ति है—एक भिन्न बात है और उसका समर्थन संभव नहीं है। इसी प्रसंग में सुखवाद की चर्चा करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि शुभ की व्याख्या में सुखवाद इच्छा के अनिवार्य अस्तित्व को स्वीकार करता है पर साथ ही वह यह कहता है कि हम सुख के अतिरिक्त और किसी की कामना ही नहीं कर सकते।

पर यदि हम इस प्रश्न पर विचार करें तो स्पष्ट हो जायेगा कि अन्य तथ्यों की भांति सुख केवल घटित होने वाली एक घटना नहीं है। उसका अपना एक कारण होता है और यदि इस दृष्टि से देखें तो सुख सदैव पूर्णत्व के साथ सह अस्तित्ववान रहता है। और पूर्णत्व के साथ उसकी सम्बद्धता वाह्य न होकर आंतरिक है। सुख, अन्य शब्दों में, पूर्णत्व की अपेक्षा करता है। उससे ही उसके आंतरिक स्वरूप का निर्माण होता है और इसलिए इस दृष्टि से एक सापेक्ष पूर्णत्व उसके सार में निहित है। यही नहीं, पूर्णत्व की दृष्टि से यदि इस प्रश्न पर विचार करें तो स्पष्ट है कि सुख उसमें अंतरंग रूप से सम्मिलित है। और इस प्रकार सिद्धांत के रूप में सुखवाद का खंडन स्वयंमेव हो जाता है। इच्छित वस्तु अनिवार्यतः सुख के अतिरिक्त अन्य तत्वों को भी अपने में सम्मिलित करती है और सुखवाद जब सुख को एकांतिक मूल्य या शुभ के रूप में प्रस्तुत करता है तो निश्चित ही वह तथ्यों के साथ न्याय नहीं करता।

इसके पश्चात् एक और विकल्प का परीक्षण करते हुए ब्रैडले उससे अपनी असहमति व्यक्त करते हैं। प्रायः हम देखते हैं कि लोगों में संकल्पतुष्टि को ही शिवत्व समझ लेने की प्रवृत्ति होती है और एक स्वीकृति के आधार पर यह निष्कर्ष ठीक भी हो सकता है। परन्तु ब्रैडले कहते हैं कि यह स्वीकृति

है, निम्नबौद्धिक या मानसिक स्तर पर अनुभूत सुख को शिव के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

पुन: यद्यपि ब्रैडले ने सुख को पूर्णत्व की कल्पना में एक अनिवार्य तत्व के रूप में माना है तथापि इसका यह अर्थ नहीं कि विश्व में सुख के अतिरिक्त और कुछ भी शिव नहीं है। जिस सिद्धान्त ने 'सुख' को एकान्तिक मूल्य के रूप में स्वीकार किया है, उसने जीवन के एक पक्ष विशेष को शेष पक्षों से पृथक् करके उसे मूल्यों के शीर्ष पर रखने की भूल की है। यदि उसने केवल यह कहा होता कि जो अधिक सुखात्मक है, वह अधिक मूल्यवान है, तब तो उसके कथन का दूसरा ही अर्थ होता। क्योंकि वह प्रत्यय है कि विसंगति के क्रमश: विलयन के साथ सुखात्मकता में वृद्धि होती है और जो विसंगति से सर्वथा मुक्त है, उसे एक अर्थ में सुखात्मक होना ही चाहिए पर इस कथन का यह आशय कदापि नहीं कि 'सुख' ही जीवन का एकमात्र मूल्य है और सुख के अतिरिक्त और कुछ मूल्यवान नहीं है।[1] जहाँ पर सभी तत्वों के अन्तत: समन्वित होने की बात जाती है, वहाँ कोई भी एक तत्व अपने में संपूर्ण मूल्य को प्रस्तुत करने में असमर्थ है और जो सिद्धान्त इस प्रकार पक्षों को पृथक् करके एकांतिक मूल्य की बात करता है वह निश्चित ही तथ्यों के साथ न्याय नहीं करता।

पुन: ब्रैडले कहते हैं : क्या किसी वस्तु की इसलिए इच्छा की जाती है कि वह सुखात्मक है या यह कि चूँकि उसकी इच्छा की जाती है, इसलिए वह सुखात्मक है ? इसी प्रकार का प्रश्न शिवत्व के संदर्भ में इच्छा के लिए किया जा सकता है और भिन्न संदर्भ में सत्य तथा सुन्दर के सन्दर्भ में भी

---

1. *If it merly asserted that* the more pleasant and the *better* were one, its position would be altered. For since pleasure goes with every thing that is free from discord, or has merged discord in fuller harmony naturally the higher degree of individuality will be therefore more pleasent. And we have included pleasure as an essential element in our idea of perfection (Cl. 22). But it will hardly follow from this that nothing in the universe except pleasure is good, and that, taking this, one aspect as the end, we may regard all else as mere means."

—Ibid., p. 358.

उठाया जा सकता है । इस प्रकार के प्रश्न करने की प्रवृत्ति वस्तुतः हमारे अपकर्षण की प्रवृत्ति का परिणाम हैं जो आन्तरिक रूप से सम्बद्ध तत्वों को पृथक्-पृथक् कर लेती है और फिर उनकी परस्पर सम्बद्धता के विषय में प्रश्न उठाती है। शुभ तथा इच्छा की संतुष्टि इसी प्रकार आन्तरिक रूप से सम्बद्ध तथ्य है जो एक दूसरे से पूर्णतः पृथक् नहीं किये जा सकते। शुभ के अस्तित्व में किसी न किसी रूप में इच्छा का और अन्ततः संतुष्टि का तत्व विद्यमान रहता है और उसे इस तत्व से विमुक्त करके प्रस्तुत करना अनुचित है। पर सत्य है कि एक निम्न स्तर पर कुछ समय के लिए सुख इच्छित न हो पर तब उसे न हम इच्छित ही कह सकते हैं और न ही अनुमोदित । पर यह कहना कि सुख ही शिवत्व का एकाकी रूप है या उसकी ही उत्पत्ति है—एक भिन्न बात है और उसका समर्थन संभव नहीं है। इसी प्रसंग में सुखवाद की चर्चा करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि शुभ की व्याख्या में सुखवाद इच्छा के अनिवार्य अस्तित्व को स्वीकार करता है पर साथ ही वह यह कहता है कि हम सुख के अतिरिक्त और किसी की कामना ही नहीं कर सकते।

पर यदि हम इस प्रश्न पर विचार करें तो स्पष्ट हो जायेगा कि अन्य तथ्यों की भांति सुख केवल घटित होने वाली एक घटना नहीं है। उसका अपना एक कारण होता है और यदि इस दृष्टि से देखें तो सुख सदैव पूर्णत्व के साथ सह अस्तित्ववान रहता है। और पूर्णत्व के साथ उसकी सम्बद्धता वाह्य न होकर आंतरिक है। सुख, अन्य शब्दों में, पूर्णत्व की अपेक्षा करता है। उससे ही उसके आंतरिक स्वरूप का निर्माण होता है और इसलिए इस दृष्टि से एक सापेक्ष पूर्णत्व उसके सार में निहित है। यही नहीं, पूर्णत्व की दृष्टि से यदि इस प्रश्न पर विचार करें तो स्पष्ट है कि सुख उसमें अंतरंग रूप से सम्मिलित है। और इस प्रकार सिद्धांत के रूप में सुखवाद का खंडन स्वयंमेव हो जाता है। इच्छित वस्तु अनिवार्यतः सुख के अतिरिक्त अन्य तत्वों को भी अपने में सम्मिलित करती है और सुखवाद जब सुख को एकांतिक मूल्य या शुभ के रूप में प्रस्तुत करता है तो निश्चित ही वह तथ्यों के साथ न्याय नहीं करता।

इसके पश्चात् एक और विकल्प का परीक्षण करते हुए ब्रैडले उससे अपनी असहमति व्यक्त करते हैं। प्रायः हम देखते हैं कि लोगों में संकल्पतुष्टि को ही शिवत्व समझ लेने की प्रवृत्ति होती है और एक स्वीकृति के आधार पर यह निष्कर्ष ठीक भी हो सकता है। परन्तु ब्रैडले कहते हैं कि यह स्वीकृति

अन्ततः स्वीकार्य नहीं है और न ही इस कारण उससे सम्बन्द्ध निष्कर्ष ही सही हो सकता है क्योंकि हमने इस बात को देखा है कि इच्छा पूर्ति हमें सहज प्राप्त हो सकती है और उसे हम अपने प्रयास से भी प्राप्त करते हैं। जहाँ पर अनुभूत तथ्य सुखात्मक है और इच्छा के अनुकूल है--यानी उसे तृप्त करने वाला है, ब्रैडले कहते हैं, हम उसे शिव रूप में स्वीकार करने से कैसे इंकार कर सकते हैं ? और न ही सुख को हम केवल एक तृप्त संकल्प की अनुभूति तक ही सीमित रख सकते हैं क्योंकि संकल्प के अभाव में भी हमें वह अनुभूत होती है। इसी निष्कर्ष को एक अन्य दृष्टिकोण से प्रस्तुत करते हुए हम कह सकते हैं कि शुभ वह है जो अनुमोदित है और अनुमोदन को यहाँ पर एक व्यापक अर्थ में हम ले रहे हैं और अनुमोदन के इस रूप में नैतिक अनुमोदन भी सम्मिलित है[1]। इसी संदर्भ में ब्रैडले एक भ्रांति का निराकरण करते हैं--पुनः कुछ लोगों का कहना है कि शिवत्व वांछनीय है। परन्तु ब्रैडले इस विचार से भी सहमत नहीं है। क्योंकि वांछनीय का अभिप्राय उस वस्तु से है जिसकी इच्छा की जानी चाहिये। यथा नैतिकता में। पर बहुत से तथ्य ऐसे भी हो सकते हैं जो शिव हो, परन्तु वांछनीय न हो। यानी यह कि शुभ शुभ हो सकता है और हम उसकी इच्छा न करें या यह कि जिसकी हम इच्छा करते है या कर सकते हैं वह शुभ न हो। और यदि शिव को सामान्य अर्थ में लें तो यह कथन विवादास्पद हो सकता है। यदि इस अर्थ का अध्ययन किया जाय तो प्रतीत होता है कि हम 'वांछनीय' शब्द का प्रयोग इच्छाओं के संदर्भ में ही करते हैं। कुछ इच्छाओं को अन्य की अपेक्षा उचित मानते हैं इसलिये उन्हें 'शुभ' कहते हैं और जहाँ पर इस प्रकार की तुलना सम्भव नहीं या की नहीं जाती वहाँ 'वांछनीय' शब्द का प्रयोग भी उचित नहीं है। पर निरपेक्ष युग के लिये वांछनीय का प्रयोग एक भिन्न अर्थ में हो सकता है--वह जिसकी इच्छा हमें करना ही है। इच्छा जैसा कि पिछले संदर्भ में वे कह चुके है, शिवत्व के साथ अन्तरंग रूप से सम्बद्ध है और यह भी कि वह उसका अनिवार्य परिणाम भी है। अतएव हम यह कह सकते हैं कि इस अर्थ में शिवत्व के लिये यह आवश्यक है कि उसे अनिवार्यतः वांछनीय

1. "To approve is to have an idea in which we feel satisfaction and to have or imagine the presence of this idea in existence. Nor is approbation in the least confined to the realties of morality proper, but is found just as much in the worlds of ..or not."
—Ibid., p. 367.

होनी ही चाहिये। शिवत्व इच्छा से रहित होकर शिवत्व नहीं रह सकता। कहने का तात्पर्य यह है कि वांछनीय शब्द के प्रचलित प्रयोग से ऐसा प्रतीत होता है कि शिवत्व को इच्छा से पृथक् किया जा सकता है। किन्तु वस्तुतः तथ्य यह है कि इच्छा से पृथक् कृत्व रूप में शिवत्व का कोई अस्तित्व ही नहीं होगा।

शिवत्व का स्वयं विरोधी स्वरूप :

शिवत्व के अर्थ को नियत करने के इन विविध प्रयासों के परीक्षण के पश्चात् ब्रैडले यह स्पष्ट करने की चेष्टा करते हैं कि शिवत्व अपने स्वयं विरोधी स्वरूप के कारण पूर्ण नहीं है। ब्रैडले कहते हैं : 'शिव पूर्ण नहीं है, अपितु पूर्णता का केवल एकाकी पक्ष है। उससे स्वातिक्रमण की प्रवृत्ति है और यदि वह पूर्ण हो जाय तो फिर वह शिव नहीं रह सकेगा।'[1] पुनः ब्रैडले कहते हैं कि यदि हम यह जानना चाहें कि शिवत्व क्या है, तो वह कभी एक स्वतन्त्र इकाई के रूप में ही प्राप्त होगा जो अपनी शुभता के अतिरिक्त भी कुछ है। इस दृष्टि से सौन्दर्य, सुख, सत्य और संवेदना में सब वस्तुएं शिव हैं। हम इनमें से सभी को चाहते हैं और सभी ऐसे मानदण्डों के रूप में प्रयुक्त किये जा सकते हैं, जिनसे हमारा अनुमोदन व्यक्त हो सके। और इसलिये एक अर्थ में वे सब शिव के अन्तर्गत आयेंगे और उनमें उसका समावेश होगा। परन्तु दूसरी ओर जब हम यह प्रश्न करते हैं कि क्या शिवत्व उन सभी को बिना किसी अवशेष के प्रस्तुत करता है, इन क्षेत्रों में होता है तो उत्तर अवश्य भिन्न होगा। क्योंकि हमको तुरन्त यह प्रतीत होगा कि इनमें से प्रत्येक का अपना-अपना स्वभाव है और शिव होने के लिये विश्व के अन्य पक्षों का भी अपना-अपना स्वभाव होना चाहिये। उस अवस्था में शिव निज रूप में स्पष्टतः इतना विस्तृत नहीं हो सकता कि वह इन सभी पक्षों को इनकी विशिष्टताओं के साथ अपने में समाहित कर सके। और यदि हम शिवत्व के सारांश की परीक्षा करें तो विवश होकर पुनः इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि यह संभव

1. "The good is not the perfect, but is merely a one sided aspect of perfection: It tends to pass beyond itself, and if it were completed it would forthwith cease properly to be good." —Ibid., p. 362.

नहीं है। शिवत्व आंतरिक रूप से असंगत है इसलिए यह आभास है, सत् नहीं। ब्रैडले के अनुसार 'शिव' में अस्तित्व से प्रत्यय के विभाजन का भाव निहित है और विभाजन भी, एक ऐसा जो कालान्तर में निरन्तर दूर होता और पुन: बनता रहता है।[1]

इस प्रकार शिव स्वयं असंगत है क्योंकि एक परितृप्त इच्छा अपने निज के रूप के साथ ही असंगत है, क्योंकि जहाँ तक वह पूर्ण परितृप्त हो चुकी है, वहाँ तक वह एक इच्छा नहीं है, और जहाँ तक वह एक इच्छा है, वहाँ तक कम से कम अंशत: वह अतृप्त रहेगी। इसके अतिरिक्त जहाँ हम पूर्णत: परितृप्त हैं, किसी चीज का अभाव नहीं है, जहाँ अनुमोदन सहज है और इच्छा का उद्‌भव नहीं हुआ है, वहां स्थिति किंचित् अपरिवर्तनीय बनी रहती है और यह परिवर्तन से संघर्ष आमंत्रित करती है। यानी ऐसी स्थिति अधिक समय तक स्थायी नहीं रह सकती। पर इस सबके बावजूद इसमें एक ऐसे प्रत्यय का संकेत भी निहित है जो तथ्य से पृथक् होता हुआ भी उसके साथ एक रूप है। इनमें से प्रत्येक विशेषता आवश्यक है और प्रत्येक की दूसरे के साथ संगति नहीं बैठती और प्रत्यय तथा अस्तित्व के बीच भेद की समाप्ति, शिव के लिये अपेक्षित होते हुए भी उसके अपने स्तर पर अप्राप्त रह जाती है वस्तुत: उसकी प्राप्ति शिवत्व के शुद्ध सारांश को ही, नष्ट कर देगी। इसलिए शिव स्वत: अपूर्ण और स्वातिक्रमणीय होता है। वह एक दूसरे और एक ऐसे उच्चतर स्वभाव की ओर गतिशील रहता है जिसमें वह पूर्ण होकर अपने व्यष्टित्व का समर्पण करता है।[2]

अत: स्पष्ट है कि शिव पूर्ण नहीं है और पूर्ण शिव नहीं है। और इस

---

1. "The good implies a distinction of idea from existence and a division which, in the lapse of time is perpetually healed up and re-made." —Ibid., p. 363.
2. "And the resolution of this difference between idea and existence is both demanded by the good, and yet remains unattainable. Its accomplishment, indeed, would destroy the proper essence of goodness, and the good is therefore in itself incomplete and selftranscendent. It moves towards an other and a higher character in which, becoming perfact, it would be merged." --Ibid., p. 363.

दृष्टि से परम सत् के संदर्भ में कुछ भी एकांतिक रूप से न अशुभ है और न शुभ, न कोई एक दूसरे से अच्छा है और न बुरा ही क्योंकि परम सत् इन आभासों के साथ एकीकृत नहीं हो सकता। पुनः वे कहते हैं, इस प्रकार के कथन स्वयं एकांतिक है क्योंकि यह भी सच है कि परम तत्व अपने आपको विभिन्न नाम-रूपों में प्रकट करता है किन्तु इनमें से कोई भी एक वह स्वयं नहीं होता। यद्यपि वह इन सबका समष्टि रूप है, जिनमें इन सबके व्यष्टित्व का समर्पण होता है तथापि एकपक्षीय अभिव्यंजना के रूप में ये सब उसके आभास हैं। इसलिए एक अर्थ में परम तत्व शिव होते हुए भी, क्योंकि अन्ततः वह शिव को अपने में आत्मसात् करता है, अपने को सर्वत्र शिवत्व और अशिवत्व की विभिन्न मात्राओं में अभिव्यजित करता है। जहाँ शिवत्व (अपने भावी रूप में) समाविष्ट हो जायेगा वहीं परिपूर्णता होगी और इस परिपूर्णता में प्रत्यय एवं अस्तित्व नष्ट न होकर समन्वित हो जायेंगे। अन्ततः ब्रैडले के शब्दों में शिवत्व के लिए इतना ही करना पर्याप्त होगा कि 'एक अर्थ में परम तत्व वस्तुतः शिव है और शिवत्व के जगत में सर्वत्र उसका अनुभव तृप्ति की विभिन्न मात्राओं में किया जा सकता है। यही नहीं क्योंकि अन्तिम सत् में समस्त अस्तित्व, समस्त विचार तथा अनुभूति एकीभूत हो जाते हैं। इसलिए हम यह भी कह सकते हैं कि विश्व की प्रत्येक विशेषता इस प्रकार आत्यंतिक रूप में शिव है।[1]

शिव के सामान्य अर्थ को संक्षेप में निश्चित कर देने के बाद अब ब्रैडले शिवत्व के अपेक्षाकृत एक अधिक विशिष्ट तथा संकीर्ण अर्थ पर विचार करते हैं। ब्रैडले कहते हैं कि शिवत्व के अस्तित्व और प्रत्यय दो पक्ष हैं। अभी तक अस्तित्व को हमने प्रत्यय के अनुकूल पाया, परन्तु प्रत्यय स्वयं अभी तक अपने आपको अनिवार्यतः तथ्य में उत्पन्न अथवा अनुभूति नहीं कर पाया है। परन्तु जब हम शिवत्व को उसके संकीर्ण अर्थ में ग्रहण करते हैं, तो यह अन्तिम विशेषता अनिवार्य हो जाती है। संक्षेप में इस दृष्टि से शिव, सिद्ध

1. "In a sense, therefore, the absolute is actually good, and throughtout the world of goodness it is truely realized in different degrees of satisfaction. Such in ultimate reality all existence, and all thought and feeling, become one, we may even say that every feature in the universe is thus absolutely good."
—Ibid., Page 315.

लक्ष्य अथवा पूरित संकल्प हो जायेगा। अपने इस रूप में वह एक ऐसा प्रत्यय है जिसके अन्तर्विषय[2] की न केवल एक सुसंगत अभिव्यंजना तथ्य में भी है, अपितु उसी ने इस सुसंगति का निर्माण भी किया है। इसी को हम यूं भी कह सकते हैं कि यहां पर प्रत्यय ने अपने को सत् में रूपान्तरित कर दिया है, क्योंकि दोनों पक्षों में अन्तर्विषय की एकरूपता है, और अस्तित्व ने वह रूप ग्रहण कर लिया है जिसे कि प्रत्यय ने अपने प्रभाव से उत्पन्न किया है। इस प्रकार इस दृष्टि से शिवत्व किसी स्वीकृत लक्ष्य तक या इससे भी भिन्न प्रकार से प्रस्तुत करते हुए कहा जा सकता है कि आत्मसाक्षात्कार तक ही सीमित रह जायगा। दूसरे शब्दों में वह सामान्यत: जिसको हम नैतिक क्षेत्र कहते हैं उसी तक सीमित रहेगा। अब प्रश्न यह है कि यदि आत्माओं के माध्यम से ही आत्म-साक्षात्कार संभव है, उसके अतिरिक्त और किसी भी प्रकार का आत्म-साक्षात्कार संभव नहीं है। तो उस प्रत्यय की किसी सीमित आत्मा के द्वारा प्राप्ति ही शिवत्व है। वह केवल एक अमूर्त पूर्णत्व नहीं हैं अपितु किसी संकल्प द्वारा प्राप्त पूर्णता है। ब्रैडले कहते हैं कि हमें वर्तमान संदर्भ में यह भूल जाना चाहिये कि अनुमोदित नैतिकता का अतिक्रमण करता है और यह भी कि नैतिकता अन्तर्मुखी है। वस्तुत: हमें यहां केवल एक बात पर विचार करना है कि शिवत्व व्यक्ति के निजी संकल्प के द्वारा उसकी अपनी पूर्णता विषयक प्रत्यय की सिद्धि है। और हमें संक्षेप में अब यहां पर दिखाना होगा कि इस अर्थ में भी शिव किस प्रकार असंगतिपूर्ण है। ब्रैडले ने इस अर्थ में शिवत्व को एक आत्मा द्वारा उसकी अपनी पूर्णता का संकल्पित सत् माना है।

यदि शुभ के विषय में हम एक बार फिर यह जानने के लिये प्रश्न करें कि शिवत्व का अपना विशिष्ट अन्तर्विषय क्या है तो प्रत्युत्तर में हमें यह कहना पड़ेगा कि उसमें वस्तुत: कुछ भी विशिष्ट नहीं है। एक ओर वह सुख नहीं ही है और इस बात को पूर्व पृष्ठों में सिद्ध किया जा चुका है, दूसरी ओर शिवत्व से वाह्य कुछ भी नहीं है। अपने में वह सौन्दर्य, सत्य, अनुभूति और संवेदना सभी को समाविष्ट करता है, क्योंकि पूर्णत्व में सभी कुछ सम्मिलित है। पूर्णत्व अंतत: एक तंत्र है, जिसमें सभी कुछ समाविष्ट है। वह सर्वव्यापी है और अब हम शिवत्व को किसी एक व्यक्ति के निजी संकल्प के माध्यम से समर्थित तथा प्राप्त उसकी अपनी पूर्णता के रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं। अत: इस दृष्टि से न तो स्वयं तंत्र का कोई स्वरूप और न संपूर्ण से पृथक् कोई एक भौतिक तत्व ही परिपूर्ण अथवा शिव हो सकता है। दूसरे

शब्दों में यह कहा जा सकता है कि किसी व्यक्ति के द्वारा अपनी ही पूर्णता का साक्षात्कार शिवत्व है। जैसा कि सत्य के संदर्भ में हमें ज्ञात है कि पूर्णता का प्रतिमान समन्वय और प्रसार दोनों में ही निहित है। और यह भी कि ये दोनों विशेषताएं परस्पर असंगतिपूर्ण हैं। पर तथ्यों के मूल्यांकन में हमें इन्हें पृथक्-पृथक् ही लेना होगा। अन्त में इन दोनों प्रतिमानों को जैसा कि अभी कहा जा चुका है, समन्वित होना होगा पर यह भी निश्चित है कि उस समन्वय में शिवत्व का भी विलय हो जायगा।

शिवत्व से सम्बन्धित तथ्यों का परीक्षण प्रस्तुत करते हुए वे आत्म-बलिदान के तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं। शिवत्व व्यक्ति की निजी पूर्णत्व की कल्पना का अपने संकल्प के माध्यम से साक्षात्कार है और उस पूर्णत्व में विस्तार और संगति दोनों ही सम्मिलित है। प्रारम्भ में इन दोनों में समन्वय सरल नहीं। अपने व्यक्तित्व के सभी प्राकृतिक तत्वों को उच्चतम तंत्र के रूप में प्रस्तुत करना और बाहर से प्राप्त सभी तत्वों को इसी तन्त्र में समन्वित कर लेना निश्चित ही नैतिकता सम्बन्धी एक दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है। पुन: अपने द्वारा प्रतिपादित इस लक्ष्य को विस्तारित करना, यानी उसे अपने वैशिष्ट्य के विलयन के माध्यम से अनुभूत करना, यह भी कुछ कम नैतिक नहीं है। दोनों ही नैतिकता के दो अविभाज्य एवं अनिवार्य पक्षों को प्रस्तुत करते हैं। जहाँ तक ये दोनों असंगत हैं इनमें से एक को स्वत्वद्योतक तथा दूसरे को आत्म-बलिदान कहा जा सकता है। पर ब्रैडले का कहना है कि इन दोनों में परस्प कितना ही विरोध क्यों न हो, परन्तु इनमें से प्रत्येक नैतिक दृष्टि से शिव है।

इस प्रकार ब्रैडले नैतिक शिवत्व के इन दोनों भिन्न तथा विरोधी पक्षों यथा नैतिक आत्म-बलिदान और नैतिक स्वत्वद्योतन[1] की चर्चा करते हुए कहते हैं कि सामान्यत: परोपकार के जीवन को आत्म-बलिदान कहते हैं। ब्रडले का कहना हैं कि यहाँ पर स्वत्वद्योतन एवं स्वार्थ के जीवन को स्वत्व-द्योतक के रूप में स्वीकार किया जाता है। ब्रैडले कहते हैं कि यहाँ पर दोनों लक्ष्यों स्वत्वद्योतन और आत्मत्याग के अन्तर को प्रस्तुत किया जा रहा है— तो इससे यह आशय कदापि नहीं है कि नैतिक जीवन के ये दो लक्ष्य एकांतिक है और इन दो विकल्पों में से हमें एक का अनिवार्यत: चुनाव करना है क्योंकि यदि ऐसा होता तो हमारे लिये जीवन व्यतीत करना असंभव हो जाता।

1. Self-assertion.

कभी-कभी बिना अपनी परवाह किये हुए और अपने लाभों का विशेष ध्यान न रखते हुए भी व्यक्ति अपने निजी हित को प्राप्त कर लेता हैं। हम तो इससे भी अधिक यह कह सकते हैं कि मूलत: इन दो लक्ष्यों में कोई विरोध नहीं है और इस प्रकार से नैतिकता के लिये इनमें से कोई भी अपने वास्तविक स्वरूप में अस्तित्ववान नहीं है। पर लक्ष्यों की इस मूल एकता में विश्वास रखते हुए भी यहाँ पर उनके आंशिक विभेद पर ही बल दिया जा रहा हैं। और यह भी सत्य है कि कुछ सीमा तक और कुछ व्यक्तियों के लिए ये दोनों लक्ष्य परस्पर विरोधी हैं।

निष्कर्षत: ब्रैडले कहते हैं कि यह हमें स्वीकार करना ही होगा कि जीवन में नैतिक शुभता के दो विपथगामी रूप अस्तित्ववान हैं और पूर्णता विपयक अपने प्रत्यय को प्राप्त करने के लिये मनुष्य को इन दो विकल्पों में से एक का चुनाव करना ही होगा। इसलिये यह आवश्यक है कि इन दो लक्ष्यों के स्वरूपों को हम स्पष्ट समझें। सामान्यत: इस आत्मत्याग को दूसरों के लिये जीवन व्यतीत करने के लिये आदर्श के रूप में और अहंवादिता को अपने लिये जीवन व्यतीत करने के आदर्श के रूप में लेते हैं।

सामान्यत: स्वीकृति नैतिक दृष्टि से सद्गुण एक सामाजिक गुण कहा जा सकता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि व्यक्ति का विकास जब तक समाज कल्याण की वृद्धि में सहायक नहीं होता, तब तक वह निश्चित रूप से नैतिक नहीं हो सकता परन्तु ब्रैडले इस मत से सहमत नहीं है। उनके अनुसार यह बात स्वीकार करना असंगत है कि समस्त सद्गुण तत्वत: अथवा मुख्यत: सामाजिक ही है। उसके अनुसार कुछ ऐसी उपलब्धियां हैं यथा बौद्धिक और इसी प्रकार की अन्य उपलब्धियां जो निश्चित ही सद्गुण की कोटि में आती है, पर उन्हें उपरोक्त अर्थ में सामाजिक मानना, कि वे उनके द्वारा सामाजिक हित साधता है, अनुचित ही होगा इसके विपरीत कुछ अन्य उद्देश्यों की पूर्ति, जिनमें स्पष्टत: सामामिक शिवत्व की उपेक्षा की जाती है, न केवल एक ऐसा स्वत्वद्योतन होता है, जो नैतिक है प्रत्युत विभिन्न स्थितियों में आत्म-वलिदान का रूप भी ले लेता है जो सर्वथा नैतिक है। पुन: हम यह भी कह सकते हैं कि इस दृष्टि से कुछ विशिष्ट स्थितियों में स्वार्थ जीवन भी परार्थ जीवन की अपेक्षा सम्भवत: अनैतिक और स्वार्थी हो जाता है। पुन: ब्रैडले कहते हैं कि आत्मत्याग तथा अहंवादिता में इस प्रकार का भेद सम्भवत: नहीं कि एक में हम व्यक्ति का अतिक्रमण करते हैं और दूसरे में हम व्यक्ति तक ही अपने को

सीमित रखते हैं। व्यक्ति के निजी स्थायी हित की भी यदि हम कल्पना करें तो भी हमें व्यक्ति की नितान्त वैयक्तिक सीमाओं का अतिक्रमण करना होगा। और जब उसके पूर्णत्व के अन्तर्विषय का हम अध्ययन करेंगे तो भी स्पष्ट हो जायेगा कि वह सभी दिशाओं में उसका अतिक्रमण करता है। किसी भी व्यक्ति का अस्तित्व और अन्ततः उसका पूर्णत्व दो व्यक्तियों और अन्ततः समूचे विश्व से पृथक् नहीं। अतएव उसके हित में अंशतः सभी का हित सम्मिलित है। पुनः उसका बौद्धिक, सौन्दर्यात्मक और नैतिक विकास अन्य शब्दों में उसका सम्पूर्ण आध्यात्मिक व्यक्तित्व उन तत्वों से निर्मित है, जो अन्य के साथ सम्बन्धित करते हैं। अपने निष्कर्षों को प्रस्तुत करते हुये ब्रैडले कहते हैं कि नैतिकता के दोनों प्रकारों में जो अन्तर है, वह उस अन्तर्विषय से सम्बन्धित नहीं जिनका इनमें प्रयोग किया जाता है। बल्कि उन विभिन्न प्रयोगों में है जो इनके आधार पर संभव होते हैं।

इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुये ब्रैडले आगे कहते हैं कि नैकित स्वत्व-द्योतन में प्रयुक्त सामग्री कहीं से भी उपलब्ध की जा सकती है और उसका सम्बन्ध किसी भी जगत से हो सकता है। अधिकांशतः वे संभवत ऐसे लक्ष्यों की पूर्ति करेंगे और ऐसा अनिवार्यतः उन्हें करना भी चाहिये जो स्पष्टतः हमारे जीवन की सीमित परिधि का अतिक्रमण कर जाते हैं। परन्तु जब इन तत्वों का प्रयोग करने में हम अपने अन्तर्गत महत्तम तन्त्र के विचार से प्रेरित होते हैं यानी जब हम अपनी व्यक्तिगत पूर्णता की इच्छा से प्रेरित होकर काम करते हैं तो वह स्वत्वद्योतन हो जाता है।

इसके विपरीत जब किसी लक्ष्य का अनुसरण करने में हमारे व्यक्तित्व की कुछ क्षति होती है तो वह हमारा त्याग होता है। अन्य शब्दों में जहाँ कहीं नैतिक लक्ष्यों से व्यक्तिगत कल्याण को क्षति पहुंचती है वहाँ लाभ होता है चाहे हमारा जीवन परार्थ हो या न हो पर आत्मत्याग भी अन्ततः आत्माभिव्यक्ति का ही एक प्रकार है। पुनः वे कहते हैं कि अपने मूल रूप में आत्मा का यह स्वभाव है कि वह स्वत्वद्योतन और त्याग दोनों को साथ-साथ अपनाये हुये है। स्वत्वद्योतन में अंग सबसे पहले अपना विकास सोचता है और उस उद्देश्य से वह सभी अंगों के सामान्य जीवन से सामग्री ग्रहण करता है, परन्तु त्याग में व्यक्ति का लक्ष्य यह होता है कि वह अपने निजी जीवन की अपेक्षा एक वृहत्तर जीवन के किसी तत्व को प्राप्त करना चाहता है। ब्रैडले स्वत्व-द्योतन और त्याग दोनों को ही समान रूप से सद्गुणात्मक तथा औचित्यपूर्ण

मानते हैं। क्योंकि दोनों ही वृत्तियों के माध्यम से एक महत्वपूर्ण अर्थ में वस्तु का साक्षात्कार होता है और यही नहीं स्वातिक्रमण की सहज प्रवृत्ति के माध्यम से उच्चतर का भी साक्षात्कार होता है। अतः दोनों ही समान रूप से शिव है और एक अर्थ में अन्ततः इन दोनों को एक होना चाहिए। समग्रता उन तत्वों, जिनसे वह निर्मित होती, के आत्म-संतुष्टि तथा आत्म लाभ से सम्बन्ध के प्रयासों से लाभान्वित होती है। यदि वर्तमान संदर्भ में इस शब्द का प्रयोग किया जा सकता है, इसी प्रकार समग्रता में सम्मिलित तत्व उसके प्रभाव एवं क्रिया से समुन्नत होते हैं इस प्रकार की सम्बद्धता और अंतरंगता के बावजूद दोनों में भेद है। इससे इन्कार नहीं किया जा सकता पर इस भेद को इतना महत्वपूर्ण मान लेना कि दोनों जीवन के एकांतिक लक्ष्यों के रूप में प्रस्तुत हो, सर्वथा अनुचित है।[१]

उपरोक्त निष्कर्ष ब्रैडले के तत्वमीमांसीय निष्कर्ष से नियंत्रित हैं और उसे पुनः एक भिन्न संदर्भ में समर्थित करते हैं। प्रत्येक सीमित इकाई एक स्वातिक्रमणीय इकाई है अतः स्वातिक्रमण की की प्रवृत्ति एक सहज प्रवृत्ति है और इसी आधार पर वह अपने व्यक्तित्व की संकुचितता का अतिक्रमण करती है इस प्रक्रिया में एक अपूर्व सतोष का अनुभव करती है। साथ ही क्योंकि उसका एक निजी केन्द्र है, इसलिये प्रत्येक का स्वातिक्रमण उस केन्द्र से अन्तरंग रूप से सम्बन्वित है। यही कारण है कि आत्मत्याग या स्वातिक्रमण में आत्मतोष की अन्ततः उपलब्धि होती हैं। अतः स्पष्ट है कि नैतिकता जब मानव आदर्शों को जीवन के एकांतिक लक्ष्यों के रूप में प्रस्तुत करती है, तो वह मानव जीवन से सम्बन्धित एक भ्रांति द्वारा नियंत्रित होंकर ही वैसा करती है। वर्तमान प्रसंग में ब्रैडले एक बात और स्पष्ट कर देते हैं कि यथार्थ स्वद्योतन और आत्म-त्याग दोनों ही जीवन के नैतिक लक्ष्य है पर

1. "Two what then should the individual have any duty if he has none to himself? Or in it again really supposed that in his perfecation the whole is not perfected, and that he is somewhere enjoying his own advantage and holding it apart from the universe. But we have seen that such a separation between the absolute and finite beings is meeningless. Or shall we be assured from the otherside, that for a thing to sacrifice itself is contrary to reason?"
—Ibid., p. 370.

अपनी एकान्तिकता और फलत: अपूर्णता के कारण दोनों ही अन्तत: अपर्याप्त हैं। ये दोनों अपनी उच्चतम निष्पत्ति में, एक व्यापक समन्वय में अपने वैशिष्ट्य का समर्पण करते हुए एकीभूत हो जाते हैं। पुन: क्योंकि परम तत्व के बाहर कुछ भी नहीं है और परम तत्व के अन्दर कुछ भी अपूर्ण एवं असंगत नहीं है। ब्रैडले अपने निष्कर्षों को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि 'शिवत्व एक आभास है, वह प्रतीयमान हैं और इसलिए स्वयं विरुद्ध हैं। अत: वह सत् और सत् की मात्राओं की भांति ही एक ही मानदण्ड के ऐसे दो स्वरूपों को प्रकट करता है, जो पूर्णतया संगतिपूर्ण नहीं होंगे। अन्त में जहाँ प्रत्येक असंगति समन्वय में परिणत हो जाती है, वहाँ तो प्रत्येक कल्पनापूर्ण हो जाती है। परन्तु जहाँ पर कुछ भी नष्ट नहीं होता, वहाँ पर प्रत्येक वस्तु, अभिवृद्धि और पुनर्व्यवस्था के द्वारा न्यूनाधिक, मात्रा में अपने स्वभाव को बदल देती है और परम तत्व में किसी भी स्वत्वद्योतन, किसी भी त्याग, किसी भी शिवत्व अथवा नैतिकता जैसी किसी भी वस्तु का निजी कोई सत् नहीं होता। शिवत्व विश्व का एक गौण और इसलिये एक स्वयं विरुद्ध पक्ष है।"[1]

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि ब्रैडले ने शिवत्व में स्वत्वद्योतन और त्याग दोनों आदर्शों को बराबर स्थान दिया है। उनका कहना है कि त्याग को ही शिवत्व मानकर स्वत्वद्योतन को पूर्णतया बहिष्कृत किया जा सकता है किन्तु त्याग के रूप में शिवत्व स्पष्टत: एक आत्म-संघर्ष उपस्थित करता है। कोई भी आत्म-त्याग किसी न किसी अर्थ में एक आत्म-साक्षात्कार

---

1. "Goodness is an appearance, it is phenomenal, and therefore self-contradictory. And therefore, as was the case with degrees of truth and reality, it shows two forms of one standard which will not wholly coincide, In the end, where every discord is brought to harmony, every idea is also realized. But there, where nothing can be lost, everything, by ddition and by rearrangement, more or less changes its character. And most emphatically no self-sacrifice, nor any goodness or morality, has, as such, any reality in the absolute, Goodness is a subordinate and therefore, a self-contradictory aspect of the universe."

—Ibid., p. 371.

होता है और इस प्रकार उसमें अनिवार्यत: स्वत्वद्योतन का एक पक्ष आ जाता है। इसलिये केवल त्याग के रूप में शिवत्व की प्राप्ति का वस्तुत: कोई अर्थ नहीं। क्योंकि शिवत्व का साक्षात्कार अन्ततोगत्वा ससीम आत्माओं में ही होगा।

शिवत्व की सापेक्षता का समर्थन :

इसके पश्चात् ब्रैडले शिवत्व के सापेक्षिक स्वरूप को प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं कि बहुत से अंग्रेज आचारशास्त्री आँख बन्द करके मान लेते है कि शिवत्व अन्तिम और चरम है। परन्तु ऐसा मानना मूर्खता है। क्योंकि जहाँ धर्म में उनकी मान्यता और श्रद्धा है, वहाँ नैतिकता स्वयं गौण हो जाती है। अंग्रेज आचार शास्त्री शिवत्व को चरम मानते हुए उसकी प्रत्येक अभिव्यंजना को ही अन्तिम मान लेते हैं, जो ब्रैडले की दृष्टि से सापेक्ष है और इस कारण अन्तिम दृष्टि से असत् है। इस कारण एक व्यापक दृष्टि में तत्वत: रूपांतरित हो जाने वाले इन एकांगी पृथक्करणों को ये आचार शास्त्री अन्तिम और मूल तथ्य समझने की भूल करते हैं। इस दृष्टि के अन्तर्गत शिवत्व में विद्यमान स्वद्योतन और त्याग दोनों ही लक्ष्य अपनी मूल एकांगिता के कारण और समर्थित निरपेक्षता के कारण स्वयं के साथ और दूसरे के साथ भी असंगत हो जाते हैं। कोई भी निज रूप में अन्तिम नहीं होता परन्तु इस दृष्टि के अन्तर्गत इन्हीं सापेक्षिक पक्षों को सत् मान लिया जाता है। प्रश्न विचारणीय है कि शिवत्व अन्ततोगत्वा स्वयं सगत या सत् हो सकता या नहीं ? ब्रैडले का कहना है कि शिवत्व में, पूर्णता प्राप्ति का एक प्रत्यय है निहित है और किसी भी ससीम इकाई के लिए उस वस्तु की खोज करना स्वाभाविक है, जिसकी तृप्ति की उसे अपेक्षा है, पर जिसकी प्राप्ति उसे अपने स्तर पर अपनी विशिष्टता को कायम रखते हुए नहीं हो सकती। परन्तु यदि यह वात हैं, तो अपरिमित हुए विना केवल अपने व्यक्तिगत लाभ को प्राप्त कर लेने से हमें अपने शिवत्व की प्राप्ति कैसे होगी ?[1] ब्रैडले पुन: कहते हैं कि कोई भी सामाजिक अंगी कितना भी पूर्ण अथवा व्यवस्थित क्यों न हो, व्यक्ति के सभी हितों को अपने माध्यम से पूर्ण नहीं कर सकता। आंतरिक व्यवस्था के लिये वह आत्मत्याग की की अपेक्षा करता है, और आत्म-त्याग का सीधा अर्थ है कि न्यूनाधिक मात्रा में हमें अपने "स्व, का विलय करना होगा। अन्य शब्दों में

1. Ibid, p. 372-73.

प्रत्येक तंत्र में व्यक्ति को विशिष्ट कार्यों के लिए अपने में दक्षता विकसित करनी होगी और इसका परिणाम होगा कि वह अपने समूचे व्यक्तित्व को एक सीमित दिशा में ही ढाल सकेगा, शेष की स्पष्टतः अवहेलना होगी। इस प्रकार उसके व्यक्तित्व की निजी संगति को क्षति पहुंचेगी और यदि वह किसी विशिष्ट लक्ष्य यथा बौद्धिक और सौन्दर्यात्मक तक अपने को सीमित रखेगा तो उपरोक्त निष्कर्ष शत-प्रतिशत सही उतरेगा। पुनः वे कहते हैं कि एक आदर्श तंत्र में भी व्यक्ति केवल आंतरिक संगति की दृष्टि से कार्य करे तो भी उसे अपने विकास के लिये बाह्य तत्वों को, जो विदेशीय है, आत्मसात् करना होगा। स्पष्ट है, आत्मसात् होने के प्रयास के बावजूद वे अपनी बाह्यता का शत-प्रतिशत समर्पण न कर सकेंगे।

पर ब्रैडले कहते हैं कि सामान्य दर्शन इन बातों की ओर न ध्यान देता है और न देने में समर्थ ही है। सामान्य दार्शनिक और नैतिक दृष्टि तो स्थैतिक इकाइयों के अस्तित्व में विश्वास करती है, और इसलिए स्वाभाविक है कि वे एकान्तिक दृष्टिकोण से नियन्त्रित होकर एक को स्वीकार और दूसरे को अस्वीकार करते हैं या फिर उन्हें स्वीकार करते हुए सांयोगिक संबंधों से सूत्रबद्ध करते हैं।[1]

स्वीकृत लक्ष्यों की स्वीकृत एकांगिता और उनकी अन्तिम निरपेक्षता को स्पष्ट करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि सर्वप्रथम आत्म-त्याग को यदि शुभ के रूप में लिया जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि वह एक परिष्कृत स्वार्थपरता के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। क्योंकि किसी परिसीम इकाई के माध्यम से ही आत्म-त्याग या परोपकार के आदर्श की सिद्धि होती है। उसे आदर्श रूप में प्रस्तुत किया जाय और किसी अन्य के शुभ के रूप में ही वह समर्पित हो तो ऐसा असंगत ही है। इसी को यदि यूं प्रस्तुत किया जाय कि मेरे द्वारा वह पूरित होता है, मैं उपभोग भी करता हूं पर शुभ के रूप में नहीं तो यह हास्यास्पद सा ही है। और यदि हम यह कहें कि समग्र के हित में मैं भी अनिवार्यतः सम्मिलित हूं तो फिर विशुद्ध आत्म-त्याग के रूप में यह प्रस्तुत न हो सकेगा। इसलिये परिपूर्णता की दृष्टि से शिवत्व अपने तत्व रूप में स्वयं असंगत होगा और अन्ततोगत्वा असत् होगा। अतः स्पष्ट है कि शिवत्व एक एकांगी और सापेक्षिक आभास है, कोई अन्तिम सत् नहीं।[2]

1. Ibid., p. 374.
2. "It is an appearance one-sided and relative and not an ultimate reality." —Ibid., p. 374.

पुनः ब्रैडले का कहना है कि यदि सामान्य आचार शास्त्र विशुद्ध स्वद्योतनको ही एकमात्र शिवत्व मान ले और यह कहे कि व्यक्ति के स्वातिक्रमण की सभी कल्पनाएं एक बकवास है, संभवतः इसके बाद वह यह भी जोड़ना चाहेगा कि इस प्रकार की आत्माभिव्यंजना के माध्यम से ही समस्त व्यक्तियों का हित संपादन भी सर्वोत्तम प्रकार से होगा। स्पष्ट है कि आत्माभिव्यंजना के प्रत्यय में यह दूसरा प्रत्यय अनिवार्यतः विद्यमान नहीं है। वह उसके साथ संगत नहीं है और इस कारण उसके अन्दर समाविष्ट नहीं हो सकता। क्योंकि यदि हम इस प्रकार के संशोधन को स्वीकार कर लें तो मूल सिद्धान्त निश्चित ही संशोधित हो जायेगा लेकिन वर्तमान संदर्भ में हमारा सम्बन्ध स्वद्योतन के विशुद्धता रूप से है।

शिवत्व का यह रूप भी व्यावहारिक दृष्टि से अप्राप्य है क्योंकि पूर्णत्व की प्राप्ति किसी एक सीमित व्यक्तित्व के माध्यम से प्राप्त होने वाली वस्तु नहीं है। कारण वे अनेक प्रसंगों में प्रस्तुत कर चुके हैं। एक स्वातिक्रमणीय इकाई स्वातिक्रमण के माध्यम से यानी अपने व्यष्टित्व के समर्पण द्वारा तथा समग्रता में समन्वित होकर ही अपने को संपूर्ण बना सकती हैं, परिमित और विशिष्ट रह कर नहीं। पर इस सिद्धान्त के अन्तर्गत शुद्ध अहं को न कि उसके विकृत रूप को, शिवत्व माना गया था। ब्रैडले अपने निष्कर्षों को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि कोई भी शिवत्व पूर्णता की एक सीमित सत्ता में प्राप्त नहीं हो सकता। जो सिद्धान्त आत्महित संपादन का ही प्रतिपादित करता है वह ठीक-ठीक समझे जाने पर भी असंगतिपूर्ण ही ठहरता है और जिस सिद्धान्त में आत्मविरोध हो, वह कभी भी औचित्यपूर्ण नहीं हो सकता।

इसके पश्चात् एक तृतीय विकल्प को प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं कि कभी-कभी अहं और त्याग को समान रूप से शुभ मानकर, सामान्य विचारधारा उनको बाहर से समन्वित करने का प्रयास करती है। ऐसी अवस्था में शिवत्व को इन स्वतंत्र शुभों के रूप में ही अस्तित्ववान मान लिया जाता है। दोनों को आत्मसात् करने और उनके व्यष्टित्व को विलीन करने के लिये किसी ऐसे तीसरे की कल्पना नहीं की जाती जो उन्हें एक व्यापक समन्वय में समन्वित करे इसके विपरीत प्रत्येक का, जो अपना स्वरूप होता है, वह अपरिवर्तित रह जाता है और वे दोनों विशिष्ट किसी न किसी प्रकार कृत्रिम विधि द्वारा एकीभूत कर दिये जाते हैं पर ब्रैडले कहते हैं कि यह असंभव है क्योंकि यदि दो विरोधी ससीम तत्वों को कहीं भी समन्वित करना है तो पहली शर्त

यह है कि प्रत्येक अपने निजी स्वरूप की विशिष्टता को त्याग कर दूसरे से समन्वित हो या यूं कहें कि आत्मा अतिक्रमण द्वारा जो दोनों से उच्चतर है, उसमें अन्ततः अवस्थित हो। परन्तु सामान्य आचार शास्त्री आत्मतिक्रकण की इस संभावना को नहीं मानता और बिना किसी विचार के वह यह मान लेता है कि प्रत्येक ससीम इकाई (यहाँ पर जीवन के दो लक्ष्य) पृथक्-पृथक् स्वयं अपने में ही औचित्यपूर्ण हैं। और ऐसा इसलिये कि वह यह मान लेता है कि किसी न किसी प्रकार प्रत्येक अपने आप में ही पर्याप्त है। परन्तु ब्रैडले का कहना है कि सामान्य आचार शास्त्री सिद्धान्त से आंख मूंद लेते हैं। वे जीवन में प्रतिदिन होने वाली किसी न किसी संदर्भ में आत्मातिक्रमण की प्रक्रिया को नहीं देख पाते। वे यह नहीं समझ पाते कि कोई मनुष्य अपने ही हित में, सार्वजनिक हित को सम्मिलित कर सकता है और अपने ही लक्ष्य की पूर्ति में अन्य के लक्ष्य की पूर्ति मान सकता हैं, क्योंकि वहाँ पर शिवत्व पहले से ही एकांगी तत्वों के निराकरण तथा अतिक्रमण में निहित होता है। अन्य शब्दों में जबकि सामान्य आचार-शास्त्री तत्वों के वाह्य संयोग में शिवत्व में अन्तिम स्वरूप को ढूंढ़ने का प्रयत्न करते हैं, ब्रैडले यह बताते हैं कि शिवत्व के इन स्वीकृत रूपों के भीतर पहले से ही उस क्रिया का आरम्भ हो जाता है जो कि संपूर्ण होने पर हमको शिवत्व के बाहर पहुंचा देती है। यदि सामान्य आचार शास्त्री यह स्वीकार कर लें कि शिवत्व में प्रस्तुत असंगतियाँ—जिनकी ओर पूर्व-पृष्ठों पर ध्यान आकर्षित किया गया है, अन्त में विलीन हो जाती है और उसकी सारी विशेषताएं अपने निजी स्वरूप का अतिक्रमण कर परम तत्व में समाहित हो जाती हैं तो सारी समस्या का समाधान हो जायेगा किन्तु साधारण आचार शास्त्री इस बात को नहीं समझ पाते।

पुनः ब्रैडले कहते हैं कि जीवन के विशिष्ट लक्ष्यों के परस्पर संघर्ष पर भी विचार करने से हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि पूर्ण के भीतर जीवन के प्रत्येक प्रतिमान को अपने विरोध का विलय कर देना चाहिये। यही नहीं, इन लक्ष्यों के संघर्ष का रूप ही कुछ ऐसा है कि उसका यांत्रिक संयोग पूर्णतया असंभव है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अन्तिम सिद्धि में, उनके स्वभावों का रूपान्तर अत्यन्त आवश्यक है। अतः हम यह कह सकते हैं कि उनमें से कोई भी एकान्तिक रूप से शिव नहीं है और फिर भी अन्ततः शिव है क्योंकि अपने रूपान्तरण के पश्चात् वे शिवत्व का एक अधिक व्यापक और सामान्य से भिन्न अर्थ में निर्माण करते हैं। यही नहीं, परिपूर्णता की इस कल्पना में अशुभ का भी समावेशहोना चाहिए। इस प्रकार सामान्यतः जिसे

हम शिवत्व की संज्ञा देते हैं वह अपने समर्थन और निषेध दोनों में ही निष्पत्ति रूप अनुभूति का साधन बन जायेगा। अतः स्पष्ट है कि शिव और अशिव अपने में क्रम से सिद्धि तथा असिद्धि नहीं बल्कि सिद्धि की दिशा में सक्रिय सापेक्षिक तत्व हैं जो उस 'पूर्ण' में, जिनकी ओर वे प्रवहमान हैं, अपने-अपने विशिष्ट स्वभाव को सुरक्षित रखने में सर्वदा असमर्थ हैं।

आधुनिकतम दृष्टिकोण के संदर्भ में शिवत्व की व्याख्या :

इसके पश्चात् ब्रैडले नैतिकता के एक आधुनिकतम दृष्टिकोण के संदर्भ में शिवत्व को प्रस्तुत करते हुये कहते हैं कि इसके अनुसार 'शिवत्व' नैतिकता है और नैतिकता आन्तरिक है।[1] व्यक्ति के संकल्प को उसके निजी पूर्णता विषयक प्रतिमान के साथ एकरूप होने को ही नैतिकता कहते हैं। अन्य शब्दों में परिणामों के आधार पर कार्य की नैतिकता निर्धारित नहीं हो सकतीं क्योंकि ये बाह्य तत्वों द्वारा नियंत्रित होते हैं। नैतिक पुरुष वह पुरुष है जो किसी अपने द्वारा स्वीकृत प्रतिमान के अनुसार श्रेष्ठतम कर्म करने का प्रयत्न करता है। यदि वह जो भी जानता है, वह श्रेष्ठतम नहीं है तो उससे नैतिकता अप्रभावित रहती है। पुनः यदि जो कुछ वह करना चाहता है, नहीं कर पाता है, तो वह भी कार्य की नैतिकता के लिए विशेष महत्वपूर्ण नहीं है। इस दृष्टि से देशकाल और व्यक्ति विशेष के अनुरूप नैतिकता के बदलते रूप के साथ न्याय करना असम्भव है। अन्य शब्दों में, किसी एक ऐसे निश्चित अर्थ को इस संदर्भ में पाना हमारे लिये कठिन होगा जिसके आधार पर विभिन्न युगों की नैतिक दृष्टियों की तुलना की जा सके। फिर भी नैतिकता के इस दृष्टिकोण के समर्थक इतना तो कह ही सकते हैं, कि किसी मनुष्य के लिए उसकी नैतिकता की एकमात्र कसौटी उसका आन्तरिक संकल्प है यानी जो कुछ भी श्रेष्ठतम है उसके साथ व्यक्ति विशेष के संकल्पात्मक तादात्म्य के अनुपात में ही वस्तुतः शिवत्व का अवतरण होता है। ब्रैडले कहते हैं कि इसमें कोई संदेह नहीं कि अन्य मतों की तुलना में यह अधिक विकसित नैतिक दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है। फिर भी इसमें असंगति है और इसके माध्यम से एक बार फिर शिवत्व सम्बन्धी सामान्य निष्कर्ष का ब्रैडले समर्थन करते हैं।

---

1. "The good, we may be informed, in morlity and morality is inward." —Ibid., p. 382.

इस सिद्धान्त का यदि निरीक्षण करें तो स्पष्ट हो जायेगा कि संकल्प जब अपने को कार्य रूप में व्यंजित करेगा तो उसे उससे, साथ ही उस प्रदत्त तत्व से, नियंत्रित होना होगा जो कार्य रूप में उसे प्रस्तुत करने में आवश्यक आधार प्रस्तुत करता है। फलत: दो अवांछित, यही नहीं घातक परिणामों का सामना करना पड़ेगा या तो यह कहा जाय कि जो वह करता है, वह सांयोगिक है, उसका कोई महत्व नहीं अथवा यह कि सांयोगिक होने के बाद भी वह शुभ है। दोनों ही स्थितियाँ प्रिय नहीं और दोनों ही में प्रतिपादित सिद्धांत को मूल रूप से संशोधित होना पड़ेगा।[1]

इसी प्रकार 'पुरस्कार' को स्वीकृत करके भी कुछ इसी प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। यदि सद्गुण और पुरस्कार रूप में स्वीकृत सुख में आन्तरिक सम्बन्ध है तो नैतिकता को पुन: पारिभाषित करना होगा, यदि विपरीतत: दोनों में सांयोगिक सम्बन्ध हैं तो हम किस अर्थ में उसे शुभ कहेंगे? परिणाम यह होगा कि हमें पुरस्कार की कल्पना को अथवा नैतिकता के एकांतिक स्वरूप को पुन: पारिभाषित करना होगा। इस सिद्धान्त का मूल्यांकन प्रस्तुत करते हुए ब्रैडले कहते हैं, कि (i) सामान्यत: हम जीवन की अन्य उपलब्धियों, यथा सौन्दर्य, शक्ति, स्वास्थ्य, वैभव आदि को भी मूल्यवान मानते हैं। पर इन सारी उपलब्धियों एवं पूर्णताओं का नैतिक दृष्टि से समर्थन संभवत: संभव नहीं है। अत: उपरोक्त सिद्धान्त के विरुद्ध इसे आपत्ति रूप में ब्रैडले प्रस्तुत नहीं करते। (ii) यदि विशुद्ध नैतिक दृष्टिकोण से इस सिद्धान्त का मूल्यांकन किया जाय तो हम देखेंगे कि सामान्य सद्गुण, जिन्हें नैतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण माना जाता है, वे मानवीय मन: प्रवृत्तियों तथा प्रशिक्षण से नियंत्रित होते हैं। और ये दोनों ही तत्व नैतिकता के लिए बाह्य हैं। पर ब्रैडले कहते हैं कि ये इतने महत्वपूर्ण हैं कि इनका निष्कासन सरल नहीं है और यदि हम इन्हें अपने संकल्प पर आधारित न होने के कारण निष्कासित करने की चेष्टा करें तो यह सर्वथा अनुचित होगा।[2] पुन: ब्रैडले कहते हैं कि मानवीय संकल्प, जिसको इस सिद्धान्त के अन्तर्गत इतना महत्व दिया जाता है, वस्तुत: अपने में कुछ भी नहीं है। उसे सब प्रकार से प्राकृतिक तत्वों, मानसिक तथा भौतिक तत्वों से नियंत्रित होना है। अत: नैतिकता के निर्माण में इन तत्वों की अवहेलना संभव नहीं है। पर यदि इन तत्वों को हम

---

1. —Ibid., p. 383.
2. —Ibid., p. 383.

नैतिकता के मूल्यांकन में महत्वपूर्ण मान लें तो हमें नैतिकता सम्बन्धी उपरोक्त सिद्धान्त को आमूल परिवर्तित करना होगा।[1] अन्य शब्दों में इन प्रतिमानों का एकान्तिक प्रयोग नहीं हो सकता क्योंकि जीवन इनसे कहीं अधिक व्यापक है।

पुनः यदि यह कहा जाय कि नैतिक मनुष्य वह मनुष्य है जो अपने ज्ञान के अनुसार संकल्प करता है तो यह सम्भव नहीं होगा क्योंकि ऐसी बाह्य परिस्थितियाँ होती हैं, जैसे शारीरिक या मानसिक दौर्बल्य और रोग आदि जो व्यक्ति के संकल्प और प्रयत्न में बाधक हो सकती हैं। जिसके फलस्वरूप सम्भव हैं कि कोई व्यक्ति अपने संकल्प की पूर्ति न कर सके और हमें नैतिकता में किसी बाह्य देन अथवा सहयोग का योग मानना पड़ेगा। अतएव इस अवस्था में हमारा यह कहना उचित नहीं होगा कि नैतिक मनुष्य केवल वही मनुष्य है, जो अपने नैतिकता सम्बन्धी प्रतिमानों के अनुसार संकल्प करता है।

इसके अतिरिक्त जब हम नैतिक प्रतिमानों के ज्ञान पर विचार करने लगते हैं तब भी हमें कुछ कम कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ता क्योंकि हो सकता है कि एक मनुष्य जिस आदर्श को उच्च मानता है वह दूसरे मनुष्य की दृष्टि में उतना महत्वपूर्ण न हो। संक्षेप में जो कुछ कोई जानता है उससे या जो कुछ कोई करता है मात्र उससे ही नैतिकता का निर्धारण नहीं हो सकता। कोई मनुष्य अपनी शिक्षा या स्वभाव से किसी दूसरे मनुष्य की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ हो सकता है और यह भी सत्य है कि कोई मनुष्य सदैव शुभतम ज्ञान नहीं रख सकता है। अतः इस संदर्भ में नैतिक ज्ञान की महत्ता नैतिकता के निर्धारण में अप्रासंगिक होगी। वस्तुतः यहाँ शुभाशुभ का कोई भेद ही नहीं रह जाता। ब्रैडले के अनुसार सिद्धान्त के दोनों ही प्रारूपों के अध्ययन से यही निष्कर्ष निकलता है। पुनः यदि नैतिक संघर्ष की तीव्रता को प्रतिमान के रूप में प्रस्तुत किया जाय तो भी उससे कोई लाभ नहीं होगा। क्योंकि सर्वप्रथम उस तीव्रता को प्राकृतिक स्थितियों द्वारा ही निश्चित होना है और द्वितीय शिवत्व का अर्थ होगा भीतर सदैव आंतरिक संघर्ष को किसी न किसी रूप में बनाये रखना। अन्य शब्दों में किसी मनुष्य को शुभतर बनाने

---

1. "But to make an allowance would be to give up the essence of our doctrine, for the moral man no longer would be barely the man who wills what he knows."

—Ibid., p. 384.

के लिए हमें किसी प्रसंग में, उसकी अशुभता में वृद्धि करनी पड़ेगी। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में हम एक ऐसी जगह पहुंचेंगे जहां पर भलाई और बुराई में अन्ततः कोई अन्तर नहीं रह जायेगा।

पुनः ब्रैडले एक और संभव विकल्प को प्रस्तुत ,करते हुये कहते हैं कि सिद्धान्त के समर्थक कह सकते हैं कि यद्यपि यह सही है कि नैतिकता बाह्य तत्वों से निर्धारित होती है, मनुष्य में उस तत्व को रूपान्तरित करने की क्षमता है। पर ब्रैडले कहते है कि इससे हम इन्कार नहीं कर सकते हैं कि फिर भी नैतिकता मानसिकीय यानी बाह्य तत्वों से नियंत्रित है। अतः चाहे किसी भी कोण से हम संकल्पित कर्म को लें, उपादान विरहित उसका रूप एक असंभव कल्पना मात्र है। अन्य शब्दों में, इस प्रकार का शुद्ध आकारिक कार्य संभव ही नहीं है। उसकी नैतिकता का प्रश्न ही नहीं उठता। यथार्थ में उसे अनिवार्यतः अपने से बाह्य तत्व से नियंत्रित होना होगा इसलिए हमारी कठिनाई और सम्बद्ध निष्कर्ष पूर्ववत् बने रहेंगे। और यदि हम हठ रखें और कहें कि इन तत्वों से विरहित कार्य नैतिक है तो यह कहना हमारा दंभ ही होगा और उसमें तथा अशिव में वस्तुतः कोई अन्तर नही रह जायेगा। अतएव नैतिकता को यह स्वीकार करने के लिए बाध्य होना पड़ेगा कि शुभाशुभ पूर्णतया संकल्प की नैतिकता के ऊपर निर्भर नहीं है और अन्त में नैतिकता का अतिक्रमण ही मान्य है जो इस कारण स्वयं से परे पहुंच जाती है। अन्त में ब्रैडले कहते हैं कि इस प्रकार हम उसी परिणाम पर पहुंचते हैं जहाँ अनैतिक होना एक नैतिक कर्तव्य बताया गया है। यह कथन विरोधाभास प्रतीत होता है। परन्तु इसमें एक ऐसे सिद्धान्त की अभिव्यक्ति है जो निरन्तर सभी क्षेत्रों में सक्रिय रूप में अपने को प्रकट करता रहता है। और वह यह है कि किसी भी ससीम सत्ता का प्रत्येक पक्ष अपने से किसी उच्चतर वस्तु की अपेक्षा करता है और प्रत्येक अन्य आभास की भांति, शुभत्व में भी एक ऐसा तत्व निहित है जो व्यक्त किये जाने पर उसको एक उच्च समन्वय के माध्यम से आत्मसात् कर लेता है। ब्रैडले का कहना है कि समस्या का समाधान तभी संभव है जब नैतिकता की सभी विभिन्न अवस्थायें, जिन्हें तकनीकी पदावली में वे 'आभास' की संज्ञा देते हैं, किसी उच्चतर सत्ता में समाविष्ट तथा समाहित हो जायेंगी। दूसरे शब्दों में नैतिकता जिस परिणति की ओर उन्मुख हो रही है वह उससे परे है और इसीलिये उसे अतिनैतिक शब्द से व्यक्त करना ही उचित है।

नैतिकता के मूल्यांकन में महत्वपूर्ण मान लें तो हमें नैतिकता सम्बन्धी उपरोक्त सिद्धान्त को आमूल परिवर्तित करना होगा।[1] अन्य शब्दों में इन प्रतिमानों का एकान्तिक प्रयोग नहीं हो सकता क्योंकि जीवन इनसे कहीं अधिक व्यापक है।

पुनः यदि यह कहा जाय कि नैतिक मनुष्य वह मनुष्य है जो अपने ज्ञान के अनुसार संकल्प करता है तो यह सम्भव नहीं होगा क्योंकि ऐसी बाह्य परिस्थितियाँ होती हैं, जैसे शारीरिक या मानसिक दौर्बल्य और रोग आदि जो व्यक्ति के संकल्प और प्रयत्न में बाधक हो सकती हैं। जिसके फलस्वरूप सम्भव हैं कि कोई व्यक्ति अपने संकल्प की पूर्ति न कर सके और हमें नैतिकता में किसी बाह्य देन अथवा सहयोग का योग मानना पड़ेगा। अतएव इस अवस्था में हमारा यह कहना उचित नहीं होगा कि नैतिक मनुष्य केवल वही मनुष्य है, जो अपने नैतिकता सम्बन्धी प्रतिमानों के अनुसार संकल्प करता है।

इसके अतिरिक्त जब हम नैतिक प्रतिमानों के ज्ञान पर विचार करने लगते हैं तब भी हमें कुछ कम कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ता क्योंकि हो सकता है कि एक मनुष्य जिस आदर्श को उच्च मानता है वह दूसरे मनुष्य की दृष्टि में उतना महत्वपूर्ण न हो। संक्षेप में जो कुछ कोई जानता है उससे या जो कुछ कोई करता है मात्र उससे ही नैतिकता का निर्धारण नहीं हो सकता। कोई मनुष्य अपनी शिक्षा या स्वभाव से किसी दूसरे मनुष्य की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ हो सकता है और यह भी सत्य है कि कोई मनुष्य सदैव शुभतम ज्ञान नहीं रख सकता है। अतः इस संदर्भ में नैतिक ज्ञान की महत्ता नैतिकता के निर्धारण में अप्रासंगिक होगी। वस्तुतः यहाँ शुभाशुभ का कोई भेद ही नहीं रह जाता। ब्रैडले के अनुसार सिद्धान्त के दोनों ही प्रारूपों के अध्ययन से यही निष्कर्ष निकलता है। पुनः यदि नैतिक संघर्ष की तीव्रता को प्रतिमान के रूप में प्रस्तुत किया जाय तो भी उससे कोई लाभ नहीं होगा। क्योंकि सर्वप्रथम उस तीव्रता को प्राकृतिक स्थितियों द्वारा ही निश्चित होना है और द्वितीय शिवत्व का अर्थ होगा भीतर सदैव आंतरिक संघर्ष को किसी न किसी रूप में बनाये रखना। अन्य शब्दों में किसी मनुष्य को शुभतर बनाने

---

1. "But to make an allowance would be to give up the essence of our doctrine, for the moral man no longer would be barely the man who wills what he knows."

—Ibid., p. 384.

के लिए हमें किसी प्रसंग में, उसकी अशुभता में वृद्धि करनी पड़ेगी। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में हम एक ऐसी जगह पहुंचेंगे जहां पर भलाई और बुराई में अन्तत: कोई अन्तर नहीं रह जायेगा।

पुन: ब्रैडले एक और संभव विकल्प को प्रस्तुत ,करते हुये कहते हैं कि सिद्धान्त के समर्थक कह सकते हैं कि यद्यपि यह सही है कि नैतिकता बाह्य तत्वों से निर्धारित होती है, मनुष्य में उस तत्व को रूपान्तरित करने की क्षमता है। पर ब्रैडले कहते है कि इससे हम इन्कार नहीं कर सकते हैं कि फिर भी नैतिकता मानसिकीय यानी बाह्य तत्वों से नियंत्रित है। अत: चाहे किसी भी कोण से हम संकल्पित कर्म को लें, उपादान विरहित उसका रूप एक असंभव कल्पना मात्र है। अन्य शब्दों में, इस प्रकार का शुद्ध आकारिक कार्य संभव ही नहीं है। उसकी नैतिकता का प्रश्न ही नहीं उठता। यथार्थ में उसे अनिवार्यत: अपने से बाह्य तत्व से नियंत्रित होना होगा इसलिए हमारी कठिनाई और सम्बद्ध निष्कर्ष पूर्ववत् बने रहेंगे। और यदि हम हठ रखें और कहें कि इन तत्वों से विरहित कार्य नैतिक है तो यह कहना हमारा दंभ ही होगा और उसमें तथा अशिव में वस्तुत: कोई अन्तर नही रह जायेगा। अतएव नैतिकता को यह स्वीकार करने के लिए बाह्य होना पड़ेगा कि शुभाशुभ पूर्णतया संकल्प की नैतिकता के ऊपर निर्भर नहीं है और अन्त में नैतिकता का अतिक्रमण ही मान्य है जो इस कारण स्वयं से परे पहुंच जाती है। अन्त में ब्रैडले कहते हैं कि इस प्रकार हम उसी परिणाम पर पहुंचते हैं जहाँ अनैतिक होना एक नैतिक कर्तव्य बताया गया है। यह कथन विरोधाभास प्रतीत होता है। परन्तु इसमें एक ऐसे सिद्धान्त की अभिव्यक्ति है जो निरन्तर सभी क्षेत्रों में सक्रिय रूप में अपने को प्रकट करता रहता है। और वह यह है कि किसी भी ससीम सत्ता का प्रत्येक पक्ष अपने से किसी उच्चतर वस्तु की अपेक्षा करता है और प्रत्येक अन्य आभास की भाँति, शुभत्व में भी एक ऐसा तत्व निहित है जो व्यक्त किये जाने पर उसको एक उच्च समन्वय के माध्यम से आत्मसात् कर लेता है। ब्रडले का कहना है कि समस्या का समाधान तभी संभव है जब नैतिकता की सभी विभिन्न अवस्थायें, जिन्हें तकनीकी पदावली में वे 'आभास' की संज्ञा देते हैं, किसी उच्चतर सत्ता में समाविष्ट तथा समाहित हो जायेंगी। दूसरे शब्दों में नैतिकता जिस परिणति की ओर उन्मुख हो रही है वह उससे परे है और इसीलिये उसे अतिनैतिक शब्द से व्यक्त करना ही उचित है।

नैतिकता में अन्तर्व्याप्त प्रतिमान की मांग :

अब हम उन नैतिक आवश्यकताओं पर एक सामान्य दृष्टि डालेंगे जिनकी पूर्ति होनी ही चाहिए। इनमें से सर्व प्रथम नैतिकता और शुभता के बीच विच्छेद की समाप्ति है। हम देख चुके हैं कि प्रत्येक प्रकार का मानवीय गुण तथा सौन्दर्य, शक्ति तथा भाग्य निर्विवाद रूप से शुभ माना जाना चाहिये। क्योंकि हम इस बात को अस्वीकार करें कि ये शुभ है और एक संकुचित दृष्टि से केवल सदाचार को ही नैतिक मानें तो द्वन्द्व न्याय (डायलेक्टिक) द्वारा मात्र आन्तरिक सकल्प की शुचिता के रूप में सद्गुण का भी जगत से ह्रास हो जायेगा क्योंकि तब इस रूप में नैतिकता एक ऐसे आन्तरिक केन्द्रक को खोजता है, जिसमें वाह्य तत्वों के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध न हो। इसी को दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि वह अन्ततः एक 'निरर्थकता'[1] का—एक असंभवता का, अनुसरण करता है। क्योंकि जो विशेषता केवल आन्तरिक हैं वह वस्तुतः कुछ भी नहीं है। इसलिए या तो यह स्वीकार करना चाहिये कि भौतिक विशेषतायें शुभ होती हैं अथवा हमें इतने से ही संतुष्ट हो जाना चाहिए कि सद्गुण की प्राप्ति कहीं भी नहीं हो सकती। इसलिए ऐसे सद्गुण होंगे जो अधिक अथवा कम वाह्य, और न्यून अथवा अधिक आन्तरिक तथा अध्यात्मिक होंगे। इस प्रकार हमें नैतिकता के विभिन्न प्रकार परिणाम तथा स्तर को मानना पड़ेगा और नैतिकता को सामान्य शुभत्व के एक विशेष रूप में स्वीकार करना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में वह अन्य गुणों में से एक गुण मात्र होगा जिसमें न तो अन्य सबका समावेश ही होगा और न ही उसमें किसी पृथक् तथा स्वतन्त्र सत्ता की सामर्थ्य ही होगी। 'अतः नैतिकता उस समय तक एक अयथार्थ वस्तु रहेगी, जब तक कि वह सहज प्राकृतिक शुभों पर आधारित न हो क्योंकि यदि भौतिक सद्गुणों के शुभत्व को स्वीकार नहीं किया जाता तो अन्ततोगत्वा कोई शुभत्व बिलकुल रह ही नहीं जाता।'[2] अतः सार की दृष्टि से नैतिकता के लिये आवश्यक है कि प्रत्येक गुण शुभ हो। नैतिकता और शुभत्व में भेद करने से नैतिकता नष्ट

---

1. Ibid., p. 387.
2. Morality has proved unreal unless it stands on, and vitally consists in gifts naturally...... if the goodness of the physical virtuse is denied there is left, at last, no goodness at all." --Ibid., p. 387.

हो जाती है। पुन: ब्रैडले कहते हैं कि नैतिकता की द्वितीय मांग यह है कि सभी पूर्णताएं नैतिक हों—पर आंतरिक बाह्य की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण हों और उच्चतम मूल्य के रूप में अवस्थित हों। नैतिकता की तृतीय मांग यह है कि नैतिकता के लिए असंगति अनिवार्य है और वह यह कि नैतिकता को यदि किसी भिन्न रूप में होना है तो अशुभ की नितान्त समाप्ति नहीं हो सकती। अत: स्वार्थवादिता और त्याग के पक्ष भी रहेंगे वे गौण अवश्य हो जायेंगे परन्तु फिर भी उनकी अपनी निजी विशेषताएं पूर्णतया मिटेंगी नहीं। ब्रैडले के अनुसार संक्षेप में 'नैतिकता को अपने पक्षों की एक उपलब्ध एकता की आवश्यकता है और उसकी खोज में वह स्वभावत: अपनी परिधि से बाहर एक उच्चतर प्रकार के शुभत्व की ओर पहुंच जाती है उसका अवसान उसमें होता है जिसको हम धर्म कहते हैं।' [1]

धर्म का स्वरूप

धर्म को ब्रैडले ने नैतिकता से ऊपर स्थापित किया है। ब्रैडले के अनुसार धर्म व्यावहारिक है। और चूंकि व्यवहार जगत में शिवत्व की प्रभुता है और उस प्रत्यय में शिव—अशिव का एक द्वन्द्व है। इसलिए धर्म भी मूलत: एक असंगति से आक्रान्त रहता है। धर्म की दृष्टि से सब कुछ किसी श्रेष्ठतम बुद्धि की परिपूर्ण अभिव्यक्ति है। इसलिए सभी वस्तुएं शुभ होतीं है। अत: शुभत्व और अशुभत्व दोनों ही उसी प्रकार शुभ हैं जिस प्रकार अन्त में मिथ्या और सत्य दोनों को सत्य पाया जाता हैं किन्तु यह कहा जा सकता है कि समान रूप से शुभ होते हुये भी दोनों बराबर शुभ नहीं है। जो अशुभ होता है वह रूपांतरित होकर नष्ट हो जाता हैं। जब कि विभिन्न मात्राओं में शिवत्व अपने स्वरूप को फिर से सुरक्षित रख सकता है। पुन: धर्म में असीम आत्मा अपनी पूर्णता को प्राप्त करती है। किन्तु ससीम आत्मा केवल तभी पूर्ण होती है जब कि वह परिपक्व व पूर्ण एक अनिवार्य अंग के रूप में देखी जाती है। पूर्णता की यह अनुभूति तीन रूपों में अभिव्यक्त होती है—
(i) इसी विश्वास में कि अशिव रूपान्तरित हो चुका है और शिव सम्पूर्णता

1. "Morality in brief calls for an unattainable unity of its aspects, and, in its search for this it naturally is led beyond itself into a higher form of goodnes. It ends in what we may call religion."
—Ibid., p. 388.

को प्राप्त कर चुका है, (ii) परम सत्, जिसे ईश्वर कहते हैं, के संकल्प तथा ज्ञान से पूर्ण तादात्म्य स्थापित किया जा सकता है और (iii) इस अहसास के रूप में कि व्यक्ति का अपना अस्तित्व उस सत्ता से भिन्न नहीं है। पुन: ब्रैडले कहते हैं कि कोई व्यक्ति केवल अपना सर्वोत्तम प्रयत्न करके और अपने संकल्प को शिव के साथ एकीभूत करके ही इस पूर्णता को प्राप्त कर सकता है। किन्तु इसके लिये धर्म को पूर्णतया शिवत्व के परे नहीं जाना चाहिए। जिसका आशय यह है कि अशिव को किसी न किसी रूप में कायम रहना है। और इसके साथ ही अशिव के साथ संघर्ष को भी इस जीवन का अनिवार्य अंग होना चाहिये। संक्षेप में नैतिक न होने का जो नैतिक कर्तव्य है—वही धार्मिक होने का भी कर्तव्य है। पुन: धर्म की दृष्टि से प्रत्येक मानवीय गुण शुभ होता है। क्योंकि वह सर्वश्रेष्ठ संकल्प शक्ति के सत् की एक अभिव्यक्ति है। केवल अशुभ स्वयं शिव नहीं होता। क्योंकि वह पूर्णतया रूपान्तरित हो जाता है और इसके साथ ही पूर्णत्व में उसका योगदान भी। शिव विपरीततः भावात्मक रूप से विद्यमान रहता है और उसमें अनुपात-भेद होता है। इस दृष्टिकोण से प्रत्येक व्यक्ति जहां तक शिव है वहाँ तक पूर्ण है।[1]

इस विवरण से स्पष्ट है कि किस प्रकार शिव अन्दर से सारे विरोधों के बहिष्कृत करने का दावा प्रस्तुत करता है। अपनी दृष्टि में धर्म एक ऐसा सर्व है जिसमें जीवन के सारे पक्ष समन्वित हो सकते हैं। अत: वह पूर्णत: समन्वित नहीं होगा और यदि वह शिवत्व के परे चला गया है, तो उसे धर्म के परे भी जाना होगा।[2]

धर्म में विद्यमान असंगति को नष्ट करते हुये ब्रैडले कहते हैं कि इसमें कोई संदेह नहीं कि धर्म जीवन के विविध पक्षों को समन्वित करने की चेष्टा करता हैं। इस संपूर्ण को यथार्थत: शुभ होना चाहिये और साथ ही शिवत्व की प्राप्ति के लिये भी प्रयत्नशील होना चाहिये। इनमें से कोई भी पक्ष ऐसा नहीं है जिसे आभास कहा जाय। पुन: इनमें से दोनों पक्षों को समन्वित करना भी कठिन है। और यदि धर्म के उद्देश्य को सीमित और अपूर्ण मान लिया जाय तो भी असंगति रहेगी ही।

1, Ibid., P. 391.

"For if the whole is still good, it is not harmonious if it has gone beyond goodness, it has carried us also beyond religion." —Ibid.; P. 39.

ब्रैडले नैतिकता में उपस्थित विरोधाभासा को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि यदि भक्त अपने लक्ष्य को—ईश्वर से पूर्ण तादात्म्य को—पूर्णतः प्राप्त कर ले तो भक्ति की आवश्यकता और अनन्ततः उसकी सत्ता भी लुप्त हो जायेगी। अन्य शब्दों में इसलिए कि भक्त अपने स्वरूप को बनाये रखे यह आवश्यक है कि भक्त अपने उपास्य देव से अपनी पृथकता को भी किसी न किसी रूप में बनाये रखे और इसका सीधा अर्थ यह होगा कि अपने सभी प्रयासों के बावजूद भक्त अपने लक्ष्य की प्राप्ति में उपास्यदेव से अनन्यता स्थापित करने में पूर्णतः सफल न हो सके।[1]

निष्कर्षतः ब्रैडले कहते हैं कि प्रत्येक प्रकार का शिवत्व अपने सार के अतिक्रमण के लिये भीतर से प्रेरित होता है। इसलिए वह आभास है। ब्रैडले आगे कहते हैं कि धर्म का केन्द्र श्रद्धा की भावना है 'सब कुछ पूर्ण है' यह श्रद्धा की ही चीज है। पर उसमें विश्वास का सतत निर्माण होता रहता है। पर इसके साथ विश्वास की परिधि में कार्य इस प्रकार होता है मानो यह विश्वास निराधार है। स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि इसमें व्यवहार का मूलसूत्र यह है कि इस बात का निश्चय कर लो कि शिवत्व का विरोध अभिभूत है। किन्तु ऐसे आचरण करो मानो वह अभी विद्यमान है। इस प्रकार धार्मिक चेतना का आधारभूत विश्वास ऐसे विरोधों को समन्वित करने की चेष्टा करता है। जिनका समन्वय संभव नहीं है। यह आंतरिक असंगति धर्म के सारे क्षेत्र में व्याप्त है।[2]

पुनः ब्रैडले कहते हैं कि सिद्धान्ततः तो धर्म में असंगति है ही व्यवहारतः भी उसमें कठिनाइयां हैं, एक ओर धर्म यदि विश्व में अथवा स्वयं में विद्यमान असंगति की ओर ध्यान देता है तो वह अपने में निहित पूर्णत्व एवं शांति खो बैठता है साथ ही वह वैयक्तिक संकल्प और शुभ के अन्तर को भी विस्मृत कर सकता है। दूसरी ओर यदि वह इन दोनों के अन्तर पर बल देता है तो वह मात्र नैतिकता के स्तर पर अपने को अवस्थित कर देता है। पुनः यदि

1. "For if the end desired by devotion were thoughly accomplished the need for devotion therefore its reality would have ceased; In short a self other than the object must and must not survive........."

—Ibid., p. 391-392.

2. "The religious consciousness rests on the left unity of unreduced opposites." —Ibid., p. 392.

वह विश्व में विद्यमान संगति को ही केवल महत्वपूर्ण मान लेता है और असं-गति की अवहेलना करता है, तो वह पुनः कष्ट का अनुभव करता है क्योंकि यह मानते हुए कि सभी कुछ इस जगत में शुभ है कुछ भी अशिव नहीं। वह अपने व्यवहार में नैतिक मूल्यों की अवहेलना कर सकता है और इस प्रकार वह अधार्मिक हो सकता है।[1]

पुनः यदि धर्म की यथार्थ अभिव्यंजना तथा धार्मिक जीवन की ओर ध्यान दें तो भीतर से कभी-कभी ग्लानि होगी। जो विरोध के लिए भी हमें प्रेरित कर सकती है। फलस्वरूप हमारे भीतर उसके प्रति अनास्था भी विक-सित हो सकती है। पर इस सबके वावजूद यदि जैसा कि प्रस्तुत किया जा चुका है। धर्म एक आवश्यकता है, इस प्रकार की प्रतिक्रियाओं की अवहेलना करनी होगी। ब्रैंडले कहते हैं मैंने तो इन पृष्ठों में केवल एक ही बात पर बल दिया है कि नैतिकता की भांति धर्म भी अन्तिम नहीं। इसलिए आभास है और असंगत है। पर धर्म में अनैतिक अन्ततः अधार्मिक होने का प्रश्न ही नहीं होता। यह आंतरिक असंगति प्रस्तुत करते हुए अपने निष्कर्ष में ब्रैडले कहते हैं "यदि धर्म के नैतिकता से अधिक कुछ प्राप्त करना एक सामान्य कर्तव्य है तो और अधिक आग्रहपूर्वक नैतिक होना एक धार्मिक कर्तव्य है। परन्तु इनमें से प्रत्येक ही किसी भिन्न स्तर पर, शिवत्व की एक शैली और अभिव्यक्ति हैं और जैसा कि हम देख चुके हैं शिवत्व परम तत्व का एक आत्म-विरोधी आभास है।"

अब हम धर्म में व्यक्ति और ईश्वर के सम्बन्ध को लेते हुए उसमें विद्य-मान असंगति को स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे।

धर्म, मनुष्य तथा ईश्वर के बीच 'सम्बन्ध' को स्वीकार करता है। पर सम्बन्ध की कल्पना में सदैव आत्म-विरोध विद्यमान रहता है—यह आभास खण्ड के एक स्वतंत्र अध्याय में स्पष्ट किया जा चुका है। उसमें सदैव दो पद अपे-क्षित होते हैं और ये दोनों पद परिमित होते हैं और साथ ही एक दूसरे से स्वतंत्र होने का दावा करते हैं। पर दूसरी ओर दो पद यदि सम्बन्धित है तो

---

1. "If it was a moral duty to find more than morality is religlon, it is even more emphatically, a religious duty still to be moral. But each of these is a mode and an expression at a different stage of the good, and the good as we have found is a self-contradictory apperance of the absolute." —Ibid., p, 394,

उन्हें उनकी सार्थकता तभी प्राप्त होगी यदि वे तथा उनके बीच का संबंध एक वृहत एकत्व के विशेष के रूप में प्रस्तुत हो सके। पुनः इस असंगति का निराकरण हमें अनिवार्यतः संबंधात्मक दृष्टिकोण के अतिक्रमण के लिए विवश करेगा।

ब्रैडले कहते हैं पद एवं संबंध के ये सामान्य निष्कर्ष धर्म के संदर्भ में भी एक बार फिर सिद्ध होते हैं। मनुष्य की ओर से यदि हम धर्म की स्वीकृतियों का का अध्ययन करें तो देखगे कि मनुष्य ससीम है और इस नाते ईश्वर से वह पृथक् है। पर इसके साथ ही वह उससे सम्बन्ध भी है। पुनः वह संबद्ध ही नहीं प्रत्युत एक ऐसा अस्तित्व है जो ईश्वर पर निर्भर हैं। उससे पृथक् उसके अस्तित्व की कल्पना एक आकर्षण मात्र है। इसी सत्य को वह 'ग्रेस' यानी 'अनुकंपा' के प्रत्यय में बांधने की चेष्टा करता हैं। पुनः यदि ईश्वर की ओर से धर्म को प्रस्तुत किया जाय तो उसके अनुसार ईश्वर एक परिमित इकाई है जो मनुष्य से अपने पृथकत्व को बनाये रखती है। इस रूप में उसका अपना एक व्यक्तित्व है। पर यदि उन सारे संबंधों से उसे मुक्त कर दिया जाय, जिनके आधार पर विश्व से और अन्ततः मनुष्य से उसे सम्बन्धित माना जाता है, तो वह शून्यप्राय हो जायेगा।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि दोनों ही दृष्टियो से ईश्वर और व्यक्ति की एकता का स्वरूप संबंधों का अतिक्रमण करता हुआ दिखलाई देता है। पर धर्म के स्तर पर वह एकता पृथक्कृत तत्वों में वितरित दिखलाई देता है। साथ ही इन पृथक्कृत तत्वों में वह पूर्णतः विलीन नहीं हो जाती पर किसी न किसी प्रकार उन तत्वों को संयुक्त करते हुए उनके माध्यम से अपने को व्यंजित करने की चेष्टा करती है। यह भी स्पष्ट है कि इस प्रयास के बावजूद इन पृथक्कृत तत्वों के माध्यम से वह अपने स्वरूप को प्राप्त नहीं करती। उसमें असंगति विद्यमान रहती है। इसी तथ्य को वे यह कहकर व्यक्त करते हैं कि धर्म आभास है, यही नहीं उसकी अपनी निष्पत्ति के लिये यह आवश्यक है कि वह परम सत् में रूपांतरित हो जाय। पर इस रूपांतरण में धर्म और शुभता दोनों ही अनिवार्यतः अपने वर्तमान स्वरूप का अतिक्रमण कर लेंगे।[1]

अतः इसके अतिरिक्त विश्व में ईश्वर का स्थान एक दूसरी असंगति है। अतः निष्कर्षतः हम यह कह सकते हैं कि "धर्म में ईश्वर ईश्वर अपने से परे

1. Ibid., P. 394 395.

पहुंच जाता है। वह अनिवार्यतः अपना अवसान उस परम तत्व में पाता है जिसको कि धर्म ईश्वर नहीं मानता।"[१]

धार्मिक चेतना उसी ईश्वर को अपना ईश्वर स्वीकार करती है, जो परिमित होते हुए भी ससीम सत्ता है और मनुष्य के लिये एक विषय है धार्मिक चेतना उसी ईश्वर को परिपूर्ण मानती है। विपरीततः जिस निष्पत्ति की वह कल्पना करता है, वह इन दोनों पदों की पूर्ण एकता है। यदि ऐसा है तो ईश्वर के बाहर कुछ भी नहीं होना चाहिये और यदि यह सत्य है तो धर्म द्वारा समर्थित ईश्वर के रूप का अतिक्रमण अनिवार्य हो जाता है यानी इस एकत्व का समर्थन, उनके पदों एवं सम्बन्धों के माध्यम से प्रस्तुत रूप की निश्चयात्मक अस्वीकृत होगी तब धर्म और शुभ दोनों ही विलुप्त हो जायेंगे। और ऐसी एकता जिसे ब्रैडले परम सत् कहते हैं, तब धर्म का ईश्वर नहीं होगा और यदि हम उसे एक ससीम सत्ता ही मान लें तो वह अन्ततोगत्वा एक सर्व सतत् प्रयत्नशील हैं कि उसकी यह बाध्यता आन्तरिकता में परिवर्तित हो जाय। यह उसके अपने स्तर पर संभव नहीं है क्योंकि धार्मिक चेतना न्यूनाधिक मात्रा में इस सम्बद्धता की अपेक्षा करती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि धार्मिक चेतना की मूल समस्या यही है कि परम तत्व से कम रहकर ईश्वर संगत नहीं रह सकता और उस लक्ष्य को प्राप्त करके वह समाप्त हो जाता है तथा उसके साथ उसका धर्म भी विलीन हो जाता है। इसलिये ब्रैडले का कहना है कि यदि धर्म में मनुष्य और ईश्वर के बाह्य सम्बन्ध अन्तर्लीन कर दिये जायें तो विषयी और विषय का पार्थक्य दूर हो जायेगा किन्तु बाह्य सम्बन्ध के अभाव में कोई भी धर्म धर्म नहीं रह जायेगा। अतः धर्म के ईश्वर के लिये यह आवश्यक है कि वह एक ससीम सत्ता के रूप में ही अस्तित्ववान रहे और इस रूप में वह परम तत्व का एक पक्ष या आभास ही है।[२]

अंत में शिवत्व को उपरोक्त सारे संदर्भों में विश्लेपित करके ब्रैडले इस निष्कर्ष को प्रस्तुत करते हैं कि अन्तिम सत्ता यानी परम तत्व ही एक-

---

1. "In religion God tends always to pass beyond himself He is necessarily led to end in the Absolute which for religion is not god." —*Ibid.*, Page 395
2. Ibid., p. 396-97.

मात्र सत् और पूर्ण हैं। शेष अन्य सभी ससीम सत्ताओं के रूप में भासित होने वाले आभास हैं। अतः शिवत्व भी चरम तत्व का एक पक्ष और आभास है।

७ परम सत् और उसके आभास

प्रस्तुत शीर्षक के अन्तर्गत ब्रैडले सत् एवं तथ्यात्मक जगत सम्बन्धी अपने निष्कर्षों को स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं। तथ्यात्मक जगत के लिये वे 'आभास' शब्द का प्रयोग करते हैं। उनके अनुसार 'आभास' शब्द का अर्थ किसी ऐसी सत्ता को प्रस्तुत नहीं करता जो असत् हो, कोरी काल्पनिक हो और इस नाते मूल्यविहीन हो। यह 'ध्वनि' जो इस शब्द के प्रयोग के साथ सामान्यत: जुड़ी रहती है सर्वथा अनुचित है और इससे हमें सतर्क रहना चाहिये। वस्तुत: ब्रैडले ने शांकर वेदान्त के 'माया' शब्द की भांति ही आभास शब्द का प्रयोग किया है। दोनों की निषेधात्मक ध्वनि एक ही है। दोनों के अनुसार वह आभास हैं, जो एक विशेष संदर्भ में सत् हो पर जिसे इसी कारण अन्तिमता प्रदान करना हमारे लिये सम्भव न हो। पुन: इस सन्दर्भ को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि वह व्यावहारिक जीवन से सम्बद्ध बौद्धिक चेतना है। यह चेतना वस्तुनिष्ठ, मूलत: विमर्शात्मक एवं सम्बन्धात्मक है, अतएव वह अपने विषय-यानी सत् को अनगिनत अंशकों में वितरित करके पुन: कृत्रिम सम्बन्धों से उन्हें सम्बन्धित करते हुए प्रस्तुत करती है। यह पद्धति इस चेतना की अपनी विशिष्ट पद्धति है और विशेष प्रयोजन की दृष्टि से ही अपनी सार्थकता रखती है। इस प्रयोजन तथा इससे सम्बन्धित उसकी सार्थकता का स्पष्टीकरण अनेक बार अनेक प्रसंगों में प्रथम खंड में (आभास) ब्रैंडले कर चुके हैं। अन्य शब्दों में यह प्रयोजन व्यावहारिक जीवन की सफलता है और इस दृष्टि से ही इस चेतना की क्रियाविधि अपनी सार्थकता रखती है। पर इस सीमित अर्थ में सार्थकता रखते हुए भी विचार स्वयं अपनी उपलब्धि से संतुष्ट नहीं हैं। फलत: आलोचनात्मक अनुचिंतन के माध्यम से वह अपनी उपलब्धियों पर स्वयं असंतोष व्यक्त करता है। इस उन्नत बिन्दु से जिन भी कोटियों के माध्यम से विचार सत् को प्रस्तुत करता है वह आभास ही है।

'आभास' का अर्थ :

स्पष्ट है कि 'आभास' का अर्थ है—वह जो प्रतीत होता है, यानी

जिसकी तथ्यता से इंकार करना असम्भव हो पर जिसे आंतरिक बिसंगति एवं सापेक्षता के कारण अंतिमता प्रदान न की जा सके। हमें स्मरण रखना चाहिये कि सामान्य बुद्धि और विज्ञान में जिस प्रकार तथ्य की तथ्यता को स्वीकार किया जाता है, ठीक उसी रूप में ब्रैडले ने भी आभास शब्द के प्रयोग द्वारा उसकी तथ्यता को स्वीकार किया है। यही नहीं, इस शब्द के माध्यम से ब्रैडले इन तथ्यों की एक अन्य विशेषता की ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं, जिसकी ओर सामान्यतः हमारा ध्यान नहीं जाता प्रत्येक तथ्य में तद्-किम् की समुपस्थिति के कारण एक आंतरिक विरोध विद्यमान रहता है। क्योंकि 'किम्' पक्ष के लिये तद् की सीमाओं में आबद्ध रहना सम्भव नहीं। वह उन सीमाओं का अतिक्रमण करते हुए सतत विस्तारित होता रहता है और इस प्रकार सतत विस्तारित होते हुए पुनः किसी भी बिन्दु पर तदता को प्राप्त नहीं करता। यही कारण है कि इस प्रकार विस्तारित होते हुए वह एकपक्षीय हो जाता है। फलतः अपने किन्हीं भी रूपों से उसे अन्तिमता प्रदान की जा सकती।[1] पर इस एकपक्षीयता को उसे बोध है और उसे दूर करने के लिये वह सतत प्रयत्नशील रहता है। इस एकपक्षीयता को दूर करने के उसके प्रयास की तुलना, ब्रैडले, होम्योपैथिक विधि से—जिसमें रोग तीव्रीकरण द्वारा ही उससे छुटकारा प्राप्त किया जाता है, करते हैं। स्पष्ट है कि यद्यपि भेदों को और अधिक सूक्ष्म और सघन बनाने के इस प्रयास के पीछे उसकी इच्छा अपने को संपूर्ण बनाने की है फिर भी अपने धरातल पर मात्र किम् के विस्तार द्वारा, वह उस वांछित संपूर्णता को प्राप्त नहीं कर पाता। तथ्य की इसी विशेषता को ब्रैडले 'आभास' शब्द के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं? तथ्य सापेक्ष हैं—एक दूसरे को पूरक तत्वों के रूप में स्वीकार करने की ओर प्रवृत हैं और यही प्रवृत्ति एक ऐसी निरपेक्ष पूर्णता की ओर सिद्धान्ततः संकेत करती है, जिसमें वे सभी अपनी संपूर्णता एवं सार्थकता को प्राप्त कर लेंगे।

अध्यात्मवाद के विरुद्ध वस्तुवाद—यानी यथार्थवाद की प्रारम्भ से ही यह आपत्ति रही है कि अध्यात्मवाद इस ठोस जगत की तथ्यता का निषेध करता है। किन्तु उपरोक्त प्रस्तुति से यह स्पष्ट हो गया होगा कि किस अर्थ

1. "And this self-contradiction, this unrest and ideality if all things existing is a clear proof that, though such things are, their being is but appearance."
—Appearance and Reality, p. 404.

में अध्यात्मवाद तथ्यात्मक जगत को स्वीकार करता है और पुन: किस कारण से उसका निषेध करता है। पुनरावृत्ति के दोष के बावजूद यह कहना अनुचित न होगा कि प्रत्येक तथ्य की तथ्यता (इजनेस) आंतरिक रूप से स्वातिक्रमणीय है। अन्य शब्दों में गतिमान या परिवर्त्य है और इस स्वातिक्रमणीयता के माध्यम से वह अपनी पूर्व अविभाज्य संपूर्णता को समर्थित करने की इच्छुक है। इन्हीं दो निष्कर्षों के आधार पर सिद्धांतत: वे एक निरपेक्ष संपूर्णता के अस्तित्व का समर्थन करते हैं जो इन सभी तथ्यों को अपने आत्मसात् करते हुए उन्हें उनकी सार्थकता प्रदान करता है। यही परम निरपेक्ष सत् है।

उपरोक्त प्रस्तुति के आधार पर आभास और सत् की अनिवार्य सम्बद्धता किंचित् स्पष्ट हुई होगी। इस सम्बद्धता का अन्तत: क्या रूप है, और इससे सम्बद्ध भ्रांतियां क्या हो सकती हैं, इस पर आगामी खंडों में प्रकाश डाला जायेगा। पर तुलनात्मक दृष्टि से यहाँ पर इतना कहना पर्याप्त होगा कि भारतीय वेदांतीय दार्शनिक दृष्टि के अन्तर्गत जो त्रिकालाबाधित है, यानी जिसका भूत, वर्तमान एवं भविष्य तीनों में से किसी में भी निरपेक्ष न हो वही सत् है। शेष सभी आभास है। पर ब्रैडले के अनुसार जो आंतरिक विसंगति से युक्त है, वह आभास है। उनकी दृष्टि में सभी तथ्य इस विसंगति को विस्तारित होकर—यानी जो 'अन्यत' हैं, उसे अपने में आत्मसात् करके, दूर करते हैं। प्रतिमान की दृष्टि से दोनों दृष्टियां एक दूसरे से भिन्न दीखती हैं, परन्तु निष्कर्ष की दृष्टि से वे एक ही हैं। क्योंकि दोनों ने ही व्यवसायात्मिका बुद्धि तथा उससे सम्बन्धित जगत को अंतिमता प्रदान करने से इंकार किया है। पर एक विशेष दृष्टिकोण से ब्रैडले की दार्शनिक दृष्टि सामान्य व्यक्तियों की समाज की दृष्टि से अधिक उपयोगी प्रतीत होती है। वह परम सत् की अंतिवर्तिता तथा अंतर्वर्तिता—दोनों का ही बड़े सुन्दर ढंग से समर्थन करती है, जबकि अद्वैत वेदांत के विरुद्ध सामान्यत: यह आपत्ति लायी जाती है कि उसका 'ब्रह्म' जगत के निषेध द्वारा ही अनुभूत होता है और ब्रह्म तथा जगत के बीच किसी प्रकार का भावात्मक सम्बन्ध ही नहीं है।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि ब्रैडले 'आभास' शब्द से जगत की तथ्यता का निषेध नहीं करते बल्कि तथ्यों की कतिपय विशेषताओं को स्पष्ट करते हैं जिनके कारण उन्हें अंतिमता नहीं प्रदान की जा सकती है। सभी तथ्य अपने अंतर्विषय के अनिवार्य संकेतों के कारण अन्य तथ्यों को अपने में समाविष्ट करने की ओर प्रवृत्त दिखायी देते हैं और इस प्रकार अन्य

से अपनी सम्बद्धता के कारण सिद्धांततः एक सर्वव्यापक परम सत्ता की ओर संकेत करते हैं जो सभी कुछ को समाविष्ट करती हुई उन्हें उनकी परिपूर्णता प्रदान करती है।

परम सत् का स्वरूप : 'आभास से उसकी अनिवार्य सम्बद्धता :

पर सभी कुछ को समाविष्ट करती हुई सभी को उनकी परिपूर्णता प्रदान करने वाली—इस एकता के सम्बन्ध में हमारे मन में अनेक भ्रांतियां उत्पन्न हो सकती हैं। क्योंकि हम सामान्यतः सभी कुछ को मन एवं बुद्धि की कोटियों के आधार पर ग्रहण करते हैं। पर यह सत्ता बुद्धि यानी संबंधात्मक चेतना के लिये एक अतिवर्ती चेतना है।[1] इस कारण जिन कोटियों के माध्यम से हम सत्ता को ग्रहण करने के अभ्यस्त हैं, उनसे हमें मुक्त होना होगा—तभी हम इसके स्वरूप के साथ न्याय कर सकेंगे।[2]

इस अति-सम्बन्धात्मक अव्यवहितत्व को ब्रैडले व्यावहारिक जगत की प्रत्येक इकाई में अन्तवर्ती मानते हैं। वह विचार में भी अन्तवर्ती है, यही कारण है

---

१. किस अर्थ में यह अतिवर्ती है और किस अर्थ में अन्तवर्ती है—यह पिछले अध्याय—'विचार और सत्' में विस्तार के साथ स्पष्ट किया जा चुका है।

२. समकालीन पाश्चात्य दर्शन में फेनामेनालाजिकीय अन्तर्दृष्टि विशेष महत्वपूर्ण है, और यदि ब्रैडले के 'अतिसंबंधात्मक चेतना' या 'अनुभूति' के साथ न्याय करना है तो हमें इस अन्तर्दृष्टि में प्रस्तुत उसके रूप को समझना होगा। हमारा यह कहने का तात्पर्य नहीं कि दोनों दृष्टिकोण सिद्धान्ततः एक ही है, पर इस बात को वर्तमान प्रसंग में महत्वपूर्ण मानना ही चाहिये कि चेतना को समझने के लिये हमें अपने पूर्वाग्रहों से मुक्त होना होगा। और उन पूर्वाग्रहों में सबसे महत्वपूर्ण पूर्वाग्रह है इस जगत के अस्तित्व में सहज विश्वास। फेनोमेनालाजी का कहना है जगत से सम्बन्धित इस विश्वास के निलम्बन के उपरांत ही चेतन सत्ता और सम्बद्ध तथ्यों का हमें अहसास हो सकता है। स्पष्ट है इस अहसास में बुद्धि तथा उसकी कोटियों का कोई स्थान न होगा—वह संबंधात्मक बोध से भिन्न बोध की स्थिति होगी। ब्रैडले इसी निष्कर्ष को प्रस्तुत करते हैं।

कि उसके स्वरूप का अनावरण यूं तो प्रत्येक के माध्यम से हो सकता है पर तत्वमीमांसीय अनुसंधान में विचार के माध्यम से उसके अनावरण का विशेष महत्व है और इस महत्व पर पर्याप्त प्रकाश वे 'भूमिका' में दे चुके हैं।

पुन: हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि यद्यपि प्रत्येक इकाई—छोटी या बड़ी, स्थूल अथवा सूक्ष्म, में वह विद्यमान है और विद्यमान ही नहीं सक्रिय है, फिर भी उसकी अभिव्यंजना सभी में समान रूप से नहीं है। अन्य शब्दों में जिस अनुपात में उसकी अभिव्यंजना किसी इकाई विशेष में हुई है, उसी अनुपात में वह इकाई सत् है और मूल्यवान है। इसी को यूं भी व्यक्त किया जा सकता हैं कि जिस अनुपात में रूपांतरित होकर वह सत् रुप में अवस्थित होती—यानी विसंगतियों का विलय करते हुए सम्पूर्णता को प्राप्त करेगी, उसी अनुपात में वह सत् कहलायेगी। यदि रूपांतरण अधिक है—यानी इतना अधिक रूपांतरण है कि इकाई अपने सम्पूर्ण वैशिष्ट्य का विलय कर देती है और रूपांतरित होकर पहचानी नहीं जाती, तो समझ लेना चाहिये कि उसमें सत् न्यूनतम अनुपात में है। विपरीतत: यदि रूपांतरण कम है तो सत अपेक्षाकृत अधिक अनुपात में हैं। आभासी इकाइयों की इसी विशेषता को ब्रैडले अपने सिद्धांत 'सत्य एवं सत्' की मात्रायें (डिग्रीज आफ ट्रूथ एवं रियेलिटी) में प्रस्तुत करते हैं।[1]

इसी सिद्धान्त को एक अन्य कोण से प्रस्तुत करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि परम सत में कोई भी आभास उपेक्षित नहीं, न ही वह सर्वथा अपने अस्तित्व का विलय करता है। सम्पूर्ण की एकता में प्रत्येक का योग है इसीलिये उसके लिये प्रत्येक अनिवार्य है।[2] पर इसमें वे अपने वैशिष्ट्य के समर्पण के बाद ही सम्मिलित होती है।[3] इन कथनों के बावजूद हमें इनसे सम्बद्ध भ्रांति

---

1. देखिये अध्याय–६
2. "In the Absolute no appearance can be lost. Each one contributes and is essential to the unity of the whole."
   —Ibid., p. 404.
3. "There is but one Reality and its being consists in exp rience. In this one whole all appearances come togetl and in coming together they in various degrees lose th distinctive natures. The essence of reality lies in the uni and agreement of existence

Cont

से मुक्त रहना चाहिये । समस्त इकाइयां उस परम सत् का इस रूप में निर्माण नहीं करतीं, जिस रूप में रेडियो के घटक रेडियो का निर्माण करते हैं। इसी बात को ब्रैडले अपनी अद्वितीय शैली में प्रस्तुत करते हुये कहते हैं 'परम सत् में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो केवल आकस्मिक या अतिरिक्त हो।'[1]

यह सही है कि घटनाओं की संगति हम अपने सीमित दृष्टिकोण के आधार पर नहीं स्थापित कर सकते। इसलिए बहुत सी बातों के औचित्य का समर्थन हमारे लिये व्यवहारतः और सिद्धान्ततः—दोनों ही दृष्टियों से असम्भव होता है। कभी-कभी तो हम प्रत्येक बातों के औचित्य को अपने तात्कालिक स्वार्थ के बिन्दु से स्थापित करना चाहते हैं। फलस्वरूप जीवन में हमारी आस्था ही खो जाती है। पर हमने यह भी देखा कि इस अत्यधिक सीमित दृष्टि का अतिक्रमण करते ही बहुत सी घटनायें जिन्हें हम अनुचित मानते थे, उचित प्रतीत होने लगती है।[2]

बहुत बार दुखात्मक अनुभूतियों की दुखात्मकता—जब हम उनसे उबर आते हैं, भावी सुख एवं कल्याण की दृष्टि से अनिवार्य प्रतीत होती है—और उस समय अनुभूत दुख की तीव्रता का भी तब तक विलय हो चुकता है। इसलिए केवल दृष्टि के बदल देने से उसे थोड़ा और व्यापक बना लेने से जो पहले असंगतिपूर्ण प्रतीत होता था वह संगतिपूर्ण प्रतीत होने लगता है। इसी प्रकार यदि व्यवसायात्मिका बुद्धि का अतिक्रमण हो जाय और सिद्धान्ततः ब्रैडले ने इस संभावना को स्वीकार किया है, तो जो अभी असंगतिपूर्ण प्रतीत

---

and content, and, on the other side, appearance consists in the discrepancy between these two aspects. And reality in the end belongs to nothing but the single real."

—Ibid., p. 403.

1. "There is nothing in the Absolute which is barely contingent or mearly accessory." —Ibid., p. 404.
2. "And thus, while you take your stand on some one valuable factor, the others appear to you to be means which subserve its existence. Certainly your position in such an attitude is one-sided and unstable. The other factors are not external means to, but are implied in, the first, and your attitude, therefore, is but provisional and in the end untrue."

—Ibid., p. 404.

कि उसके स्वरूप का अनावरण यूं तो प्रत्येक के माध्यम से हो सकता है पर तत्वमीमांसीय अनुसंधान में विचार के माध्यम से उसके अनावरण का विशेष महत्व है और इस महत्व पर पर्याप्त प्रकाश वे 'भूमिका' में दे चुके हैं।

पुनः हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि यद्यपि प्रत्येक इकाई—छोटी या बड़ी, स्थूल अथवा सूक्ष्म, में वह विद्यमान है और विद्यमान ही नहीं सक्रिय है, फिर भी उसकी अभिव्यंजना सभी में समान रूप से नहीं है। अन्य शब्दों में जिस अनुपात में उसकी अभिव्यंजना किसी इकाई विशेष में हुई है, उसी अनुपात में वह इकाई सत् है और मूल्यवान है। इसी को यूं भी व्यक्त किया जा सकता है कि जिस अनुपात में रूपांतरित होकर वह सत् रूप में अवस्थित होती—यानी विसंगतियों का विलय करते हुए सम्पूर्णता को प्राप्त करेगी, उसी अनुपात में वह सत् कहलायेगी। यदि रूपांतरण अधिक है—यानी इतना अधिक रूपांतरण है कि इकाई अपने सम्पूर्ण वैशिष्ट्य का विलय कर देती है और रूपांतरित होकर पहचानी नहीं जाती, तो समझ लेना चाहिये कि उसमें सत् न्यूनतम अनुपात में है। विपरीततः यदि रूपांतरण कम है तो सत अपेक्षाकृत अधिक अनुपात में है। आभासी इकाइयों की इसी विशेषता को ब्रैडले अपने सिद्धांत 'सत्य एवं सत्' की मात्रायें (डिग्रीज आफ ट्रुथ एवं रियेलिटी) में प्रस्तुत करते हैं।[1]

इसी सिद्धान्त को एक अन्य कोण से प्रस्तुत करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि परम सत में कोई भी आभास उपेक्षित नहीं, न ही वह सर्वथा अपने अस्तित्व का विलय करता है। सम्पूर्ण की एकता में प्रत्येक का योग है इसीलिये उसके लिये प्रत्येक अनिवार्य है।[2] पर इसमें वे अपने वैशिष्ट्य के समर्पण के बाद ही सम्मिलित होती हैं।[3] इन कथनों के बावजूद हमें इनसे सम्बद्ध भ्रांति

---

1. देखिये अध्याय–९
2. "In the Absolute no appearance can be lost. Each one contributes and is essential to the unity of the whole." —Ibid., p. 404.
3. "There is but one Reality and its being consists in experience. In this one whole all appearances come together and in coming together they in various degrees lose their distinctive natures. The essence of reality lies in the union and agreement of existence

Contd.

से मुक्त रहना चाहिये। समस्त इकाइयां उस परम सत् का इस रूप में निर्माण नहीं करतीं, जिस रूप में रेडियो के घटक रेडियो का निर्माण करते हैं। इसी बात को ब्रैडले अपनी अद्वितीय शैली में प्रस्तुत करते हुये कहते हैं 'परम सत् में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो केवल आकस्मिक या अतिरिक्त हो।'[1]

यह सही है कि घटनाओं की संगति हम अपने सीमित दृष्टिकोण के आधार पर नहीं स्थापित कर सकते। इसलिए बहुत सी बातों के औचित्य का समर्थन हमारे लिये व्यवहारत: और सिद्धान्तत:—दोनों ही दृष्टियों से असम्भव होता है। कभी-कभी तो हम प्रत्येक बातों के औचित्य को अपने तात्कालिक स्वार्थ के बिन्दु से स्थापित करना चाहते हैं। फलस्वरूप जीवन में हमारी आस्था ही खो जाती है। पर हमने यह भी देखा कि इस अत्यधिक सीमित दृष्टि का अतिक्रमण करते ही बहुत सी घटनायें जिन्हें हम अनुचित मानते थे, उचित प्रतीत होने लगती है।[2]

बहुत बार दुखात्मक अनुभूतियों की दुखात्मकता—जब हम उनसे उबर आते हैं, भावी सुख एवं कल्याण की दृष्टि से अनिवार्य प्रतीत होती है—और उस समय अनुभूत दुख की तीव्रता का भी तब तक विलय हो चुकता है। इसलिए केवल दृष्टि के बदल देने से उसे थोड़ा और व्यापक बना लेने से जो पहले असंगतिपूर्ण प्रतीत होता था वह संगतिपूर्ण प्रतीत होने लगता है। इसी प्रकार यदि व्यवसायात्मिका बुद्धि का अतिक्रमण हो जाय और सिद्धान्तत: ब्रैडले ने इस संभावना को स्वीकार किया है, तो जो अभी असंगतिपूर्ण प्रतीत

---

and content, and, on the other side, appearance consists in the discrepancy between these two aspects. And reality in the end belongs to nothing but the single real."

—Ibid., p. 403.

1. "There is nothing in the Absolute which is barely contingent or mearly accessory." —Ibid., p. 404.
2. "And thus, while you take your stand on some one valuable factor, the others appear to you to be means which subserve its existence. Certainly your position in such an attitude is one-sided and unstable. The other factors are not external means to, but are implied in, the first, and your attitude, therefore, is but provisional and in the end untrue."

—Ibid., p. 404.

ब्रैडले सुख और दुख की सापेक्षता को पुनः सिद्ध करने के लिए एक और युक्ति प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार सुख तथा दुख वस्तुतः स्वतंत्र अनुभूतियां भी नहीं हैं। वस्तुतः वे सुखात्मक तथा दुखात्यक विषयों में से अपकर्षण की प्रक्रिया के आधार पर अपकर्षित पक्ष विशेष है। सुख और दुख का मात्र अनुभूति के रूप में अपना कोई अस्तित्व नहीं होता। वस्तुतः हमारी कोई अनुभूति सुखद और कोई दुखद होती है पर उसके साथ अन्य तत्व भी सम्मिलित होते हैं। इसी बात को ध्यान में रखते हुये संभवतः ब्रैडले ने कहा है कि हर अनुभूति का एक सुखात्मक स्वर होता है।[1] अपनी अनुभूतियों से ही हम सुखात्मकता एवं दुखात्मकता को अपकर्षित करके उसे स्वतः प्रस्तुत करते हैं। अतः इसी कारण उसे अन्तिमता नहीं प्रदान की जा सकती है। इस प्रकार ब्रैडले सुख और दुख की अनुभूति को सापेक्ष अनुभूति होने के कारण आभास मानते हैं और उसे परम सत् की अनुभूति में कोई स्थान नहीं देते हैं।

भावना :

सुख और दुख के पश्चात् भावना का विश्लेषण प्रस्तुत करते हुये ब्रैडले कहते हैं कि एक महत्वपूर्ण अर्थ में भावना मूल एवं प्रारम्भिक है क्योंकि शेष सभी अनुभूतियों का इससे उद्भव हुआ है। इस दृष्टि से इसे पूर्व सम्बन्धात्मक या अधो-सम्बन्धात्मक कहना उचित होगा। पूर्व सम्बन्धात्मक चेतना[2] अस्पष्ट बोध को प्रस्तुत करती है। भारतीय दर्शन में 'निर्विकल्प-प्रत्यक्ष इसके निकट आता है।

---

real, but are they real at all as such and independently of the rest ? For pleasure and pain are antagonistic and when in the whole they have come together with a balance of pleasure as such."   Ibid., p, 406.

1. "For these are mere abstractions which we separate from the pleasent and the painful and to suppose that they are not connected with those states and processes, with which they are always conjoined, would be plainly irrational, indeed plasure and pain as things by themselves would contradict their known character."

   —Ibid., p. 406.

2. Pre-relational awareness.

ब्रैडले ने इसी पूर्ण सम्बन्धात्मक चेतना के लिये ही 'भावना' शब्द का प्रयोग किया है ? किन्तु पूर्व सम्बन्धात्मक चेतना मूल एवं प्रारम्भिक होने के बावजूद प्रत्यात्मकता के दोष से दूषित है। यदि हम पूर्व सम्बन्धात्मक चेतना के स्वरूप का अध्ययन करें तो देखेंगे कि यह अनुभूति सम्पूर्ण है--इसमें तद् और किम् अविभाज्य एकता की स्थिति में है। अन्य शब्दों में इन दोनों पक्षों की एकता अभी भंग नहीं हुई है ? लेकिन इसमें तद् और किम् के पृथकीकरण की प्रवृत्ति है। पूर्व सम्बन्धात्मक चेतना में विद्यमान न्यूनतम बोध स्पष्टतम बोध की ओर प्रवृत्त होता है और स्पष्टतम बोध की ओर प्रवृत्त होने के लिये यह आवश्यक है कि वह सम्बन्धात्मक स्तर की चेतना में रूपांतरित हो जाये। और रूपांतरण की इस प्रक्रिया में जब पूर्व सम्बन्धात्मक चेतना, सम्बन्धात्मक स्तर की चेतना का रूप लेती हैं, तो उसमें विद्यमान तद् और किम् पक्षों की मूल आरम्भिक एकता स्वयमेव नष्ट हो जाती है। तदुपरांत संबंधात्मक चेतना केवल किम् पक्ष को ही विकसित करती है।

अत: निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि जो अनुभूति अस्थायी हो, परिवर्तनीय हो और जिसे अन्य के सन्दर्भ में ही परिपूर्णता प्राप्त हो भले ही वह सापेक्ष परिपूर्णता ही क्यों न हो, वह किसी भी प्रकार से निरपेक्षत: परिपूर्ण नहीं हो सकती है। भावना के इस पक्ष को प्रस्तुत करते हुए ब्रैडले कहते है : आगे की घटनाओं का वह मूलाधार है परन्तु वह एक ऐसा आधार है जो उनको स्वयं की निरन्तर क्षति करके ही धारण कर सकता हैं।[1]

परन्तु अनुभूति के लिये भी ब्रैडले ने कहीं-कहीं भावना, अव्यवहितत्व और सचेतनता इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया है। इसलिये परम् अनुभूति और भावना के अलग-अलग अर्थों का स्पष्टीकरण आवश्यक है। भावना से ब्रैडले का तात्पर्य पूर्व सम्बन्धात्मक अनुभूति से है। इसी को ग्रीन ने शाश्वत

---

1. "It is the ground and foundation of further developments, but it is a foundation that bears them only by a ceaseless lapse from itself. Hence we could not, in any proper sense call these products its adjectives. For their life consists in the di-resumption of feelings unity, and this unity is not again restored and made good except in the absolute."

Ibid., p. 407.

आध्यात्मिक चेतना[1] कहा हैं जो देश, काल तथा सभी सम्बन्धों का अतिक्रमण करने वाली चेतना है और आनुभविक जगत का अधिष्ठान हैं। परम् अनुभूति के लिये ही ब्रैडले ने एक और शब्द का प्रयोग किया है, जिसे वे अतिसम्बन्धात्मक अनुभूति कहते हैं।

प्रात्यक्षिक अनुभूति :[2]

भावना के पश्चात् प्रात्यक्षिक अनुभूति की चर्चा करते हुए ब्रैडले उसे भी प्रत्यात्मकता के दोष से दूषित और अन्ततः आभास ही सिद्ध करते हैं। भावना के अन्दर, जैसाकि अभी कहा जा चुका है तद् और किम् की एकता भंग नहीं हुई, रहती अपितु भंग होने की दिशा में प्रवृत्त रहती है। जबकि प्रात्यक्षिक अनुभूति में वैविध्य स्पष्ट रूप से मुखरित होने लगता हैं और पूर्व अवस्था में समन्वित इकाइयां परस्पर स्वतन्त्र तथा पृथक हो जाती हैं। प्रात्यक्षिक चेतना में विषयी और विषय की विभाजन रेखाएं स्पष्ट होती है और विषयी अपने को विषय से पृथक् कर लेता है। वस्तुतः विषयी एवं विषय के द्वैत का आविर्भाव प्रात्यक्षिक चेतना की ही नहीं प्रत्युत् सभी प्रकार की सम्बन्धात्मक अनुभूतियों की सामान्य विशेषता है।

पुनः विषय रूप में प्रस्तुत किम् विषयी से स्वतन्त्र एवं पृथक होकर इस प में अपने अस्तित्व का समर्थन करता है मानो उसकी अपनी इकाई के निर्माण में प्रात्यक्षिक अनुभूति की प्रक्रिया का कोई हाथ नहीं है।[3] किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। मनोविज्ञान के बहुत सारे परीक्षणों के आधार पर अब यह सिद्ध हो गया है कि हम जिस किसी भी वस्तु का प्रत्यक्ष करते हैं वह

---

1. "Eternal spiritual principle."
2. Perceptual or theoretical experience.
3. But the perceptional relation is supposed to fall wholly outside the essence of the object for the reality as thought of or as perceived, in itself simply is. It may be given, or again sought for, discovered or reflected on, but all this however much there may be a fit is nothing to it: For the object only stands in relation, and emphatically in no sense is the relation in which it stands."

—Ibid., p. 408.

बहुत कुछ हमारी मनःस्थिति और रुचियों पर आधारित है। यहीं नहीं, ज्ञान-मीमांसीय दृष्टि से भी यही निष्कर्ष सहज प्रतीत होता है। यदि हम प्रात्यक्षिक अनुभूति के स्वरूप का अध्ययन करें तो स्पष्ट हो जायगा कि प्रात्यक्षिक प्रक्रिया का विषय के निर्माण में एक महत्वपूर्ण योगदान है। उसका स्पष्ट बोध हमें असामान्य प्रत्यक्ष में होता। और जब हम प्रात्यक्षिक से विमर्श मननात्मक अनुचिंतन की ओर अग्रसर होते हैं, तो यह और भी स्पष्ट हो जाता है।[1] इस प्रकार विषयी-विषय का सम्बन्ध आकस्मिक और वाह्य नहीं है जैसा कि प्रथम दृष्टि में प्रतीत होता है। बल्कि दोनों का सम्बन्ध आन्तरिक है लेकिन दोनों में आंतरिक सम्बन्धता होने के बावजूद दोनों एक-दूसरे से पृथक् दृष्टि-गत होते हैं। अतः प्रात्यक्षिक चेतना में विषयी के स्वरूप के इस विरोध का विलय उसके अपने स्तर पर संभव नहीं है।

यदि हम विषयी की अपेक्षा विषय की दृष्टि से प्रात्यक्षिक अनुभूति का अध्ययन करें तो देखेंगे कि इस अनुभूति का अन्तर-विषय अन्य अन्तर्विषयों से सम्बद्ध होने के कारण उन्हें समन्वित करना चाहता है। अन्य शब्दों में विषय रूप में विस्तारित होने के प्रयत्न में वह अन्य अन्तर-विषयों से सम्बद्ध तो हो जाता है और उनसे सम्बद्ध होकर अपने को पुनः परिभाषित करता है। अस्तु, यह कहना उचित होगा कि कोई भी अन्तर्विषय स्वपर्याप्त नहीं है। पर जब वह अन्य से सम्बद्धता के कारण विस्तारित होता है तो उसका विस्तार भी किम् की दिशा में होता है। एतएव एकपक्षीय ही होता है। यही कारण है कि वह सम्पूर्ण सत् को प्रस्तुत करने में असमर्थ है। इसी बात को एक अन्य प्रकार से व्यक्त करते हुये कहा जा सकता है कि जिस संपूर्णता को वह प्राप्त करना चाहता है वह उसे अपने स्तर पर अपने रूप में प्राप्य नहीं है। उसे आभास ही कहा जा सकता है।[2] अतएव निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि

---

1. "The world can hardly stand there to be found, when its essence appears to be inseparable from the process of finding and when assuredly it would not be the whole world unless it included within itself both the *finding* and the finder." —Ibid., Page 408.
2. "Hence it must be corrected, until finally in its content it has ceased to be false. But in the first place, this correction is merely ideal. It consists in a process throu-
Count.

प्रत्येक अन्तर्विषय एक ओर अनिवार्यत: पृष्ठभूमि के रूप में वर्तमान विषयी की अपेक्षा करता है। इस दृष्टि से प्रत्येक का अन्तर्विषय, विषयी सापेक्ष है और उसकी यह सापेक्षता इस बात का प्रमाण है कि वह स्वयं अन्तिम नहीं है और न ही वह अनुभूति अन्तिम है, जिसमें हमें उसका साक्षात्कार होता है। दूसरी ओर वह अन्य नियमो से सम्बद्ध है और उन्हें अपने में आत्मसात् करने को इच्छुक है। प्रकार विषयी और विषय दोनों ही दृष्टियों से प्रात्यक्षिक अनुभूति का अध्ययन करने के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि चेतना का यह रूप भी प्रत्ययात्मकता के दोष से दूषित है और इसलिये इसे भी अन्तिमता नहीं प्रदान की जा सकती है।

व्यावहारिक पक्ष :

इसी प्रकार ब्रैडले व्यावहारिक अभिवृत्ति का अध्ययन करते हुये उसे भी प्रत्ययात्मकता के दोष से दूषित सिद्ध करते हैं। व्यावहारिक अभिवृत्ति में भी एक विषय (object) होता है, जिसकी ओर वह अभिवृत्ति उन्मुख होती है। पर यहां पर वह विषय चेतना से असम्बद्ध एवं बाह्य नहीं प्रतीत होता है, विपरीतत: वह उससे सम्बद्ध प्रतीत होता है। पर वस्तुत: क्योंकि चेतना से वह सहज रूप में समन्वित नहीं होता, इसलिए दोनों का विरोध ही अधिक उभरता हुआ दिखाई देता है। इस विरोध को समाप्त करने के लिए विषय का दूसरा रूप प्रस्तुत किया जाता है और चेतना या अनुभूति पक्ष उसे अस्वीकार नहीं करता। और इस संशोधन की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप 'मैं' स्वयं अपने को उस विषय की मांग के अनुरूप ढाल लेता हूं। यानी 'मैं' स्वयं विषय रूप में अपने को रूपांतरित कर लेता हूं। ब्रैडले कहते हैं कि जीवन के व्यावहारिक पक्ष की एकपक्षीयता स्वत: स्पष्ट हो जाती है, क्योंकि उसमें एक ऐसे विभाजन को समन्वित करने का प्रयास है, जिसके सृजन में उसका कोई हाथ नहीं है। और जिसे यदि पूरित कर दिया जाय तो व्यावहारिक पक्ष की

---

ght which content is separated from existence. Hence, if truth were complete, it would not be truth, because that is only appearance; and in the second place while truth remains appearance, it cannot possibly be complete."

— Ibid., Page 409,

विशिष्टता ही समाप्त हो जायेगी।[1]

सौन्दर्यानुभूति :

इससे पश्चात् ब्रैडले सौन्दर्यानुभूति का अध्ययन प्रस्तुत करते हैं। सौन्दर्यानुभूति में हम यह कह सकते हैं कि हम किम् तथा तद् के द्वैत का अतिक्रमण करके एक समन्वित अनुभूति को पुनः प्राप्त करते है। सौन्दर्यानुभूति में अनुभूति या भावना जैसे अव्यवहितत्व का हम पुनः साक्षात्कार करते है और उसका विषय भी कोरा प्रत्ययात्मक नहीं अपितु एक यथार्थ अस्तित्ववान इकाई है। अतएव इस अनुभूति में हमें जो संतोष मिलता है वह न तो सिद्धान्त में मिलता है और न ही व्यवहार में। यही कारण है कि अनुभूतियों में इसका एक विशेष स्थान है और इसका विघटन अनुभूतियों में पूर्व प्रस्तुत किन्हीं भी रूपों में सम्भव नहीं है। इसे विशिष्ट मानते हुए ब्रैडले सौन्दर्यानुभूति स्वअस्तित्ववान संवेगात्मक अनुभूति[2] के रूप में प्रस्तुत करते हैं। पुनः यह सत्य है कि सौन्दर्य सम्बन्धी सभी तथ्य सुन्दर तथा असुन्दर दो एकांतिक एवं सुपरिचित कोटियों के भीतर प्रस्तुत नहीं हो सकते पर वर्तमान सीमित उद्देश्य की दृष्टि से उन्हें मान लिया जाय तो सुविधाजनक ही होगा और ब्रैडले कहते हैं कि क्योंकि परम सत् में सभी को आत्मसात् होना है, इसलिए एक उच्चतर अनुभूति में असुन्दर का विलयन तो होना ही है, इसलिए यहाँ पर सुन्दर की ही चर्चा करनी चाहिये।

सौन्दर्य के अन्तर्गत अनेक तत्वों की समुपस्थिति वांछनीय है, उसे

---

1. "For it consists in the healing up of a division which it has no power to create and which, once healed up is the entire removal of the practical attitude, will certainly produces, not mere ideas but actual existence. But it depends on ideality and mere appearance for its starting point and essence, and the harmony which it makes is for ever finite and hence incomplete and unstable and if this were not so, and if the ideal and the existing were made one, the relation between them would have disappeared and will as such much must have vanished."

—Ibid., p. 410.

2. Self existent emotional perience.

यन करना होगा।[1]

इस प्रकार सौन्दर्य तथा उससे सम्बन्धित अनुभूति भी आंतरिक विसंगतियों के कारण सत् न होकर आभास ही है।

परम सत् की अज्ञेयता :

निष्कर्षत: ब्रैडले कहते हैं कि सामान्य अनुभूतियों में से कोई भी अनुभूति कितनी ही सूक्ष्म क्यों न हो, प्रत्ययात्मकता के दोष से मुक्त नहीं है और इसी कारण इनमें से किसी को भी अन्तिमता नहीं प्रदान की जा सकती है। अन्य शब्दों में परम अनुभूति को इनमें से किसी भी एक के साथ एकीकृत नहीं किया जा सकता। इस कारण उसके विषय में निषेधात्मक रूप से यह कहना ही अधिक उचित होगा कि परम सत् सामान्य अनुभूतियों के माध्यम से अज्ञेय है किन्तु उसे अज्ञेय कहने का यह अभिप्राय नहीं कि वह 'अनुभूति' ही नहीं है। या कि इनकी मध्यस्थता से वह विभिन्न अनुपात में व्यंजित नहीं हो रही है। पर वह एक ऐसी अनुभूति है, जिसका हमें सामान्य-चेतना के स्तर पर उसकी सम्पूर्णता में बोध नहीं होता। ब्रैडले अतिप्राज्ञ स्तर पर उसके साक्षात् की सभावना की ओर संकेत करते हैं किन्तु इस सभावना को विस्तृत रूप से प्रस्तुत करने का प्रयास नहीं करते उनकी दृष्टि में तत्वमीमांसा प्रज्ञा के स्तर पर सत् को प्रस्तुत करने का प्रयास है और इस स्तर पर सम्पूर्ण सत् की विस्तृत प्रस्तुति संभव नहीं। निषेधात्मक रूप से उसके विषय में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि उसमें अनिवार्यत: प्रज्ञात्मक चेतना की प्रत्ययात्मकता का अतिक्रमण होगा और भावात्मक रूप से कि उसमें चेतना अबाधित रूप से स्थायी संगति की स्थिति में अवस्थित हो जायेगी। ऐसी परम अनुभूति की संभावना को बोध के वर्तमान स्तर पर एक नियामक प्रत्यय'[2] के रूप में ही प्रस्तुत किया जा सकता है और उसे उसी रूप में ब्रैडले स्वीकार भी करते हैं किन्तु वह एक ऐसा नियामक प्रत्यय है, जो तार्किक प्रामाणिकता के क्षेत्र का अतिक्रमण करते हुये स्वत: सिद्ध सत्यों में स्थान लेने वाला है, अत: सामान्य प्रत्ययों से उसका स्थान अपूर्व है।

---

1. "But with that total absorption of the percipient and sentient self, the whole relation, and with it beauty as such, will have vanished." —Ibid., p. 412.
2. Regulative idea.

जी०वाट्स कनिंगहम ने ब्रैडले के विचारों में विद्यमान एक मूल असंगति की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करने का प्रयास किया है। वे कहते है कि ब्रैडले के अनुसार तत्वमीमांसा में बौद्धिक संतोष प्राथमिकता रखता है किन्तु तत्वमीमांसा की दृष्टि से वे जिस सत् को प्रस्तुत करते हैं वह बुद्धि के अतिक्रमण का उसके निषेध की अपेक्षा करता है। क्या किसी भी इकाई के लिए यह संभव है कि वह अपने व्यष्टित्व का शत-प्रतिशत समर्पण कर दे ? और क्या उस समर्पण से उसे संतोष मिल सकेगा ? बुद्धि का परम अनुभूति में अवस्थित होने के लिए—अपनी परिपूर्णता को प्राप्त करने के लिये अपने व्यष्टित्व का समर्पण आवश्यक है। किन्तु क्या इस समर्पण द्वारा उसे वस्तुत: संतोष की प्राप्ति होगी ?

उपरोक्त प्रश्न से स्पष्ट है कि कनिगहम का उत्तर निषेधात्मक है। परम सत् को ब्रैडले जिस रूप में प्रस्तुत करते हैं उसमें बुद्धि के संतोष की प्राप्ति का तो प्रश्न ही नहीं उठता। संभवत: उसमें एक काल्पनिक निम्न सम्बन्धात्मक अपरोक्षानुभूति को जिसे वे 'भावना' शब्द से भी व्यक्त करते हैं, सतोष मिल जाये। कनिगहम का विचार है कि ब्रैडले अपने दर्शन में इस मूल विसंगति से अनभिज्ञ थे और इसीलिए उन्होंने इसे दूर करने का प्रयास भी नहीं किया। उनका परम सत् 'अविश्लेष्य' और 'अविज्ञेय' हैं। वह अनिवार्य हो सकता है, परम सत् भी हो सकता है, किन्तु बुद्धि के लिए नहीं। ऐसे अतिप्राज्ञ परम सत् को विज्ञेय मान लेना उचित नहीं है।

वस्तुत: कनिगहम की आलोचना ब्रैडले के दर्शन के साथ पूर्णतया न्याय नहीं करती। ब्रैडले ने यथाशक्ति प्रज्ञा के माध्यम से उसकी सीमाओं को प्रस्तुत करते हुए परम सत् का एक संतोषप्रद चित्र अंकित किया है। यद्यपि यह सच है कि ब्रैडले अन्तिम रूप से अतिप्राज्ञ स्तर पर ही परम सत् की प्रस्तुति का समर्थन करते हैं फिर भी प्रज्ञावादी दृष्टिकोण से भी, निषेधात्मक रूप में और निषेधात्मक की पृष्ठभूमि में विद्यमान भावात्मक रूप में परम सत् की एक संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की जा सकती है। अत: इस आलोचना का कोई आधार नहीं है कि परम सत् को ब्रैडले जिस रूप में प्रस्तुत करते हैं उसमें बुद्धि को संतोष की प्राप्ति नहीं होती। आलोचक यह भूल जाते हैं कि बुद्धि के संतोष के लिये तो ब्रैडले ने प्रज्ञा के स्तर पर उसके अन्तरतम की मांग के रूप में अतिप्राज्ञ सत् का समर्थन किया है जो उनके दर्शन की एक अपूर्व विशेषता है।

८ अन्तिम संदेह

परम सत् के विषय में अपना निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुये ब्रैडले कहते हैं कि वह एक है और निश्चित ही अनुभूति रूप है। उसमें सभी तथ्य जिन्हें दार्शनिक पदावली में वे 'आभास' की संज्ञा देते हैं, परस्पर वैषम्य एवं विसंगति का विलय करते हुये समन्वित रूप में अवस्थित रहते हैं किन्तु इसके बावजूद ब्रैडले कहते हैं कि उस सत् में प्रत्येक वस्तु वही रहती है, जो वह स्वयं है।[1] इस कथन के आशय को स्पष्ट करते हुये यह कहा जा सकता है कि परम सत् में किसी भी वस्तु का 'इकाई' रूप में विलय नहीं होना है, वल्कि भीतर से रूपान्तरित होकर ही वह—यानी अपने खुरदुरेपन—जिसके कारण वह अन्य से समन्वित होने में असमर्थ प्रतीत होती है, का विलय करके ही वह अन्तत: सम्पूर्ण सत् में रूपान्तरित हो सकती है। इस बात को अनेक संदर्भ में अनेक प्रकार से ब्रैडले प्रस्तुत करते हैं ओर यह इस बात को व्यक्त करता है कि परम सत् की कल्पना को शब्दबद्ध करना या उसे अर्थवत्ता प्रदान करना कितना कठिन है। यद्यपि उनके अपने विचार में सिद्धान्तत: परम सत् की कल्पना में ऐसा कुछ भी नहीं है, जो आपत्तिजनक हो फिर भी ब्रैडले अपनी पुस्तक के इस अन्तिम खण्ड में कुछ संभव आपत्तियों को प्रस्तुस्त करते हुये क्रम से उनका प्रत्युत्तर भी प्रस्तुत करते हैं।

प्रथम आपत्ति : असिद्ध न हो सकना उसे सिद्ध कर सकना नहीं है :[2]

प्रथम आपत्ति को प्रस्तुत करते हुये ब्रैडले कहते है कि यदि सत्ता के जिस रूप को प्रस्तुत किया गया है, उसें अप्रमाणित नहीं किया जा सकता है

1. "Every thing in the Absolute still is that which it is for itself." —Appearance and Reality, p. 453.
2. "An absence of disproof does not render it certain." —Ibid., p. 453-54.

तो क्या उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वह सिद्ध हो चुका है। क्या यह संभव नहीं कि इस सम्बन्ध में एक दूसरा विकल्प प्रस्तुत हो सके ? यह भी संभव है कि सत् विषयक यह कल्पना अधूरी हो। अतएव यह कैसे मान लिया जाय कि इन पृष्ठों में प्रस्तुत सत् का सामान्य स्वरूप ही वास्तव में अन्तिम है इस प्रश्न पर अन्य संभव विकल्प अधिक युक्त हो सकते हैं।

प्रत्युत्तर में ब्रैडले कहते हैं कि सत्य के सामान्य स्वरूप के किसी दूसरे विकल्प की कल्पना संभव ही नहीं है, क्योंकि सत् की जो कल्पना प्रस्तुत की गयी है, वह उसके सामान्यतम रूप की अभिव्यंजना है और यह एक ऐसा रूप है जो विचार के माध्यम से—उसकी ही अंतरंग मांग के अनुरूप प्रस्तुत किया गया है। अन्य शब्दों में, सत् का यह स्वरूप विचार की निजी महत्वाकांक्षा को व्यक्त करता है, यह उसकी उस कल्पना को प्रस्तुत करता हैं, जिसमें अवस्थित होकर वह अपनी सार्थकता को प्राप्त कर लेगा। अतएव विचार के स्तर पर जब भी हम सत्ता विषयक चित्र को अंकित करने की चेष्टा करेंगे, हमें विचार की न्यूनतम और इसलिए सामान्यतम मांग के अनुरूप ही, यानी उसी ढांचे के भीतर ही उसे प्रस्तुत करना होगा। यही कारण है कि विचार के स्तर पर—उसी के माध्यम से उसका निषेप संभव नहीं है। अत: इस आपत्ति का निराकरण करते हुये ब्रैडले कहते हैं कि 'हमारा उत्तर यही होगा कि सिद्धान्त के बाहर आप जो भी दृष्टिकोण लेना चाहें लें, परन्तु आप इस बात का ध्यान रखें कि आप खेल में तब तक सम्मिलित न हों जब तक आप खेल को यथोचित रीति से खेलना न चाहें।[1]

वस्तुत: ब्रैडले ने परम सत् का जो चित्र प्रस्तुत किया है, उसका सम्बन्ध सत् के सर्वाधिक व्यापक रूप से है, इसलिये उसके प्रति संदेह व्यक्त करना या उसके विरुद्ध किसी आपत्ति को प्रस्तुत करना सर्वथा अनुचित है। क्योंकि यदि उसके विरुद्ध हम किसी अन्य संभव विकल्प को प्रस्तुत करते भी हैं तो वह भी चिंतन का ही परिणाम होगा अत: उसमें भी हम अनजाने इसी विकल्प को जिसे विकल्प कहना उनकी दृष्टि में अनुचित है, क्योंकि यह सभी विकल्पों के सामान्यतम स्वरूप को अंकित करता है, स्वीकार कर लेते हैं।

---

1. "Hence we must answer, outside theory take whatever attitude you may prefer, only do not sit down to a game unless you are prepared to play."

—Ibid., p. 454.

अतएव ब्रैडले कहते हैं कि सत् के इस सामान्यतम चित्र के विरोध में—विचार के ही माध्यम से, किसी अन्य विकल्प को प्रस्तुत करना असम्भव है। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि परम सत् सम्बन्धी यह सिद्धांत है, क्योंकि विशेप कारण से असिद्ध नहीं हो सकता, इसलिए असंदिग्ध रूप से सत्य है।

द्वितीय आपत्ति :

'अव्यवहित्व' के अभाव में चित्र संपूर्ण कैसे हो सकता है? एक अन्य आपत्ति को प्रस्तुत करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि इस सिद्धान्त के अनुसार विचार के माध्यम से सत् के सम्पूर्ण चित्र को प्रस्तुत करना असम्भव नहीं है, क्योंकि जैसा कि पूर्व खंडों में स्पष्ट हो चुका है। उसमें 'अव्यवहितत्व' का तत्व जो एक अज्ञेय पर अनिवार्य रूप से पूरक तत्व है, सदैव निष्कासित रहता है। किन्तु परम सत् के संपूर्ण चित्र में इस अज्ञेय पूरक तत्व की कल्पना अनिवार्य रूप से की गयी है। साथ ही स्पष्टतः यह भी स्वीकार किया गया है कि इस तत्व के सम्वन्ध में क्योंकि हमें कोई वोध नहीं है, इसलिए किस रूप में यह 'सम्पूर्ण' का निर्माण करेगा इसके विषय में हमारे लिए भावात्मक रूप से कुछ कहना सम्भव नहीं है। केवल निपेधात्मक रूप से यह कहा जा सकता है कि वह विरोधों के विलय की स्थिति होगी। अतएव क्या यह सम्भव नहीं कि उस 'सम्पूर्ण' का रूप इस सिद्धान्त में समर्थित उसके कल्पित—सम्भव रूप से नितान्त भिन्न हो?

प्रत्युतर में ब्रैडले कहते हैं कि सत् के सम्बन्ध में जब ज्ञान के अभाव की बात की जाती है, तो हमें स्मरण रखना चाहिए कि 'अभाव' विषयक इस कथन की सार्थकता के लिए वोध की अव्यक्त, अव्याख्येय भावात्मक स्थिति अनिवार्यतः अपेक्षित रहती है। अतएव जब सत् के सम्वन्ध में एक अज्ञेय पूरक तत्व की कल्पना प्रस्तुत की जाती है, तो इसका यह अर्थ नहीं कि वह तत्व नितान्त अज्ञेय है। यदि सचमुच वह 'तत्व' बोध की परिधि से नितान्त बाह्य होता तो उसकी उपस्थिति के विपय में हमें कोई भी अहसास न होता और न ही उसके विपय में हमारे लिए यह कह सकना सम्भव होता कि वह हमारे अज्ञान द्वारा आवृत है।[1] इसी को भिन्न प्रकार से प्रस्तुत करते हुए ब्रैडले

1. "If there were any Reality quite beyond our knowledge, we could in no sense be aware of it ; and, if we were quite ignorant of it we could hardly suggest that our ignorance conceals it," —Ibid., p. 457.

कहते हैं सत् प्रज्ञा से यानी सम्बन्धात्मक चेतना से बाह्य है साथ ही एक विशेष अर्थ में वह उसमें ही प्रतिमान रूप में सक्रिय भी है। इसी कारण वह सम्पूर्ण बोध के लिए बाह्य नहीं है। क्योंकि यदि वह सम्पूर्ण मानवीय बोध के लिए बाह्य होता तो उसके विषय में हमारे लिए यह कहना सम्भव न होता कि वह 'है'। यही कारण है कि जब 'सत्' को अज्ञेय कहा गया है तो एक विशेष सन्दर्भ में ही कहा गया है। अन्य शब्दों में अज्ञेयता से हमारा आशय एक निरपेक्ष अज्ञेयता से नहीं है, वह एक सापेक्ष अज्ञेयता है। यदि वह नितान्त अज्ञेय होता तो उसके विषय में किसी प्रकार की स—अर्थक चर्चा सम्भव ही न होता। अपने इसी निष्कर्ष को अपनी अपूर्व शैली में प्रस्तुत करते हुए ब्रैडले कहते हैं: 'हमारा निष्कर्ष सुनिश्चित है और उसमें तार्किक स्तर पर सन्देह करना असम्भव है। जो मत यहां पर प्रस्तुत किया गया है उसके अतिरिक्त कोई भिन्न दृष्टिकोण है ही नहीं। किसी अन्य सम्भावना को तार्किक स्तर पर स्वीकार करना असम्भव है।[1] पुन: वे कहते हैं: 'संक्षेप में हमारे निष्कर्ष के प्रति संदेह सम्भव ही नहीं क्योंकि उसमें सभी सम्भावनायें समाविष्ट है।"[2]

सत् एक है:

इन दो आपत्तियों की चर्चा करने के पश्चात् ब्रैडले सत् विषयक अपने पूर्व प्रस्तुत निष्कर्ष 'सत् एक है' पर पुनर्विचार करते हैं और इसी सन्दर्भ में वे वस्तुवाद तथा बहुतत्ववाद का खंडन करते हैं। बहुतत्ववाद अनेकता को तत्वमीमांसीय निष्कर्ष के रूप में स्वीकार करता है और ब्रैडले जैसे दार्शनिकों का अध्यात्मवाद इस सिद्धान्त की मूल स्वीकृति के खोखलेपन को स्पष्ट करते हुए एकतत्ववाद का समर्थन करता है। एकतत्ववाद अनेक

---

1. "We hold that our conclusion is certain, and that to doubt it logically is impossible. There is no other view, there is no other idea beyond the view here put forward. It is impossible rationally even to entertain the question of another possibility."

Ibid., p. 459.

2. "Our result, in brief, cannot be doubted, since it contains all possibilities. —Ibid., p. 460.

स्वपर्याप्त इकाइयों के स्वीकृत अस्तित्व के विरुद्ध अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करते हुए कहता है कि इन इकाइयों के स्वतन्त्र अस्तित्व का समर्थन अपकर्षण की प्रक्रिया का परिणाम है। इस अपकर्षण का प्रयोग हम व्यवहारिक जीवन के निमित्त अनेक कारणों से करते हैं। पर वस्तुतः ये तथाकथित स्वपर्याप्त इकाइयां मूलतः सम्बन्ध हैं और अन्ततः एक 'एकत्व' की ओर इंगित करती है जिसमें वे अस्तित्ववान होकर ही अपनी सम्पूर्ण सार्थकता को प्राप्त करती है। इस प्रश्न पर अपने विचार व्यक्त करते हुए ब्रैडले कहते हैं: "परम सत् एक है। उसे एक अवश्य होना चाहिये क्योंकि 'अनेकता' को अन्ततः सत् मानने पर वह स्वयमेव विरोध का सृजन कर लेती है।" पुनः अपने विचार को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं: 'अनेकता सम्बन्धों की ओर संकेत करती है और सम्बन्धों के माध्यम से वह स्वयमेव ही एक उच्चतर एकता का समर्थन करती है। अतः विश्व को अनेक मानने का अर्थ स्वतः अपने कथन का निषेध करना है और यह स्वीकार करना है कि विश्व एक है। एक जगत को दूसरे से जोड़ दीजिये और आप देखेंगे कि दोनों ही तत्काल सापेक्ष हो जायेंगे—दोनों में से प्रत्येक किसी उच्चतर तथा एकाकी सत्ता की अभिव्यंजना ही प्रतीति होगा। अन्य शब्दों में दोनों का आविर्भाव उसी एकता के भीतर उसे ही मुखरित करते हुए उसकी ही विशेषता के रूप में लक्षित होगा।[1]

बहुतत्ववाद के विरुद्ध प्रस्तुत इस युक्ति से हमें यह नहीं समझना चाहिए कि जब ब्रैडले एक विशेष अर्थ में वैविध्य का निषेध करते हैं—यानी मुक्त अस्तित्वों के रूप में उन्हें अन्तिमता देने से इन्कार करते हैं, तो वे उसकी

यथार्थवाद शब्द का भी प्रयोग किया जाता है।

1. "Reality is one It must be single, because plurality taken as real, contradicts itself. Plurality implies relations, and, through its relations, it unwillingly asserts always a superior unity. To suppose the universe plural is therefore to contradict oneself and, after all to suppose that it is one. Add one world to another, and forthwith both worlds have become relative, each the finite appearance of a higher and single Reality. And plurality as appearance must fall within, must belong to, and must qualify the unity."

—Ibid., p. 460.

कहते हैं सत् प्रज्ञा से यानी सम्बन्धात्मक चेतना से बाह्य है साथ ही एक विशेष अर्थ में वह उसमें ही प्रतिमान रूप में सक्रिय भी है। इसी कारण वह सम्पूर्ण बोध के लिए बाह्य नहीं है। क्योंकि यदि वह सम्पूर्ण मानवीय बोध के लिए बाह्य होता तो उसके विषय में हमारे लिए यह कहना सम्भव न होता कि वह 'है'। यही कारण है कि जब 'सत्' को अज्ञेय कहा गया है तो एक विशेष सन्दर्भ में ही कहा गया है। अन्य शब्दों में अज्ञेयता से हमारा आशय एक निरपेक्ष अज्ञेयता से नहीं है, वह एक सापेक्ष अज्ञेयता है। यदि वह नितान्त अज्ञेय होता तो उसके विषय में किसी प्रकार की स—अर्थक चर्चा सम्भव ही न होता। अपने इसी निष्कर्ष को अपनी अपूर्व शैली में प्रस्तुत करते हुए ब्रैडले कहते हैं: 'हमारा निष्कर्ष सुनिश्चित है और उसमें तार्किक स्तर पर सन्देह करना असम्भव है। जो मत यहां पर प्रस्तुत किया गया है उसके अतिरिक्त कोई भिन्न दृष्टिकोण है ही नहीं। किसी अन्य सम्भावना को तार्किक स्तर पर स्वीकार करना असम्भव है।[1] पुन: वे कहते हैं: 'संक्षेप में हमारे निष्कर्ष के प्रति संदेह सम्भव ही नहीं क्योंकि उसमें सभी सम्भावनायें समाविष्ट है।''[2]

सत् एक है :

इन दो आपत्तियों की चर्चा करने के पश्चात् ब्रैडले सत् विषयक अपने पूर्व प्रस्तुत निष्कर्ष 'सत् एक है' पर पुनर्विचार करते हैं और इसी सन्दर्भ में वे वस्तुवाद तथा वहुतत्ववाद का खंडन करते हैं। वहुंतत्ववाद अनेकता को तत्वमीमांसीय निष्कर्ष के रूप में स्वीकार करता है और ब्रैडले जैसे दार्शनिकों का अध्यात्मवाद इस सिद्धान्त की मूल स्वीकृति के खोखलेपन को स्पष्ट करते हुए एकतत्ववाद का समर्थन करता है। एकतत्ववाद अनेक

1. "We hold that our conclusion is certain, and that to doubt it logically is impossible. There is no other view, there is no other idea beyond the view here put forward. It is impossible rationally even to entertain the question of another possibility."

Ibid., p. 459.

2. "Our result, in brief, cannot be doubted, since it contains all possibilities. —Ibid., p. 460.

स्वपर्याप्त इकाइयों के स्वीकृत अस्तित्व के विरुद्ध अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करते हुए कहता है कि इन इकाइयों के स्वतन्त्र अस्तित्व का समर्थन अपकर्षण की प्रक्रिया का परिणाम है। इस अपकर्षण का प्रयोग हम व्यवहारिक जीवन के निमित्त अनेक कारणों से करते हैं। पर वस्तुतः ये तथाकथित स्वपर्याप्त इकाइयां मूलतः सम्बन्ध हैं और अन्ततः एक 'एकत्व' की ओर इंगित करती है जिसमें वे अस्तित्ववान होकर ही अपनी सम्पूर्ण सार्थकता को प्राप्त करती है। इस प्रश्न पर अपने विचार व्यक्त करते हुए ब्रैडले कहते हैं : "परम सत् एक है। उसे एक अवश्य होना चाहिये क्योंकि 'अनेकता' को अन्ततः सत् मानने पर वह स्वयमेव विरोध का सृजन कर लेती है।" पुनः अपने विचार को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं : 'अनेकता सम्बन्धों की ओर संकेत करती है और सम्बन्धों के माध्यम से वह स्वयमेव ही एक उच्चतर एकता का समर्थन करती है। अतः विश्व को अनेक मानने का अर्थ स्वतः अपने कथन का निषेध करना है और यह स्वीकार करना है कि विश्व एक है। एक जगत को दूसरे से जोड़ दीजिये और आप देखेंगे कि दोनों ही तत्काल सापेक्ष हो जायेंगे—दोनों में से प्रत्येक किसी उच्चतर तथा एकाकी सत्ता की अभिव्यंजना ही प्रतीति होगा। अन्य शब्दों में दोनों का आविर्भाव उसी एकता के भीतर उसे ही मुखरित करते हुए उसकी ही विशेषता के रूप में लक्षित होगा।[1]

बहुतत्ववाद के विरुद्ध प्रस्तुत इस युक्ति से हमें यह नहीं समझना चाहिए कि जब ब्रैडले एक विशेष अर्थ में वैविध्य का निषेध करते हैं—यानी मुक्त अस्तित्वों के रूप में उन्हें अन्तिमता देने से इन्कार करते हैं, तो वे उसकी

यथार्थवाद शब्द का भी प्रयोग किया जाता है।

1. "Reality is one It must be single, because plurality taken as real, contradicts itself. Plurality implies relations, and, through its relations, it unwillingly asserts always a superior unity. To suppose the universe plural is therefore to contradict oneself and, after all to suppose that it is one. Add one world to another, and forthwith both worlds have become relative, each the finite appearance of a higher and single Reality. And plurality as appearance must fall within, must belong to, and must qualify the unity."

—*Ibid.*, p. 460.

तथ्यता से भी इन्कार करते हैं। कुछ तत्वमीमांसकों का यह मत है कि यदि तत्शमीमांसीय चिंतन में वैविध्य का किसी भी अर्थ में निषेध किया जाता है, तो फिर स्थापना हेतु शेष बचता ही क्या है ? ब्रैडले ने इन पृष्ठों में आभास और सत् के दोनों खंडों में, इसी मिथ्या धारणा के खण्डन का प्रयास किया है। उनका कहना है कि सतही तौर पर पृथक्-पृथक् एवं विशिष्ट दीखने वाली इकाइयां वस्तुत: पैनी दार्शनिक दृष्टि के समक्ष अपनी आभासी स्वपर्याप्तता खो देती हैं। वे इस दृष्टि के सामने अन्तरंग रूप से सम्बद्ध और अन्तत: एक वृहत् एकता का निर्माण करती हुई दिखाई देती है। विपरीतत: बहुतत्व-वाद तत्वमीमांसीय दृष्टि से विविध एवं पृथक् दीखने वाली इकाइयों को ही *यथार्थ और अन्तिम* मानता है। ये सभी उसकी दृष्टि में वास्तविक एवं सत्य है। अन्य शब्दों में ये सभी स्वरूपत: स्वपर्याप्त और निजी अस्तित्व रखनेवाली हैं और परस्पर आकस्मिक रूप से सम्बन्धित हैं--जिसका सीधा अर्थ यह हुआ कि वे इन सम्बन्धों के प्रभावों से अछूती ही अस्तित्ववान् है।

निष्कर्षत. यह कहा जा सकता है कि निरपेक्ष अध्यात्मवादी दृष्टिकोण, जैसा कि अनेक सन्दर्भो में प्रस्तुत किया जा चुका है, जगत के नानात्व की तथ्यता पर कहीं भी संदेह नहीं व्यक्त करता पर उसे इनकी 'स्वपर्याप्तता' स्वीकार्य नहीं है। इन्हीं विचारों को प्रस्तुत करते हुये ब्रैडले कहते हैं—'सत् सदैव अनेकता से युक्त होता है। वह स्वयं अनेक नहीं है पर वह इस अनेकत्व पर अधिकार रखता है।'[1] पुन: वे कहते हैं कि यदि ये तथाकथित स्वपर्याप्त इकाइयां सम्बद्ध हैं तो उनकी यह सम्बद्धता स्वत: इस बात की ओर संकेत करती हैं कि ये सभी अपनी सार्थकता के लिए एक व्यापक पृष्ठभूमि की अपेक्षा करती है और यदि उस पृष्ठभूमि के सन्दर्भ में इन्हें पुन: प्रस्तुत किया जाय तो फिर इनकी तथाकथित 'स्वपर्याप्तता' में आस्था बनाये रखना हमारे लिए असम्भव होता।

वास्तव में बहुतत्ववाद और वस्तुवाद द्वारा प्रस्तुत जगत सम्बन्धी व्याख्या अपूर्ण है और इस कारण असंतोष प्रदान करने वाली हैं। निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि अध्यात्मवाद और उसका प्रतिद्वन्द्वी सिद्धान्त बहुतत्ववाद क्रम के सम्पूर्ण सत् की पूर्ण एवं अपूर्ण प्रस्तुति प्रस्तुत करते हैं। यूं भी कहा जा सकता है कि बहुतत्ववाद ने अचेतन आकर्षण के परिणामस्वरूप

---

1. "! Real is qualified by all plurality: It owns this diversity while itself it is not plural." —Ibid., p. 461.

उपलब्ध प्रत्येक इकाई को स्ववर्ती कहकर उसे स्वतंत्र अस्तित्व के रूप में स्वीकार किया है और सभी इकाइयों को परस्पर बाह्य रूप से सम्बद्ध माना है। जबकि अध्यात्मवाद उन इकाइयों की मूल सम्बद्धता को स्पष्ट करते हुये यह सिद्ध करना चाहता है कि ये सभी एक व्यापक पृष्ठभूमि की अपेक्षा करती है और फिर इस व्यापक पृष्ठभूमि में उन्हें संयुक्त करते हुये तथा उनकी सार्थकता को स्पष्ट करते हुये उसने इस सम्पूर्ण को ही सत् की संज्ञा दी है। इसी को हेगेलवादी शब्दावली में 'मूर्त्त सामान्य' कहा जाता है। अतः स्पष्ट है कि बहुतत्ववाद एक सत् ही फलतः अपूर्ण दार्शनिक दृष्टि का परिणाम है। यही कारण है कि गहरे दार्शनिक अनुचिंतन के समक्ष उसका ठहर सकना असम्भव है।

सामान्य से भिन्न अर्थ में इस 'एकता' की कल्पना :

इस 'समग्र एकत्व' अथवा 'मूर्त्त सामान्य' के स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि परम सत् के सम्बन्ध में इस शब्द का प्रयोग सामान्य से भिन्न अर्थ में किया जाता है। पर इसके साथ जुड़े हुये सामान्य अर्थ के कारण इसके सम्बन्ध में अनेक भ्रांतियां उत्पन्न होना स्वाभाविक है। यहाँ पर 'एकता' शब्द किसी 'निर्विशेष'—अन्तर्विषय रहित अमूर्त्त एकता को व्यक्त नहीं करता और न ही वह गणितीय अर्थ में ही 'एकत्व' को व्यंजित करता हैं। क्योंकि गणितीय संदर्भ में 'एक' 'अनेकत्व' का निषेध करने वाली इकाई होती है। वस्तुतः यह एकता तो एक ऐसी 'समग्र एकता' हैं जो विश्व की तथाकथित स्वपर्याप्त अनेकता को उसकी सार्थकता तथा सम्पूर्णता प्रदान करती है और इस नाते वह अपूर्व एव विशिष्ट भी हैं। यानी उससे पृथक् एवं वाह्य किसी भी अन्य अस्तित्व की कल्पना संभव ही नहीं है। अतएव इसी 'एकता' को जब हेगेलवादी 'मूर्त्त सामान्य' शब्द प्रतीक से व्यंजित करते हैं, तो उससे जो विशेष ध्वनि निकलती है, वह यह है कि यह 'एकता' सामान्य अर्थ में स्वीकृत अनेक का आत्यंतिक निषेध नहीं करती, बल्कि उनकी एकांगिता का विलय करती हुई अपने में समाविष्ट करती हैं। फलतः जो इकाइयां सामान्य दृष्टि के समक्ष पृथक् एवं मुक्त प्रतीत होती है, वे दार्शनिक दृष्टि के समक्ष सापेक्ष अस्तित्वों में परिवर्तित हो जाती हैं। और इनमें से कोई भी अपने में उस 'समग्रता' उसकी सम्पूर्णता में व्यंजित करने की सामर्थ्य नहीं रखता। वस्तुतः भारतीय अद्वैतवाद के समर्थक कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य तो 'सत्'

को 'विशिष्ट' स्वीकार करते हुये उसे 'अर्थवत्ता' एवं 'तार्किक प्रामाणिकता' की परिधि से भी बाहर ले आते हैं। अन्य शब्दों में, उनके मत के अर्थ में व्यंजित होने वाली सत्ता 'विशिष्ट' नहीं हो सकती इस कारण जो 'विषयी' है और इस रूप में विशिष्ट है, उसे अर्थ प्रदान करना संभव नहीं है, यानी जो सत् अर्थ प्रदान करने की प्रक्रिया के मूल में है—उसे अर्थ किस प्रकार प्रदान किया जा सकता है ?

उपर्युक्त तुलना किंचित अप्रासंगिक प्रतीत हो सकती है, किन्तु कम से कम उस ध्वनि को तो स्पष्ट करती ही है, जिसके आधार पर हम ब्रैडले के 'सत्' के सम्बन्ध में अनेक भ्रांतियों से मुक्त हो सकते हैं। ब्रैडले की सत् विषयक कल्पना की ओर प्रत्यावर्तन करते हुये यह कहा जा सकता है कि जब इसके अन्तर्गत जगत के निषेध की बात की जाती है तो प्रज्ञा द्वारा समर्थित जगत का उस दृष्टिकोण की एकान्तिकता का ही अन्ततः निषेध किया जाता है। पुनरावृत्ति के दोष के बावजूद यह कहना अनुचित न होगा कि बहु-तत्ववाद जिन सत्ताओं को स्वपर्याप्त एवं अन्तिम मान लेता है, अध्यात्मवाद के लिये तो केवल व्यावहारिक जीवन की दृष्टि से ही महत्वपूर्ण हैं। इन्हीं निष्कर्षों को बार-बार अनेक संदर्भों में प्रस्तुत करते हुये ब्रैडले कहते हैं : "सम्बन्धात्मक चेतना से पूर्व जो एक निम्न सम्बन्धात्मक अनुभूति होती है, उसके आधार पर ही हम एक ऐसी उच्च इकाई की कल्पना तक पहुंच सकते हैं जो उससे ऊपर उठ सकती है।[1]

इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया होगा कि सत् 'एक' है तथा उसके लिए प्रयुक्त 'एक' शब्द की एक विशेष ध्वनि है, जिसे विशेष प्रयास द्वारा ही हम समझ सकते हैं। इसी विशिष्टता की चर्चा करते हुये ब्रैडले कहते हैं। 'सत् भावात्मक है और समस्त अन्तर्विरोध इसमें ही संगति की स्थिति में समाविष्ट है।' पुनः वे कहते हैं--"यह निश्चित है कि वह वैविध्य के उस सम्पूर्ण प्रसार से भावात्मक रूप से विभूषित है, जिसे वह अपने में आत्मसात् किये हुये हैं। पर इस सबके बाद भी वह अनेक नहीं है।"[2]

---

1. "Erom such an ex erience of unity below relations we can rise to the idea of a superior unity above them."
2. "In the *first* place Reality *is positive, negation filling* inside it. In the second place it is qualified Positively by all the plurality which it embraces and subordinates. and yey *itself, in the* third place, is certainly not plural."
—Ibid., P. 462 63.

परम सत् अनुभूति स्वरूप है :

इस निष्कर्ष को स्थापित करने के उपरान्त ब्रैडले सत् के 'अन्तर्विषय' को प्रस्तुत करने की ओर प्रवृत्त होते हैं। इस दृष्टि से सत् को प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं कि सत् एक अनुभूति है और इस निष्कर्ष के सम्बन्ध में किसी प्रकार के संदेह का प्रश्न ही नहीं उठता।[1] इस विचार को ब्रैडले अपनी पुस्तक 'एपियरेन्स एण्ड रियेलिटी' के 'सत् का सन्मान्य स्वरूप' एक अध्याय में विस्तार से प्रस्तुत कर चुके हैं। उसी को पुनः प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं : 'सत् सचेतनता है और जो ऐसा नहीं है, वह सत् नहीं है।'[2] यहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिए कि पूर्व पृष्ठों में 'एकत्व' के विषय में कहा गया है, वह ज्यों का त्यों 'सचेतनता' शब्द के प्रयोग पर भी लागू होता है। सामान्य अर्थों में अपने सभी रूपों में 'अनुभूति' या 'सचेतनता' प्रत्ययात्मकता के दोष से दूषित है। अन्तर्विषय की दृष्टि से वह सापेक्ष तो है ही, उसमें विषयी-विषय द्वैत सदैव वर्तमान रहता है। परन्तु ब्रैडले जब परम सत् के सम्बन्ध में 'सचेतना' शब्द का प्रयोग करते हैं तो उसमें जो ध्वनि विद्यमान रहती है वह यह कि वह ज्ञाता-ज्ञेय द्वैत का अतिक्रमण करने वाली एक समन्वित अनुभूति है और वह किसी अर्थ में सापेक्ष नहीं है। सभी विशिष्ट अनुभूतियों को सम्भव बनाने वाली मूल चेतना किस प्रकार चेतना के परिमित प्रकारों की तरह हो सकती है। उसे भावात्मक रूप से प्रस्तुत करते हुए यह कहा जा सकता है कि वह एक समग्र अनुभूति है जिसका कुछ-कुछ अहसास हमें निम्न सम्बन्धात्मक स्तर पर होता है। परन्तु निम्न सम्बन्धात्मक अनुभूति की यह स्थिति क्षणिक ही होती है और शीघ्र ही हम सम्बन्धात्मक स्तर पर आ जाते हैं। फलतः इसके माध्यम से भी परम सत् के स्वरूप का हमें ठीक-ठीक बोध नहीं हो पाता। इसी को ब्रैडले ने 'निम्न' अथवा पूर्व-सम्बन्धात्मक अव्यवहितत्व कहा है। यह एक ऐसा बोध है जिसमें सत् का उसकी अविभाज्य एकता में साक्षात् तो होता है पर विश्लेषण की प्रक्रिया—जो विचार की निजी प्रक्रिया है, के प्रारम्भ होते ही उसका विलय हो जाता है। सत् की अविभाज्य एकता के विषय में यह कहा जा सकता है कि वह सम्बन्धात्मक चेतना के विश्लेषणात्मक प्रयासों से अप्रभा-

1. "Reality must be, therefore, one-Experience, and to doubt this conclusion is impossible." —Ibid., p. 463.
2. "Sentient experience, in short, is reality and what is not this is not real." —Ibid., p. 227.

वित रहती हैं। अनेक प्रसंसों में यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि विचार की कृत्रिम विभाजन की शैली द्वारा अपनी अविभाज्य एकता में सत् अभिगम्य नही है। यही नहीं क्योंकि इस प्रक्रिया के अन्तर्गत 'अव्यवहितत्व' निष्कासित रहता है, सत् को उसकी सम्पूर्णता में प्रस्तुत करना असम्भव है। इसी को दूसरे शब्दों में यूं व्यक्त किया जा सकता है कि विचार के अपने स्तर पर 'तद्-किम्' का भेद तथा विषयी-विषय द्वैत-दोनों ही अक्षुण्ण बना रहता है। इस विभाजन की सीमाओं के भीतर ही हमें सत् का बोध होता है और उसे इसी कारण अपर्याप्त होना चाहिए। यही बात जीवन की अन्य अनुभूतियों यथा नैतिक, सौन्दर्यात्मक एवं धार्मिक के लिए भी सत्य है, जिसमें विषयी-विषय की विभाजन रेखा तरल होते हुए भी बनी रहती है। अतएव इनमें से कोई भी अनुभूति पृथक्-पृथक् अथवा समवेत रूप से 'समन्वित एकत्व' यानी परम सत् को प्रस्तुत करने में असमर्थ है। अपने इन्हीं विचारों को जो 'सत्' से सम्बद्ध है और सामान्य भाषा एवं बोध के माध्यम से अभिगम्य नहीं। विरोधाभास के रूप में प्रस्तुत करते हुए ब्रैडले कहते हैं: "मेरे अपने मत में सत् निःसंदेह पूर्व सम्बन्धात्मक है और यह भी सच है कि वह सम्बन्धात्मक भी है। पर इन दोनों में से किसी भी रूप में वह अन्तिम नहीं हैं। केवल अति-सम्बन्धात्मक में ही हम समझते हैं हमें उस चेतना का साक्षात् होता है जिसे हम निरपेक्ष एवं अन्तिम कह सकते हैं।"[1]

स्पष्ट है कि ब्रैडले जब परम सत् को 'सचेतना' अथवा अनुभूति के रूप में प्रस्तुत करते हैं तो वे उसे सामान्य अनुभूतियों के किसी भी प्रकार से एकीकृत नहीं करते क्योंकि वह तादात्म्य रूप चेतना है, जिसमें विषयी एवं विषयी का द्वैत समाप्त हो चुका है।[2] निष्कर्षत: उसके सम्बन्ध में अद्वैत वेदान्त की भाषा में कहा जा सकता है कि सत् अद्वैत है और वह अनुभूति स्वरूप है

1. "Reality on my v'ew is doubtless infra-relational, but doubtless it is relational and in neither of these characters is it ultimate. It is only in what is supra-relational, and is atonce neither and both of the above, that we can find, I think, a Reality which is ultimate and absolute."
—Bradley. Collected Essays, Vol. II, pp. 649-650.
2. "It is consciousness by identity when the gap between the known and knower vanishes."

और इसके साथ यह भी कि वह केवल मेरी विशिष्ट चेतना नहीं है।[1] पुनः उसके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए यह भी कहा जा सकता है कि वह हमारी सामान्य चेतना के विभिन्न प्रकारों में अन्तर्भूत एवं सक्रिय प्रतिमान की ही परिपूर्णतम सिद्ध है।

परम सत् अति-वैयक्तिक है :

परम सत् के बारे में एक और प्रश्न जो सामान्यतः उठाया जाता हैं, वह यह है कि क्या यह सत् जो अनुभूति स्वरूप है—पर मानवीय अनुभूति से श्रेष्ठ है, अपना निजी व्यक्तित्व भी रखता हैं? प्रत्युत्तर में ब्रैडले कहते हैं कि इस प्रश्न पर हमारा उत्तर स्वीकारात्मक और नकारात्मक दोनों ही हो सकता है।

स्वीकारात्मक इसलिये कि जैसा पूर्व खण्ड में कहा जा चुका है, परम सत् मानवीय व्यक्तित्व में अन्तर्भूत एवं सक्रिय प्रतिमान के रूप में सर्वदा विद्यमान है और उसकी परिपूर्णतम सिद्धि को हम केवल इस विशेष अर्थ में व्यक्तित्व की संज्ञा दे सकते हैं कि उसमें हम अपने व्यक्तित्व की परिपूर्णता को प्राप्त करते हैं।

पुनः क्योंकि परम सत् में सभी कुछ विद्यमान है—यद्यपि रूपांतरित होकर इसलिए उसमें व्यक्तित्व भी विद्यमान है और सत् नाते उसे एक विशेष अर्थ में व्यक्तित्व सम्पन्न कहा जा सकता है।[2] पुनः क्योंकि मानवीय व्यक्तित्व एक अनुभूतिमूलक इकाई है और परम सत् भी अनुभूतिस्वरूप है, जिसमें वह अपनी परिपूर्णतम अभिव्यक्ति को प्राप्त होता है इसलिए प्रथम के साथ संयुक्त करते हुए यह कहा जा सकता है कि उसमें क्योंकि कुछ भी नष्ट नहीं होता इसलिए व्यक्तित्व भी नष्ट नहीं होता।[3]

परन्तु इस स्वीकारात्मक कथन की स्पष्ट सीमायें हैं जिनकी अवहेलना

---

1. "Reality then is one, and it is experience. It *is not merely* my experience, ... " A. & R., p. 469.
2. "Since the Absolute has everything, it of course must posses personality." —Ibid., p. 470.
3. "And since in the Absolute the every lowest modes of experience ar not lost, it seems even absurd to raise such a question about personality." —Ibid., p, 470.

ब्रैंडले के निष्कर्षों की प्रमुख ध्वनि के मूल्यांकन की दृष्टि से घातक हो सकती है। अतएव नकारात्मक उत्तर को प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं कि 'व्यक्तित्व' शब्द सामान्यतः एक सीमित इकाई का द्योतन करता है। अतएव परम सत् के बारे में इस शब्द के प्रयोग से अनेक भ्रांतियों का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। इसलिये अपरिसीम चेतना को इस शब्द से न प्रस्तुत करना ही उचित होगा। इन्हीं विचारों को प्रस्तुत करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि यदि 'वैयक्तिक' शब्द से उसके सामान्य अर्थ जैसे किसी अर्थ को व्यक्त करना है तो निश्चित ही परम सत् वैयक्तिक नहीं है--उन्हीं के शब्दों में: "वह वैयक्तिक नहीं ही है।[1] क्योंकि यह वैयक्तिक होने के साथ ही कुछ और भी है। संक्षेप में वह अतिवैयक्तिक है।

परम सत् ईश्वर नहीं है :

इसी संदर्भ में ब्रैडले परम सत् और ईश्वर के अन्तर को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि परम सत् के लिए 'ईश्वर' शब्द का प्रयोग भी पर्याप्त नहीं है। सामान्यतः 'ईश्वर' शब्द का प्रयोग एक ऐसी इकाई के लिए किया जाता है जो मानवीय व्यक्तित्व की तुलना में अपरिसीम है परन्तु मानवीय व्यक्तित्व की भांति बोध, संकल्प, इच्छा एवं भावना से युक्त है। पुनः मानव अपने अन्तरतम में उस इकाई से वार्तालाप स्थापित कर सकता है और संवेगात्मक स्तर पर भक्त और भगवान में भावात्मक आदान--प्रदान संभव है। और आंतरिक स्थिति के अनुसरण इस विभिन्न मात्रा में स्पष्ट प्रतीत भी होती है। ये दोनों कल्पनायें एक साथ ईश्वर प्रत्यय में युक्त रहती हैं पर सामान्यतः हमें इनकी विसंगति का बोध नहीं होता। जो अपरिमित है वह उस अर्थ में व्यक्तित्व सम्पन्न नहीं हो सकता जिस अर्थ में सामान्य व्यक्ति मनोदैहिक संघात के माध्यम से व्यक्तित्व सम्पन्न होता है। और इस आशय को पूर्व खण्ड में स्पष्ट किया जा चुका है।

परन्तु इसी सम्बन्ध में हमें इस बात का भी स्मरण रखना चाहिए कि जब नकारात्मक कथन द्वारा हम परम सत् के व्यक्तित्व सम्पन्न नैतिक अथवा

---

1. "*If the term 'personal' is to bear anything like its ordinary* sense, assuredly, because it is personal and more. It is, in a word, super-personal."

—Ibid., p. 471.

सुन्दर न होने की बात करते है।[1] तो इसका अभिप्राय यह नहीं कि सामान्यत: इन शब्दों के माध्यम से जो चित्र भव में अंकित होता है, उससे न्यून है यानी वह निम्न-वैयक्तिक अथवा निम्न-नैतिक है। ब्रैडले कहते हैं इससे तो कहीं अधिक अच्छा होगा यदि हम उसे उदाहरणार्थ व्यक्तित्व सम्पन्न ही मान लें। इस प्रश्न पर नकारात्मक कथनों का आशय तो केवल यही है कि हमारा ध्यान उसकी अपरिमितता पर और साथ ही सामान्य प्रत्ययों के माध्यम से व्यंजित होने की असम्भवत: पर केन्द्रित रहे। उसे निम्न-नैतिक कहने से तो कहीं अधिक अच्छा यह कहना होगा कि वह अति-वैयक्तिक, अति-नैतिक, अति-सुन्दर आदि है। वस्तुत: परम सत् चेतना के इन सभी प्रारूपों में व्यंजित होते हुए, इन्हें आत्मसात् करते हुए ही अस्तित्ववान है और जब हम यह कह सकते हैं कि वह अस्तित्ववान है तो अस्तित्ववान के साथ जो सामान्य ध्वनि जुड़ी है उससे भी हमें अपने को मुक्त रखना होगा।[2]

क्या परम सत् में सुख का अतिरेक है ?

परम सत् के विषय में एक अन्य सम्भव प्रश्न की चर्चा करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि लोग पूछ सकते हैं कि क्या वह सुखी है ? स्पष्ट है उत्तर नकारात्मक ही है क्योंकि जिस अर्थ में सामान्यत: हम 'सुख' शब्द का प्रयोग करते हैं उस अर्थ में परम सत् निश्चित ही अपरिमित यानी विशिष्ट केन्द्र-विहीन होने के कारण सुखी नहीं हो सकता।

पर इस प्रश्न पर पुनः विचार करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि क्या सैद्धान्तिक रूप से यह कहना अयुक्त होगा कि परम सत् सुखी है यानी उसमें दुख की अपेक्षा सुख का अतिरेक है ? क्या यह मुमकिन नहीं कि द्वन्द्वों के समन्वय की स्थिति में सुख न होकर दुःख की ही अन्ततः स्थापना हो।

प्रत्युत्तर में वे कहते हैं— कि सैद्धान्तिक रूप से इस द्वितीय 'संभावना' को अयुक्त कहकर उसका तिरस्कार करना संभव नहीं है क्योंकि यह न निरर्थक ही है और न आत्मविरोधी ही। वे कहते हैं कि यदि हम यह अस्वीकार

1. "The Absolute is not personal, nor it is moral, nor it is beautiful or true:" —Ibid., p. 472.
2. "But it is better in this connexion to call it super-personal." —Ibid., p. 473.

करने का प्रयत्न करें कि परम सत् अनुभूतिमय है तो हमारा निषेध अर्थहीन हो जायेगा या फिर स्वयं समर्थन में बदल जायेगा। परन्तु सुख के विषय में ऐसा सम्भव नहीं है।[१] फिर भी ब्रैडले कहते हैं, अनुभूति के आधार पर यह निश्चित है कि परम सत् में दुःख की अपेक्षा 'सुख' का ही अन्ततः अतिरेक है।[२] पर इसके साथ यह भी निश्चित है कि परिपूर्ण समन्वय की जिस स्थिति को हम 'सुख' की संज्ञा देंगे वह उस सुख से भिन्न होगा जिसकी अनुभूति हम जीवन में करते हैं और जिसका आविर्भाव दुख के विरोध में—उसके निषेध के रूप में होता है। इस प्रकार एपियरेंस एण्ड रियेलिटी पुस्तक में ब्रैडले परिपूर्ण सत् का एक 'भावात्मक' चित्र अंकित करके उससे सम्बद्ध मिथ्या धारणाओं के निराकरण का प्रयास करते हैं। अपने निष्कर्ष को अन्तिम रूप से प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं कि सत् अन्ततः एक अनुभूति है जो आत्म-व्यापी होने के साथ ही मात्र सम्बन्धों से श्रेष्ठ है। वह आध्यात्मिक है।[३] पुनः उससे वाह्य न तो कोई सत्ता है और न दूसरी सत्ता कोई हो सकती है। और इसी से सम्बद्ध यह भी सत्य है कि जो जिस अनुपात में आध्यात्मिक है उतनी ही मात्रा में वह सत् है।[४]

---
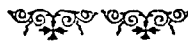
1. "If we try to deny that the Absolute is one and is experience, our denial becomes unmeaning or of itself turns round into an assertion. But I do not see that this is the case with a denial of happiness." —Ibid., Page 473.
2. "And Reality is one Experience, self pervading an superior to mere relations." —Ibid., p. 489.
3. "Outside of spirit there is not, and there cannot be any reality, and, the more that anything is spiritual, so much the more is it veritably real." - Ibid., p. 489.
4. "We found that there is a balance of pleasure over and above pain and we know from experience that in a mixed state such a balance may be pleasant. And we are sure that the Absolute possesses and enjoys some how this balance of pleasure." --Ibid., Page 473.

परिशिष्ट :

'अव्यवहितत्व' का स्वरूप : ब्रैडले के सिद्धांत से सम्बद्ध कुछ विविध प्रश्न

तत्वमीमांसा की दृष्टि से ब्रैडले की पुस्तक 'एपियरेन्स एण्ड रियेलिटी' सर्वाधिक महत्वपूर्ण और अपने समय में और आज भी बहुचर्चित है। भाषा के सौष्ठव और विचार की गंभीरता—दोनों ही दृष्टियों से यह ब्रैडले की सर्वोत्कृष्ट कृति है। पर जिस भावात्मक स्वीकृति पर उनके दार्शनिक निष्कर्ष इस पुस्तक में प्रस्तुत किये गये हैं उसका स्पष्टीकरण उनके छुटपुट लेखों में मिलता है और इस दृष्टि से ये सभी महत्वपूर्ण है। इनका संकलन 'ऐसेज आन ट्रथ एण्ड रियेलिटी' पुस्तक में हुआ है। वर्तमान खण्ड में मैं उन्हीं निबंधों में प्रस्तुत विचारों की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहूंगी क्योंकि मेरी समझ में वे ब्रैडले की दार्शनिक दृष्टि से सम्बद्ध अनेक भ्रांतियों से हमें मुक्त करने में सहायक होंगे।

आन माई रियल वर्ल्ड :

अपने एक लेख में जिसका शीर्षक 'आन माई रियल वर्ल्ड' हैं, ब्रैडले परोक्षत: अध्यात्मवाद से सम्बद्ध अनेक भ्रांतियों के निराकरण में सफल होते हैं, साथ ही अपरोक्षत: अपने दृष्टिकोण से सम्बद्ध कुछ महत्वपूर्ण विचारों को भी प्रस्तुत करते हैं।

सामान्यत: अध्यात्मवाद के विरुद्ध जो आपत्ति प्रस्तुत की जाती है यह है कि वह जीवन की विभिन्न इकाइयों की विशिष्टताओं के विलय की ओर सामान्यत: स्वीकृत मूल्यों के निष्कासन की बात करता है और एक निर-पेक्ष निर्वैयक्तिक सत् को अन्तिम सत्य के रूप में प्रस्तुत करता है। व्यावहारिक दृष्टिकोण को स्वीकार करने वाले और उसी को प्राथमिकता देने वाले हम बौद्धिक प्राणियों के लिये 'तथ्य' और तथ्यात्मक जगत ही ठोस प्रतीत हो

हैं। फलस्वरूप ऐसे सत् की चर्चा, जिसमें इनके किसी भी रूप में निराकरण की बात की जाती है, हमें हास्यास्पद प्रतीत होती है। एक अत्यन्त सजग मस्तिष्क रखने वाले अपने विभागीय सहयोगी अद्वैत वेदांत पर बात करते हुए यह पता चला कि वे ज्ञानमीमांसीय स्तर पर तो अद्वैत वेदांत के निष्कर्षों को स्वीकार कर पाते हैं, पर उसी सिद्धांत के अन्तर्गत जब इस विश्व के निराकरण की बात की जाती है, तो फिर उसका समर्थन करना उनके लिये असंभव दिखाई देता है। प्रश्न करते हुए उन्होंने कहा, क्या इस जगत का 'आन्टोलोजिकलस्टेटस' सचमुच में वही है जो इस दृष्टिकोण के अन्तर्गत प्रस्तुत किया जाता है ? यहां पर हम इस प्रश्न का उत्तर ब्रैडले की दार्शनिक दृष्टि के परिप्रेक्ष्य में ही देना चाहेंगे, यद्यपि इस उत्तर को भारतीय दार्शनिक दृष्टि के परिप्रेक्ष्य में भी दिया जा सकता है। अध्यात्मवाद के समर्थक एक विशेष अर्थ में एक कालातीत सत्ता को काल की मध्यस्थता से अपने को व्यंजित करती हुई मानते हैं। नव्य आंग्ल हेगेलवादी ब्रैडले ही नहीं बल्कि उनके दृष्टिकोण से सदृशता रखने वाले प्रायः सभी समर्थक बोसांके और ग्रीन भी इसी विचार को अपने तरीके से प्रस्तुत करते हैं। पुनः मूल्यों के संदर्भ में, अपने विचारों को प्रस्तुत करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि ये मूल्य यद्यपि वस्तुनिष्ठा, शाश्वत और चिरंतन है फिर भी व्यक्ति की निजी चेतना के माध्यम से ही ये मूल्य स्वीकृत होते हैं और व्यक्तिगत संकल्प के माध्यम से ही ये यथार्थ होते हैं।[1] किसी स्वप्न की स्थिति में न ये मूल्य स्वीकृत होते हैं और न हीं हम इन्हें जीवन में प्राप्त करते हैं।[2] पर इतना तो निश्चित है कि जहां भी ये व्यंजित होते हैं,

---

1. "Our life has value only because and so far as it realizes in fact that which transcends time and existence. Goodness, beauty and truth are all there is which in the end is real Their reality, appearing amid chance and change, is beyond these and is enternal. But in whatever world they appear that world so far is real. And yet these enternal values owe their existence to finite wills, and it is therefore only each in our own world that we can come to possess them." —Essays, p. 469.
2. "We must till our garden awake and in na dream to gain the fruits and flowers for which alone it is worthwhile to live, and which if anywhere there are better, atleast to us are everything." —Ibid., p. 469.

इनकी मध्यस्थता से जीवन की सार्थकता में वृद्धि होती है। यही नहीं, जिस अनुपात में जीवन इन्हें अपने में प्रस्तुत करता है, उसी अनुपात में जीवन सत् और मूल्यवान होता है।

स्वप्नद्रष्टा और ब्रैडले :

इसी प्रसंग में ब्रैडले स्वप्नद्रष्टा—जो काल्पनिक स्वर्ग का चित्र प्रस्तुत करता है—के दृष्टिकोण की सीमाओं को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि स्वप्न-द्रष्टा 'स्वर्ग' को देश और काल में अवस्थित मानता है और इसके साथ ही वह उन परिमित पार्थिव स्थितियों की अवहेलना करता है जो इन मूल्यों के अवतरण के लिए अनिवार्य हैं। ये मूल्य जहां भी जिस रूप में व्यंजित हुए हैं, उन्होंने अपने स्पर्श से जीवन को पावन और मंगलमय बना दिया है।[1]

जीवन की तथ्यता : एक नवीन दृष्टि :

स्पष्ट है कि ब्रैडले के दर्शन में तथ्यात्मक जगत का निषेध नहीं किया गया है पर उसकी तथ्यता को स्वीकार करते हुए उसका पुनर्मूल्यन किया गया है, और पुनर्मूल्यन की इस प्रक्रिया में उसे एक अतीन्द्रिय अनानुमिक सत्ता से संयुक्त करने की चेष्टा की गयी है। यह कहना यहाँ पर अप्रासंगिक न होगा कि पुनर्मूल्यन की यह प्रक्रिया अचेतन रूप से और कभी-कभी सचेतन रूप से हम सभी

---

1. "The fault of the visionary is his endeavour to find how on in the past or future as an existing place that heaven which is no place, while he neglects those finite conditions by which alone Goodness and Beauty can in any place be realized." —Ibid., p. 469.

"For love and beauty and delight" It is no matter where they have shown themselves, "There is no death nor change"...... These things do not die, since the Paradise in which they bloom is immortal. That Paradise is no special region nor any given particular spot in time and space. It is here, it is everywhere where any finite being is lifted into that higher life which alone is waking reality." —Ibid, p. 469.

हैं। फलस्वरूप ऐसे सत् की चर्चा, जिसमें इनके किसी भी रूप में निराकरण की बात की जाती है, हमें हास्यास्पद प्रतीत होती है। एक अत्यन्त सजग मस्तिष्क रखने वाले अपने विभागीय सहयोगी अद्वैत वेदांत पर बात करते हुए यह पता चला कि वे ज्ञानमीमांसीय स्तर पर तो अद्वैत वेदांत के निष्कर्षों को स्वीकार कर पाते हैं, पर उसी सिद्धांत के अन्तर्गत जब इस विश्व के निराकरण की बात की जाती है, तो फिर उसका समर्थन करना उनके लिये असंभव दिखाई देता है। प्रश्न करते हुए उन्होंने कहा, क्या इस जगत का 'आन्टोलोजिकलस्टेटस' सचमुच में वही है जो इस दृष्टिकोण के अन्तर्गत प्रस्तुत किया जाता है? यहां पर हम इस प्रश्न का उत्तर ब्रैडले की दार्शनिक दृष्टि के परिप्रेक्ष्य में ही देना चाहेंगे, यद्यपि इस उत्तर को भारतीय दार्शनिक दृष्टि के परिप्रेक्ष्य में भी दिया जा सकता है। अध्यात्मवाद के समर्थक एक विशेष अर्थ में एक कालातीत सत्ता को काल की मध्यस्थता से अपने को व्यंजित करती हुई मानते हैं। नव्य आंग्ल हेगेलवादी ब्रैडले ही नहीं बल्कि उनके दृष्टिकोण से सदृशता रखने वाले प्राय: सभी समर्थक बोसांके और ग्रीन भी इसी विचार को अपने तरीके से प्रस्तुत करते हैं। पुन: मूल्यों के संदर्भ में, अपने विचारों को प्रस्तुत करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि ये मूल्य यद्यपि वस्तुनिष्ठा, शाश्वत और चिरंतन है फिर भी व्यक्ति की निजी चेतना के माध्यम से ही ये मूल्य स्वीकृत होते हैं और व्यक्तिगत संकल्प के माध्यम से ही ये यथार्थ होते हैं।[1] किसी स्वप्न की स्थिति में न ये मूल्य स्वीकृत होते हैं और न हीं हम इन्हें जीवन में प्राप्त करते हें।[2] पर इतना तो निश्चित है कि जहां भी ये व्यंजित होते हैं,

---

1. "Our life has value only because and so far as it realizes in fact that which transcends time and existence. Goodness, beauty and truth are all there is which in the end is real Their reality, appearing amid chance and change, is beyond these and is enternal. But in whatever world they appear that world so far is real. And yet these enternal values owe their existence to finite wills, and it is therefore only each in our own world that we can come to possess them." —Essays, p. 469.
2. "We must till our garden awake and in na dream to gain the fruits and flowers for which alone it is worthwhile to live, and which if anywhere there are better, atleast to us are everything." —Ibid., p. 469.

इनकी मध्यस्थता से जीवन की सार्थकता में वृद्धि होती है। यही नहीं, जिस अनुपात में जीवन इन्हें अपने में प्रस्तुत करता है, उसी अनुपात में जीवन सत् और मूल्यवान होता है।

स्वप्नद्रष्टा और ब्रैडले :

इसी प्रसंग में ब्रैडले स्वप्नद्रष्टा—जो काल्पनिक स्वर्ग का चित्र प्रस्तुत करता है—के दृष्टिकोण की सीमाओं को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि स्वप्नद्रष्टा 'स्वर्ग' को देश और काल में अवस्थित मानता है और इसके साथ ही वह उन परिमित पार्थिव स्थितियों की अवहेलना करता है जो इन मूल्यों के अवतरण के लिए अनिवार्य हैं। ये मूल्य जहां भी जिस रूप में व्यंजित हुए हैं, उन्होंने अपने स्पर्श से जीवन को पावन और मंगलमय बना दिया है।[1]

जीवन की तथ्यता : एक नवीन दृष्टि :

स्पष्ट है कि ब्रैडले के दर्शन में तथ्यात्मक जगत का निषेध नहीं किया गया है पर उसकी तथ्यता को स्वीकार करते हुए उसका पुनर्मूल्यन किया गया है, और पुनर्मूल्यन की इस प्रक्रिया में उसे एक अतीन्द्रिय अनानुभिक सत्ता से संयुक्त करने की चेष्टा की गयी है। यह कहना यहां पर अप्रासंगिक न होगा कि पुनर्मूल्यन की यह प्रक्रिया अचेतन रूप से और कभी-कभी सचेतन रूप से हम सभी

---

1. "The fault of the visionary is his endeavour to find how on in the past or future as an existing place that heaven which is no place, while he neglects those finite conditions by which alone Goodness and Beauty can in any place be realized." —Ibid., p. 469.

"For love and beauty and delight" It is no matter where they have shown themselves, "There is no death nor change"...... These things do not die, since the Paradise in which they bloom is immortal. That Paradise is no special region nor any given particular spot in time and space. It is here, it is everywhere where any finite being is lifted into that higher life which alone is waking reality." —Ibid, p. 469.

के भीतर चलती रहती है। ब्रैडले ने इसी प्रक्रिया को आलोचनात्मक अनुचिंतन के माध्यम से उस अन्तिम तार्किक विन्दु तक पहुंचाने की चेष्टा की है। परिणाम स्पष्ट है। इस प्रयास के पश्चात् तथ्यों की 'स्वपर्याप्तता' में आस्था बनाये रखना हमारे लिए असंभव हो जाता है। इसी को सम्भवत: स्पिनोजा ने 'मोडल रियेलिटी' शब्द से व्यक्त करने की चेष्टा की थी। अन्य शब्दों में ये तथ्य अपनी सत्ता एवं मूल्य दोनों ही दृष्टियों से एक 'पदार्थ' की अपेक्षा करते हैं। अत: 'पदार्थ' ही उनके विचार में एकाकी सत् है और ये सभी तथ्य जो निरपेक्ष इकाइयां प्रतीत होती हैं, वस्तुतः साक्षेप सत्तायें हैं, इन्हें 'पदार्थ' की संज्ञा देना अनुचित नहीं है। हम स्पिनोजा द्वारा प्रयुक्त पदावली से भले ही सहमत न हों—क्यों इस पदावली से सम्बद्ध अनेक भ्रांतियां हैं, जिनसे अपने को मुक्त करना सहज नहीं हैं। पर स्पिनोजा के विचारों से असहमत होने का प्रश्न ही नहीं उठता। सामान्य दृष्टि जब वैज्ञानिक दृष्टि द्वारा रूपांतरित हो सकती है, और हमारे दृष्टिकोण को संतुलित कर सकती है, तो फिर दार्शनिक दृष्टि क्यों नहीं--वैज्ञानिक दृष्टि के असंतुलन की ओर संकेत करके, हमारे भीतर एक स्थायी संतुलन का निर्माण कर सकती है ? हम क्यों दार्शनिक दृष्टि को वैज्ञानिक दृष्टि की तुलना में हेय मानते है ? उसका कारण मेरी समझ में यही है कि वैज्ञानिक दृष्टि के साथ तथा उसके निष्कर्षों के साथ हम थोड़ा-बहुत कुछ न्याय कर सकते हैं क्योंकि वैज्ञानिक और हम सभी समान रूप से बौद्धिक धरातल पर ही बात करते हैं और इसलिए एक दूसरे की भाषा समझ सकते हैं। पर दार्शतिक जब बौद्धिक धरातल के अतिक्रमण की बात करता है और एक उच्चस्तरीय बोध से सम्बद्ध संभावना को प्रस्तुत करता हैं और यही नहीं वह कहता है कि समुचित प्रयास से हम उस संभावना को साकार भी कर सकते हैं, तो हमारी समझ में यह भाषा नहीं आती। क्योकि हम सभी अपने व्यक्तित्व के केन्द्र में बुद्धि को ही एकाकी देवता के रूप में प्रतिष्ठित किये हैं।

अध्यात्मवाद के समर्थक—चाहे वे पश्चिम के हों अथवा पूर्व के, बुद्धि को बोध के एकाकी आयाम के रूप में स्वीकार करने में असमर्थ हैं। यही कारण हैं कि वे उसके अतिक्रमण की बात करते हैं। और एक अतिप्राज्ञ, बोध के रूप में और उसे ही अन्ततः सत् के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं क्योंकि अतिप्राज्ञ बोध के स्तर पर बोध तथा सत् पूर्णरूपेण एकीकृत हो जाते हैं। इसी परंपरा के अन्तर्गत ब्रैडले एक महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में आते हैं। यही कारण

है कि उनके अपने ही देश में उनके दृष्टिकोण के विरुद्ध सर्वाधिक तीव्र प्रतिक्रिया हुई।

मेरे जगत का स्वरूप और उसका पार्थिव अधिष्ठान :

सापेक्षता को अन्तिमता में रूपांतरित करना अनुचित है। पुन: 'मेरे जगत' की सत्ता की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि उसका आधार मेरा 'शरीर' है। इसी पार्थिक इकाई को केन्द्रित मानते हुए मेरा निजी जगत निर्मित होता है और इसके अभाव में उसकी कल्पना असम्भव है पर क्योंकि यह जगत एक निश्चित केन्द्र से सम्बद्ध और उसी से नियंत्रित है, इसलिये यद्यपि व्यावहारिक स्तर पर इसका महत्व है, फिर भी इसकी सापेक्षता की अवहेलना करते हुए इसे अन्तिम मान लेना उचित नहीं है।

हमारी जैसी अन्य पार्थिव इकाइयां भी हैं और उनके अपने संसार हैं, इस तथ्य की अवहेलना करना संभव नहीं है और न ही उचित है। पुन: हमें अपने जो व्यक्तिगत नितांत व्यावहारिक दृष्टिकोण से असामान्य, अयुक्त और अवांछनीय प्रतीत होता है वही किसी दूसरे दृष्टिकोण से बिल्कुल सहज, युक्त और वांछनीय हो सकता है, इस सम्भावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। अत: इस संकुचित नितांत वैयक्तिक दृष्टिकोण को और उस पर इस प्रकार आधारित जगत को किस प्रकार अन्तिमता दी जा सकती ? [1]

पुन: ब्रैडले कहते हैं व्यावहारिक दृष्टिकोण से यदि हमें जीवित रहना है, तो हमें कार्य करना ही है और यदि कार्य करना है तो हमें उस विश्व को स्वीकार करना ही है, जो इसी समय-काल के किसी बिन्दु विशेष पर मेरे लिये यथार्थ होता है। पुन: यदि हमें जीवन में किसी प्रकार की व्यवस्था एवं सुसं-

1. "The contention that our waking world is the one real order of things will not stand criticism. On the foundation of your waking self you urge that a certain ideal arrangement is best. No one has questioned this or has proposed that your arrangement should be dropped what we object to is your assumption that no one anywhere can start from a different basis, or atleast that, if he does to the result will turn out wores theoretically and practically."
—Ibid.; pp. 463-64.

के भीतर चलती रहती है। ब्रैडले ने इसी प्रक्रिया को आलोचनात्मक अनुचिंतन के माध्यम से उस अन्तिम तार्किक विन्दु तक पहुचाने की चेष्टा की है। परिणाम स्पष्ट है। इस प्रयास के पश्चात् तथ्यों की 'स्वपर्याप्तता' में आस्था बनाये रखना हमारे लिए असंभव हो जाता है। इसी को सम्भवतः स्पिनोजा ने 'मोडल रियेलिटी' शब्द से व्यक्त करने की चेष्टा की थी। अन्य शब्दों में ये तथ्य अपनी सत्ता एवं मूल्य दोनों ही दृष्टियों से एक 'पदार्थ' की अपेक्षा करते हैं। अतः 'पदार्थ' ही उनके विचार में एकाकी सत् है और ये सभी तथ्य जो निरपेक्ष इकाइयां प्रतीत होती हैं, वस्तुतः सापेक्ष सत्तायें हैं, इन्हें 'पदार्थ' की संज्ञा देना अनुचित नहीं है। हम स्पिनोजा द्वारा प्रयुक्त पदावली से भले ही सहमत न हों—क्यों इस पदावली से सम्बद्ध अनेक भ्रांतियां हैं, जिनसे अपने को मुक्त करना सहज नहीं हैं। पर स्पिनोजा के विचारों से असहमत होने का प्रश्न ही नहीं उठता। सामान्य दृष्टि जब वैज्ञानिक दृष्टि द्वारा रूपांतरित हो सकती है, और हमारे दृष्टिकोण को संतुलित कर सकती है, तो फिर दार्शनिक दृष्टि क्यों नहीं--वैज्ञानिक दृष्टि के असंतुलन की ओर संकेत करके, हमारे भीतर एक स्थायी संतुलन का निर्माण कर सकती है ? हम क्यों दार्शनिक दृष्टि को वैज्ञानिक दृष्टि की तुलना में हेय मानते है ? उसका कारण मेरी समझ में यही है कि वैज्ञानिक दृष्टि के साथ तथा उसके निष्कर्षों के साथ हम थोड़ा-बहुत कुछ न्याय कर सकते हैं क्योंकि वैज्ञानिक और हम सभी समान रूप से बौद्धिक धरातल पर ही बात करते हैं और इसलिए एक दूसरे की भाषा समझ सकते हैं। पर दार्शतिक जब बौद्धिक धरातल के अतिक्रमण की बात करता है और एक उच्चस्तरीय बोध से सम्बद्ध संभावना को प्रस्तुत करता हैं और यही नहीं वह कहता है कि समुचित प्रयास से हम उस संभावना को साकार भी कर सकते हैं, तो हमारी समझ में यह भाषा नहीं आती। क्योंकि हम सभी अपने व्यक्तित्व के केन्द्र में बुद्धि को ही एकाकी देवता के रूप में प्रतिष्ठित किये हैं।

अध्यात्मवाद के समर्थक—चाहे वे पश्चिम के हों अथवा पूर्व के, बुद्धि को बोध के एकाकी आयाम के रूप में स्वीकार करने में असमर्थ हैं। यही कारण हैं कि वे उसके अतिक्रमण की बात करते हैं। और एक अतिप्राज्ञ, बोध के रूप में और उसे ही अन्ततः सत् के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं क्योंकि अतिप्राज्ञ बोध के स्तर पर बोध तथा सत् पूर्णरूपेण एकीकृत हो जाते हैं। इसी परंपरा के अन्तर्गत ब्रैडले एक महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में आते हैं। यही कारण

पर इस 'काल' को सामान्य से भिन्न अर्थ में ही समझना चाहिये। इस 'उपस्थिति' को ब्रैडले 'ड्यूरेशन' शब्द से व्यक्त करते हैं और बर्गसां के विद्यार्थी इस शब्द से सभी परिचित हैं और इसकी निषेधात्मक ध्वनि से भी परिचित है। बर्गसां की भांति ब्रैडले भी जब 'उपस्थिति' को 'ड्यूरेशन' यानी 'काल' की संज्ञा देती हैं, तो उसे इस शब्द के साथ संयुक्त सामान्य ध्वनि से पृथक् मानते हैं। इस 'उपस्थिति' जिसे वे अंग्रेजी शब्द 'प्रेसेन्ज' से व्यक्त करते हैं, को, जो वर्तमान है, ब्रैडले उस 'वर्तमान' से भिन्न मानते हैं जो भूत तथा भविष्य से अपने को पृथक् करता है और उसके विरोध में ही अपनी उपस्थिति को व्यक्त करता है।[1] इसी कल्पना को अधिक स्पष्ट करने के प्रयास में ब्रैडले विरोधाभास के रूप में अपने को व्यक्त करते हुए कहते हैं कि यह उपस्थिति वस्तुतः 'काल' का ही मूर्त एवं भावात्मक निषेध है। अन्य शब्दों में, काल की त्रिपदीय अभिव्यक्ति भूत, भविष्य एवं वर्तमान, इसके स्वरूप को व्यंजित करने में असमर्थ हैं। यही नहीं वे कहते हैं देश एवं काल की मध्यस्थता से इसके स्वरूप को ग्रहण करने के सभी प्रयास इसके मूल रूप को प्रस्तुत करने में असमर्थ है। वे वस्तुतः प्रत्ययात्मक संरचनायें हैं जो इसी कारण कृत्रिम है और उसके वास्तविक स्वरूप के साथ न्याय करने में असमर्थ है।[2] अपनी पुस्तक एपियरेन्स एण्ड रियेलिटी के प्रथम खण्ड में 'देशकाल' को ब्रैडले बुद्धि की एक कोटि के रूप में स्वीकार करते हैं और उसमें विद्यमान आंतरिक विसंगतियों को अनावृत करते हुए अपने निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं कि इसके माध्यम से प्रस्तुत जगत तत्वमीमांसीय दृष्टि से सत् नहीं प्रत्युत आभास है। अपने इस लेख में वे इन्हीं निष्कर्षों को पुनः प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि इन प्रत्ययों

1. "A finite centre itself may indeed be called duration in the sense of presence. Sut such a present is not any time which is opposed to a past and furjure. It is temporal in the sense of being itself the positive and concrete negation of time."
—Essays p. 410.
2. "The distinctions of a past and future beyond the present time and of one centre of experience as separate from others, are essentiall the products of ideal construction. And the same remarks hold with regard to to the duration in time of any finite centre."
– Ibid., p. 411.

की एक सीमित वैधता है—'ये केवल विषयों के जगत में ही सार्थक हैं और एक परिमित केन्द्र निश्चित ही एक विषय नहीं हैं। इस परिमित केन्द्र के अस्तित्व को वे उपस्थिति के अर्थ में 'ड्यूरेशन' शब्द से व्यक्त करते हैं।

बर्गसां के विद्यार्थी काल के दो स्वरूपों से परिचित हैं। एक को बर्गसां 'गणितीय काल' कहते हैं जो एक प्रत्ययात्मक संरचना है और जिसका व्यावहारिक महत्व है, पर जो सत्ता की तत्वमीमांसीय अभिव्यंजना की दृष्टि से सर्वथा अपर्याप्त है। इस गणितीय काल' को वे 'ड्यूरेशन' से पृथक् मानते हैं। पुनः 'ड्यूरेशन' के रूप में ही बर्गसां सत्ता को प्रस्तुत करते हैं। किन्हीं भी दो दार्शनिकों के विचारों में शत-प्रतिशत- साम्य नहीं हो सकता पर इस युग के दो महत्वपूर्ण दार्शनिको के विचारों में यह साम्य अपना ही महत्व रखता है। निश्चित ही दोनों दार्शनिकों के विचारों की निषेधात्मक ध्वनि में जरा भी अन्तर नहीं है। अनजाने ही यहां पर बर्गसां ब्रैडले के विचारों का अपरोक्षतः—क्योंकि अपरोक्षतः तो उनका दर्शन अन्य वादों की भांति ब्रैडले के परिकल्पनात्मक दर्शन के विरोध में ही विकसित हुआ है, समर्थन करते हुये दिखाई देते हैं।

परिमित केन्द्र के प्रश्न पर ब्रैडले के विचारों की ओर प्रत्यावर्तन करते हुये हम देखते है कि वे इस केन्द्र को एक ऐसे अस्तित्व के रूप में प्रस्तुत करते हैं जो निश्चित ही विषयों से भिन्न हैं, विषय रूप में प्रस्तुत नहीं हो सकता पर साथ ही वह सपूर्ण विषय—जगत का एक महत्वपूर्ण अर्थ में अधिष्ठान है। उसे ड्यूरेशन शब्द से भी व्यंजित करना ब्रैडले की दृष्टि में उचित नहीं है। क्योंकि इस प्रकार इस शब्द के प्रयोग द्वारा हम परोक्षतः—अनजाने, उस सत् को 'विषय' में परिवर्तित कर देते हैं जो वस्तुतः सम्पूर्ण विषय जगत की पृष्ठभूमि में विद्यमान है।[1]

अपने विचारों को और अधिक स्पष्टता प्रदान करते हुये ब्रैडले कहते

1. " .... and in the end a finite centre (if we are to express ourselves strictly) is not an object. It is a basis on and from which the world of objects is made. We may speak. as I have spoken myself (App, p. 529) of a finite centre's duration. But we can do this only on sufferance and so far as by reflection we have transformed into an object the nature of that which lies behind objects."

Ibid., p. 411.

हैं कि कोई भी परिमित केन्द्र वस्तुत: कालातीत है और अपने स्वरूप में उसे इस अर्थ में परिमित कहा ही नहीं जा सकता है कि वह अन्य इकाइयों के बीच एक इकाई या वस्तु मात्र है। पुन: उसके स्थायित्व या उसके एकत्व की बात करना भी अनुचित है क्योंकि इन अभिव्यक्तियों के माध्यम से वस्तुत: हम उसे एक 'वस्तु' में रूपांतरित कर देते है। इसमें कोई संदेह नहीं कि ये सारे शब्द व्यावहारिक प्रयोजनों की दृष्टि से आवश्यक होते हैं। हम इनके प्रयोग के लिये विवश होते हैं पर इनके प्रयोग का अन्तत: कोई औचित्य नहीं हैं।[1] इन विचारों में हमें एक बार फिर सत् सम्बन्धी उन निषेधात्मक निष्कर्षों की पुन: प्रस्तुति मिलती है जिन्हें हम एपियरेन्स एण्ड रियेलिटी के प्रथम खण्ड में बार-बार अनेक कोटियों के सदर्भ में प्रस्तुत पाते हैं।

इसी प्रसंग में ब्रैडले अपने ज्ञानमीमांसीय दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुये कहते हैं कि 'ज्ञान' के प्रश्न पर हमारा सम्बन्ध उसके उद्भव से नहीं है, बल्कि उसके स्वरूप से है। इस दृष्टि से ज्ञान के स्वरूप के अध्ययन द्वारा हम परिमित केन्द्र में एक ऐसे 'अस्तित्व' का साक्षात्कार करते हैं, जो अपनी परिमितता के अतिक्रमण की संभावना रखता है। इस 'अस्तित्व' को स्वीकार किये बिना ज्ञान के स्वरूप की व्याख्या असम्भव है। अतएव इस तथ्य के बाद साक्षात्कार के बाद यह प्रश्न करना कि क्या कोई परिमित केन्द्र अपनी परिमितता का अतिक्रमण करने की सामर्थ्य रखता है, ब्रैडले के मत में बिल्कुल अर्थहीन है। इस धरातल पर मेरा अपना अस्तित्व केवल इसी नाते हैं कि वह अपने अस्तित्व के समर्थन के क्षण में ही उसका अतिक्रमण भी करता है यही नहीं, वह उसी क्षण विश्व के अन्य परिमित केन्द्रों में अन्तवर्ती 'अस्तित्व' के साथ एक रूप है।[2] ब्रैडलेके यह निष्कर्ष ब्रैडले के ही युग के

---

1. "For a centre is timeless and for itself, it is not even finite as being itself one thing among others. To speak of its continuance and its someness is to apply to it experessions which we are forced to use, but which in the end and in their proper sense cannot be justified."
—Ibid., pp. 413-14.

2. To ask as to the possibility of may passing beyond my finite centre seems, therefore, senseless. My being is there only because and in so far as my being is also and already beyond and is one with the life of the all pervading univers."
—Ibid., pp. 413-14.

एक नव्य आंग्ल हेगेलवादी ग्रीन का स्मरण कराते हैं। दर्शन के विद्यार्थी इस कांटीय युक्ति से परिचित हैं इसलिये इस पर विस्तार से कुछ लिखना आवश्यक नहीं है।

कांट तथा कांटोत्तर सम्पूर्ण दर्शन में आत्मा के इस अनुभवातीत विषयनिष्ठ स्वरूप पर बल दिया गया है और वर्तमान शताब्दी में हुसरल ने उसके इस स्वरूप को एक नवीन दार्शनिक विधि के आधार पर स्पष्ट करने की चेष्टा की है। ब्रैडले ने भी अपने दर्शन में उसके इसी रूप को स्पष्ट करने की चेष्टा की है और ब्रैडले के दार्शनिक निष्कर्षों में इस कल्पना से सम्बद्ध निष्कर्ष सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।[1] और जैसा कि मैंने अनेक प्रसंगों में स्पष्ट किया है कि यह निष्कर्ष पूर्व एवं पश्चिम की दार्शनिक दृष्टियों में संवाद स्थापित करने की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। सामान्यतः हम अपने व्यक्तित्व के इस पक्ष से अनभिज्ञ रहते हैं क्योंकि हमारा चिंतन आनुभाविक दृष्टिकोण से नियंत्रित रहता है। इस दृष्टिकोण के अतिक्रमण के पश्चात् ही हम अपने अस्तित्व के इस पक्ष से परिचित हो सकते हैं और इसमें स्थायी रूप अव-स्थित होने के लिये तो हमें 'साधना' करनी पड़ेगी। 'साधना' पक्ष पर तो भारतीय दर्शन में विशेष बल दिया गया है पर पाश्चात्य दार्शनिक दृष्टि ने दार्शनिक स्तर पर इस पक्ष की महत्ता पर विशेष बल दिया गया है।

परिमित केन्द्र के अन्य स्वीकृत रूप : जीवात्मा (सोल)

परिमित केन्द्र की इस व्याख्या के साथ ब्रैडले उसके अन्य सामान्यतः स्वीकृत रूपों की भी चर्चा करते हैं और उनकी सीमित सार्थकता को स्पष्ट करते हैं।

जब इसी परिमित केन्द्र को हम बुद्धि के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं तो उसे हम अपने वैशिष्ट्य से युक्त एक सुस्पष्ट इकाई के रूप में देखते हैं। इसीको 'जीव' या 'जीवात्मा'—अंग्रेजी में 'सोल' शब्द के माध्यम से

---

१. पर हम खेद के साथ यह कहना चाहेंगे कि यद्यपि ब्रैडले की दार्शनिक दृष्टि इस प्रश्न पर पर्याप्त स्पष्ट थी, फिर भी उन्होंने इसके साथ ही अनेक स्थलों पर सत् के सम्बन्ध में समग्रता के प्रत्यय पर बल दिया है। परम सत् के सम्बन्ध में उनके ये विचार केन्द्रीय होते हुये भी उनकी अंतर्दृष्टि के उत्कृष्टतम बिंदु का प्रतिनिधित्व नहीं करते।

व्यक्त किया जाता है। इस जीवात्मा की कल्पना में अनुभूत अन्तर्विषय (कंटेन्ट एज़ एक्सपीरियेन्स्ड) तथा अनुभूतिकर्त्ता (एक्सपीरियेन्सर) का द्वैत विद्यमान रहता है। इस अनुभूतिकर्त्ता की अनुभूतियों के रूप में ही संपूर्ण विश्व घटनाओं के क्रम के रूप में प्रस्तुत होता है। इस प्रकार एक ही सत्ता में आंतरिक विभाजन की स्वीकृति भले ही व्यावहारिक दृष्टि से सार्थक और आवश्यक क्यों न हो-पर तत्वमीमांसीय दृष्टि से इनका कोई औचित्य नहीं है। आभास खण्ड में 'आत्मा' सम्बन्धी अपने अध्यायों में ब्रैडले ने इस प्रस्तुति के अनौचित्य पर प्रकाश डाला है। अपने निष्कर्षों को यहाँ वे पुन: प्रस्तुत करते हुये कहते हैं कि प्रस्तुति में आंतरिक असंगति है और इसलिए इसका कोई औचित्य नहीं है।[1]

आत्मा (सेल्फ)

परिमित केन्द्र का एक अन्य स्वीकृत रूप 'आत्मा' है। 'आत्मा' शब्द एक ऐसी सत्ता को प्रस्तुत करता है जो 'अनात्मा' के विरोध के माध्यम से ही अपने अस्तित्व को पारिभाषित करता है। अतएव जो अपने विरोधी के माध्यम से अपने को अभिव्यक्त करता है और जो उसे पूर्णत: आत्मसात करने में असमर्थ होता है वह परिमित एवं सापेक्ष ही हो सकता है। स्पष्ट है कि परिमित केन्द्र में विद्यमान उस 'अस्तित्व' से वह एकीकृत नहीं हो सकता, जो अपनी परिमितता का अतिक्रमण करते हुये अन्त परिमित केन्द्रों में अन्तवर्ती 'अस्तित्व' से एकता स्थापित करता है। पर ब्रैडले कहते हैं यह 'आत्म तत्व' जो अनात्म से अपना पार्थक्य बनाये रखता है, वस्तुत: परिमित केन्द्र की मूल एकता के भीतर ही किन्हीं परिस्थितियों में—विशेषत: जब अनात्म का आविर्भाव होता है, विकसित होता है। अतएव वह उस मूल एकता का प्रतिनिधित्व करते हुये भी उससे एक रूप नहीं हो सकता। पुन: यह आत्मतत्व, जो मूलत: अनुभूति रूप है, स्वयं अन्तनिरीक्षण में यानी आत्मबोध के क्षणों

1. "Such a conception is for certain purposes legitimate and necessary, and to condemn it while used within proper limits, is to my mind mistaken. But outside these limits, what we call the soul is, I agree, indefensible. It is vitiated by inconsistencies and by hopeless contradictions into which there is here no need to enter further."

—Essays, p. 415.

में, अध्ययन का विषय बनता है । ऐसी स्थिति में आत्मा मूलतः अविभाज्य एकता होते हुए भी अपने को विभाजित करती हुई प्रतीत होती है। एक अर्थ में वह विषयी रूप में व्यंजित होती है, और दूसरे अर्थ मे विषय रूप में अपने को प्रस्तुत करती प्रतीत होती हैं । पर इस विभाजन के बावजूद उसे अनुभूति रूप में अपनी एकता को किसी न किसी रूप में बनाये रखना है, यह निश्चित है । नहीं तो आत्मा के रूप में उसका अस्तित्व ही लुप्तप्राय हो जायेगा।[1]

पुनः ब्रैडले कहते हैं यदि आत्मबोध में व्यक्त आत्म-अनात्म के भेद के स्वरूप का अध्ययन किया जाय तो हम देखेंगे कि इनकी विभाजन रेखायें अत्यन्त तरल हैं। जो अनुभूत तत्व एक क्षण अनात्म तत्व के रूप में अभिव्यक्त होता है और जिसे विषय रूप में जानने के लिये हमारी समूची चेतना उस पर केन्द्रित होती है, वही दूसरे क्षण विकेन्द्रित हो आत्म-पक्ष में सम्मिलित हो जाता है, और कोई अन्य अनुभूत तत्व केन्द्र में आ जाता है। इस प्रकार आत्म-अनात्म का रूप अत्यन्त तरल होता है, और स्थिति सापेक्ष होता है। आत्मबोध के इस रूप पर ब्रैडले ने 'एपियरेन्स एण्ड रियेलिटी' के आभास खण्ड के अध्याय एक में भी पर्याप्त प्रकाश डाला है और इन्हीं विशेषताओं के कारण उसे आभास घोषित किया है।

निष्कर्षतः ब्रैडले कहते हैं, परिमित केन्द्र का यह रूप व्यावहारिक प्रयोजनों की दृष्टि से पर्याप्त प्रतीत हो सकता है पर आलोचनात्मक परीक्षण पर असंतोषप्रद रहता है और अन्ततः वह एक ऐसी मूल एकता की ओर संकेत करता है जिससे उसका तादात्म्य है और जो मूलतः अ-सम्बन्धात्मक है। वह भले ही आत्मबोध में विषय रूप में ही क्यों न अपने को प्रस्तुत करे--अनुभूत

1. "I do not understand how in any felt whole there is to be an opposition, unless, as against the object, the all cotaining whole also itself becomes something limited while remaining, that is, still the unbroken whole, it is felt also specially as one with a restrictent content. This limited self (I would once more add) may in self-consciousness itself become, more or less, an object; but notwithstanding this, it always must continue to be felt, and otherwise as a self it would bodily disappear."

—Ibid., p. 417.

तत्व के रूप में अन्तत: अनुभूति के रूप में वह अपनी पृष्ठभूमि में विद्यमान एकता से अपृथक् ही रहता है।[1]

संभव भ्रांति का निराकरण : अहं मात्र वाद[2] का खंडन :

पर इसी स्थान पर ब्रैडले एक संभव भ्रांति की कल्पना करते हुए उसका खंडन करते। जब आत्मा को परिमित केन्द्र से एकीकृत करते हुए वे उसे सम्पूर्ण विश्व के एक महत्वपूर्ण अर्थ में, अधिष्ठान के रूप में स्वीकार करते हैं तो पाठकों के मन में यह विचार उठ सकता है कि वे अहंमात्रवाद का समर्थन कर रहे है। पर ब्रैडले कहते हैं परिमित केन्द्र से आत्मा मूलत: एकीकृत है, पर हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि परिमित केन्द्र केवल एक ही नहीं है। अन्य परिमित केन्द्रों को भी स्वीकार किया गया है और न ही परिमित केन्द्र को सम्पूर्ण विश्व के रूप में प्रस्तुत किया गया है। वह विश्व का, एक महत्वपूर्ण अर्थ में, अधिष्ठान तो है पर वह केवल विश्व के उसी रूप का अधिष्ठान हैं जो एक परिमित केन्द्र के माध्यम से व्यंजित होता हैं।[3] इस प्रकार अन्य परिमित केन्द्रों के अस्तित्व की स्वीकृति द्वारा तथा ज्ञान के संदर्भ

---

1. "The self's unity with that fiinite centre within which and before which the whole universe comes remains a unity which is implicit and non-relational. For though it may come before the background as an object, the self (to repeat this) is a self only so far as it remains felt as in one with the whole background."

—*Ibid.*, p. 418.

2. Solipsism.
3. "My self is not my finite centre and my finite centre is but one amongs many and it is not the universe. It is the whole universe entire and undivided, but it is that universe only and so for as it appears in one with a single centre. The intimate connexion of the finite centre and the self leads us continually into error. We identify the two and then *failing perhaps to distinguish the finite* centre from the univers we are kinded into solipsism.

—Ibid., pp. 420–21.

में पूर्व प्रतिपादित परिमित केन्द्र की स्वातिक्रमणीयता के माध्यम से ब्रैडले परिमित केन्द्र तथा आत्मा के तादात्म्य से सम्बन्धित अहंमात्रवादिता की भ्रांति से बचने का प्रयास करते हैं। उनकी दृष्टि में जीवात्मा, आत्मा तथा परिमित केन्द्रों के रूपों की स्पष्ट कल्पना दार्शनिक निष्कर्षों की स्पष्टता के लिये अत्यन्त आवश्यक है और इनकी अवहेलना अवांछनीय निष्कर्षों में हमें उलझा देगी इसमें कोई संदेह नहीं। परिमित केन्द्र, आत्मा एवं जीवात्मा इन प्रत्ययों के माध्यम से ब्रैडले जीवन के महत्वपूर्ण आयामों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं पर इस प्रश्न पर उनके विचारों की उच्चतम अभिव्यंजना उनके एक अन्य लेख, जिसका शीर्षक 'आन आवर नालेज आफ इमीडियट एक्सपीरियेन्स' में हुई है, जिसका अध्ययन इस खण्ड में प्रस्तुत किया जायेगा।

ऑन आवर नॉलेज ऑफ इमीडियट एक्सपीरियेन्स :

इस लेख के प्रारम्भ में ब्रैडले एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठाते हैं—क्या विषयी या ज्ञाता जो मूलत: विषयरूप में प्रस्तुत नहीं हो सकता, को जाना जा सकता है? इस प्रश्न को वे एक 'डॉयलेमा'—उभयत: पाश के रूप में प्रस्तुत पाये हैं। वे उसे व्यक्त करते हुये कहते हैं: जहां तक मैं अपरोक्षानुभूति के बारे में जानता हूं वह अस्तित्ववान नहीं है, और इसलिये चाहे वह अस्तित्ववान हो या न हो, मैं इन दोनों स्थितियों में उसे जान नहीं सकता था।"[1]

इस अभिव्यक्ति की पृष्ठभूमि में विद्यमान कारण को प्रस्तुत करते हुये ब्रैडले कहते हैं कि सारा ज्ञान वस्तुत: अस्तित्ववान को प्रत्ययों के माध्यम से व्यंजित करने का प्रयास है, पर 'विषयी' जो प्रत्येक चिंतन में परोक्षत: अपेक्षित है, और जिसका हमें सामान्यत: बोध नहीं होता, उसे तो किसी भी प्रत्ययात्मक अन्तर्विषय के साथ एकीकृत करना संभव नहीं है। इस 'विषयी' को वे अनुभूत एकता (फेल्ट यूनिटी) या अनुभूति केन्द्र (फीलिंग सेंन्टर) कहते हैं। इस 'एकता' या 'केन्द्र' को वे एक महत्वपूर्ण अर्थ में संपूर्ण अनुभूत जगत का अधिष्ठान मानते हैं। अपने विचारों को स्पष्ट करते हुये ब्रैडले कहते हैं कि इस अनुभूति का किसी भी क्षण अतिक्रमण नहीं किया जा सकता।"[2]

---

1. "So far as I know of immadiate experience, it does not exist and that hence, whether it exists or not, I could in neither case know of it." —Essays, p. 176.
2. "At no moment can feeling ever be transcended, if this means that we are to have contents which are not felt."

उनके इस कथन का सीधा आशय यह है कि किसी भी सार्थक अनुभूति को संभव बनाने के लिये संप्रत्यक्षण की एकता अनिवार्य है। कांट के विद्यार्थी इस युक्ति से परिचित हैं। अतः इसकी व्याख्या आवश्यक नहीं। यह एकता मूलतः अ-संबंधात्मक[1] है और इसे इस रूप में प्रस्तुत किया जाता है तो उसका आशय है कि इस एकत्व की व्याख्या पदों एवं सम्बन्धों के माध्यम से नहीं हो सकती। जब उसे इस रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया जाता है तो जो अवशेष बचता है, वह पात्र अवशेष नहीं है। वस्तुतः वह इस प्रकार की विश्लेषणात्मक प्रक्रिया की पृष्ठभूमि में विद्यमान और उसे संभव बनाने वाली एकता है और वह एकता मूलतः अपरोक्षानुभूति स्वरूप है और इसी कारण असम्बन्धात्मक है।[2] यहां पर अ-सम्बन्धात्मक शब्द का प्रयोग सम्बन्धात्मक से उसकी पृथकता की एक प्रतीकात्मक अभिव्यंजना प्रदान करता है।

पुनः अपरोक्षानुभूति के स्वरूप के प्रश्न पर ब्रैडले के विचारों का उत्कृष्टम रूप हमें उन पंक्तियों में मिलता है, जहाँ पर वे कहते हैं कि इस 'अनुभूति' में तथा उन विविध 'अनुभूतियों' में जो इससे नियंत्रित हैं और अधिष्ठान रूप में इसकी अपेक्षा करती है, सम्बद्धता का प्रश्न ही नहीं उठता यदि हम कभी-कभी इस शब्द के प्रयोग के लिए विवश हो जाते हैं तो हमें स्मरण रखना चाहिये कि इस शब्द का प्रयोग भले ही व्यावहारिक कारणों से आवश्यक हो पर हमारे लिए उसका कोई औचित्य नहीं है। क्योंकि सम्बद्धता तो केवल दो पदों के बीच ही सम्भव है और ज्ञेय होने के लिये इन्हें

1. "At any moment my actual experience, however, relational its contents, is in the end non-relational."
—Ibid., p. 176.

2. "No analysis into relations an terms can ever exhaust its nature or fail in the end to belie its essence. What analysis leaves for ever outstanding is no mere residue, but is a vital conditon of the analysis itself. The entire relational consciousness, in short, is experienced as failing within a direct awareness. This dir ct awareness is itself non-relational, It escapes from all attempts to exhibit it by analysis as one or more elements in a relational scheme And immediate experience not only escapes but it serves as the basis on which analysis is made." —Ibid., p. 176.

अनिवार्यतः विषय रूप होना पड़ेगा। अतः यदि हम इस 'अनुभूति' को अन्य अनुभूतियों से तथा अनुभूत अन्तर्विषय से करना चाहें तो हमें उसे 'पद' में परिवर्तित करना पड़ेगा और तब उसका मूल विषयी रूप नष्ट हो जायेगा। यानी अपने स्वरूप के समर्पण के पश्चात् ही वह 'पद' में रूपांतरित हो सकेगी और तभी हम उसकी संबद्धता की सार्थकता की चर्चा कर सकेंगे। पर यह चर्चा सार्थक भले ही हो उसके स्वरूप के साथ न्याय करने में समर्थ न होगी। यह निश्चित है।[1]

पुनः ब्रैडले कहते हैं इस मूल विषयी रूप अपरोक्षानुभूति तथा उस अन्तर्विषय की सम्बद्धता को हमें अव्याख्येय 'तथ्य' के रूप में स्वीकार करना पड़ेगा। इसकी व्याख्या यही नहीं वरन् वर्णन के सभी प्रयास असफल होंगे क्योंकि व्याख्या एवं वर्णन की भाषा वस्तुगत इकाइयों एवं पदों तथा उनके सम्बन्धों के लिये ही अपनी सार्थकता रखती है। इन पदों एवं सम्बन्धों के मूल में विद्यमान तथा इन्हें सम्भव बनाने वाली मूल एकता को इनके माध्यम से किस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है।[2] अपरोक्षानुभूति सम्बन्धी ब्रैडले

---

1. "We cannot speak of a relation between immediate experience and that which transcends it, except by a license. It is a mode of expression found convenient in our reflective thinking, but is in the end not defensible. A relation exists between terms and those terms to be known as such must be objects. And hence immediate experience, taken as the term of a relation becomes so for a partial object and ceases so for to keep its nature as a lelt totality."
—Ibid., p. 176.

2. "The ralation (so to express ourselves) of immediate experence to its felt cotents, and especially here to those contents which transcend it must be taken as a fact, It can neither be explained nor even (to speak *properly*) described since description necessarily means translation into objective terms and relaltions. We possess on the one side a fact directly felt and experienced. On the other side we attempt a description imperfect and half-negative."
—Ibid., pp. 176-77.

जी० वाट्स कनिंगहम ने भी अपनी पुस्तक, जिसका शीर्षक "आइडियलिस्टिक आॅरग्यूमेन्ट्स इन रीसेन्ट ब्रिटिश एण्ड अमेरिकन थाट (1933)" में ब्रैडले के अनुभूति शब्द के प्रयोग की द्वयर्थकता की ओर संकेत किया है और उनके अनुभूति सम्बन्धी निष्कर्षों पर आपत्ति प्रस्तुत की है। पर उनकी आपत्ति एक विभिन्न दृष्टिकोण से है। उन्होंने 'अनुभूति' को मनोवैज्ञानिक अर्थ में स्वीकार करते हुए उसे असम्बन्धात्मक मानने से इंकार किया है। जो सम्बन्धात्मक चेतना की पूर्ववर्ती है और उसी में रूपांतरित होती है, वह अ-सम्बन्धात्मक कैसे हो सकती है। उसे तो पूर्वसम्बन्धात्मक (प्री रिलेशनल) कहना ही अधिक उचित होगा। अपने दृष्टिकोण से कनिंगहम की आपत्ति ठीक है पर ब्रैडले के दर्शन में अनुभूति का मनोवैज्ञानिक अर्थ उतना महत्वपूर्ण नहीं है, जितना कि ज्ञानमीमांसीय। मेरा भी यही विचार है और ज्ञानमीमांसीय दृष्टिकोण से सम्बन्वित अनुभूति सम्बन्धी उनकी अन्तर्दृष्टि जैसा कि अन्य प्रसंगों में अनेक बार कहा जा चुका है, उनके दर्शन की दृष्टि से महत्वपूर्ण तो है ही, पूर्व एवं पश्चिम के बीच संवाद की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। इस अन्तर्दृष्टि को विकसित करके ही हम निरपेक्ष के दर्शन को उसकी विशुद्धता में ठीक उसी रूप में प्रतिपादित कर सकेंगे जिस रूप में वह अपेक्षित है और जिसका परिचय हमें पूर्व में शांकराद्वैत में मिलता है, और समकालीन भारतीय दार्शनिकों में कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के दर्शन में मिलता है।[1]

---

its connotations to another endowiong his conclusions with a plausibility, It however at the same time mars to a considerable extent the consistent development of his position."—Saxena, Monistis Tendencies in Contemporary philosophy, Thesis submitted for D. Phil. Degree, Allahabad University, 1955, unpublished, p. 106.

1. "There are two important connotations at cross currents with each other, often in the self same passage under the guise of an identical term. He fails to distinguish between the two standpoints from which his observatians are made ;— the Psychological and the

Contd.

भट्टाचार्य निषेधों के माध्यम से मूल एकता को अनावृत करते हैं— वही उचित भी है। यहां पर यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि ब्रैडले जब परम-सत् को एक 'समग्रता' के रूप में प्रस्तुत करते हैं तो वे स्पष्टतया अनुभूति सम्बन्धी उस द्वयर्थकता के शिकार हो जाते हैं जिसकी ओर पूर्व पृष्ठों में संकेत किया गया है। निम्न-सम्बन्धात्मक अनुभूति या जिसे जी० वाट्स कनिंगहम 'पूर्व-सम्बन्धात्मक अनुभूति' कहते हैं, एक 'समग्रता' है जिसमें पदों एवं सम्बन्धों का आविर्भाव नहीं हुआ है, पर वह एक ऐसी समग्रता है' जिसे खंडित होना हैं—यानी पदों एवं सम्बन्धों के रूप में अपने अन्तर्विषय को प्रस्तुत करता है। इसी प्रवृत्ति को ब्रैडले 'अन्त अस्थिरता' या 'व्यग्रता' कहते हैं। और इसी कारण वह तथाकथित समग्र अनुभूति स्वातिक्रमण की ओर मूलतः प्रवृत्त दिखलायी देती हैं। निम्न-सम्बन्धात्मक अनुभूति का यह चित्र आनुभविक दृष्टिकोण के आधार पर प्रस्तुत किया गया है और अनुभूति के इसी चित्र को यदि एक उच्च या अभि सबंधात्मक अनुभूति के अंकन में स्थानान्तरित कर दिया जाय तो वह सर्वथा अनुचित होगा और इस बात का परिणाम होगा कि हम उस मूल विषयनिष्ठ सत् या एकता को वस्तुपरक दृस्टिकोण से प्रस्तुत करने की अनुचित चेष्टा कर रहे हैं। ब्रैडले की संपूर्ण पुस्तक 'एपियरेन्स एण्ड रियेलिटी' के निष्कर्ष इसी अनुचित प्रयास के परिणाम है और इस कारण असंतोषप्रद हैं। वे उस मूल एकता को अनेक प्रसंगों में अव्याख्येय मानते हैं साथ ही उसे एक समग्रता के रूप में भी प्रस्तुत करते हैं। अपने शोध प्रबंध में मैंने ब्रैडले के सिद्धांत का मूल्यांकन करते हुए कुछ इसी आशय के विचार व्यक्त किये हैं।[१] ब्रैडले की ज्ञानमीमांसीय अन्तर्दृष्टि सही थी पर उस अन्त-

---

epistemological critical reflection reveals expeiince ..... to be transcendentally conditioned. And that essentially in our opinion is the problem of Philosophy in its restricted functioning as epistemology..." —Ibid., p. 107.

१. विस्तार के लिये देखिए हिन्दी ग्रन्थ अकादमी से प्रकाशित समकालीन भारतीय दर्शन में लेखिका का कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य पर लेख।

1. "The conception of a supra-relational whole—a whole made immediate on a plane above thought is philosophically indefensible in the specific connotation attached to it by Bradley, however he may argue to the con-

Contd.

दृष्टि को वे शब्द की द्वयर्थकता और हेगेल से प्रभावित होने के कारण समुचित रूप से विकसित न कर सके। भावी दर्शन की दृष्टि से इस अन्तर्दृष्टि का विकास महत्वपूर्ण होगा और जैसा कि पूर्व पृष्ठों में संकेत किया जा चुका है, पूर्व तथा पश्चिम के बीच सार्थक संवाद स्थापन में निश्चित ही सहायक होगा।

trary. It is our opinion a necessary out come of the eminently objective attitude of the west. The *only intelligible* sense in which the supreme unity can be conceived to be beyond the grasp of thought is as the latter's own supposition or conditioning graund, the meaning of which was implicitly that of Kant when he spoke of the unity of Apperception occasional insight are to be found in Caird as well and Bradley touches upon it in his well known discussions on "Immediate Experience", but as we have observed it remains with him a passing insight never brought to the full fledged form of a philosophical conviction."

—Ibid., pp. 116-17.

INDEX

[सूची]

A

Absolute experience Page 4
Absolute Idealism Page 4, 43
Absolute criterion Page 113
Agnosticism Page 100
Abnormal perception Page 30
All-inclusive whole Page 9

B

Bosanquet Page 3, 9
Blanshard Page 5
Bergson Page 266-7

C

Corrospondence theory page 13
Category Page 65
Concrete Universal Page 111, 251
Coherence or self.consistency Page 174
Contradiction Page 114
Criterion of Reality Page 164

D

Dulta, D. M. Page 1
Dilemma of Predication Page 64
Discursive Page 131
Duration Page 266

E

Esse Est Percipii Page 10
Essays, on Truth and Reality Page 37
Epistemological Arguments Page 42
Empirical thought Page 132
Element of immediacy Page 138, 186, 247

F

Fallacy of infinite regress Page 105

G

G. Watts cunningham Page33, 244
G. R. G. Mure Page 154

H

Homeopathically Page 17

I

Inherent expansiveness Page 5
Idea of God Page 34, 38
Impersonalism Page 35
Ideality Page 93, 136, 137, 181
Individuality Page 117, 256
Immediacy Page 132
Infra-relational immediacy Page 71, 133
Integral Reality Page 174, 182, 195

J

James Ward Page 139

K
Kant Page 176
M
Modes of Experience Page 182, 234
N
Nisus for whole Page 6, 111
Non contradiction Page 6
Neo Hegelianism Page 38, 39
Noumena Page 104
Negative criterion Page 116
O
Onto logicalargument Page 42
P
Primary and secondary quality Page 55-6
Pre.relational consciousness or Infra.relational consciousness Page 71, 236, 237
Personal identity Page 94
Phenomenalism Page 96
Presentation or given Page 96
Postulate Page 118
Phenomenal object Page 133
Pringle Pattison page 34, 38
Pure sensation page 134
Personality page 256
Q
Qualities-in-it-self page 68
R
Relation and quality page 67
Relational consciousness page 133
Regulative idea Page 243
S
Supra-rational Page 24
Speculative metaphysics Page 43
Synoptic Metaphysice page 45
Substantive and Adjective Page 62
Supra-Relational Experience Pagé 129, 238
Supra-relational immediacy Page 133
Saxena S. K. page 154
Self-Transcendence page 156 203, 215
Spinoza page 262
Solipsism page 272
T
That and what page 93, 144, 254
Things.in.themselves Page 103
Theoretical consciousness page 114
Theoretical perfection page 126
Theory of internal relations 129
Terms and relation page 135
Tendency of Abstraction page 201
Transcendent page 149
W
W. F. Lofthouse p

फुटनोट्स में त्रुटि-संशोधन

पृष्ठ संख्या	त्रुटि	सही शब्द
3	a	on
10	exists	exist
17	for	far
19	mere	more
26	more	mere
	में	से
28	thess emain	these main
33	far	for
44	Preconception	Preconceptions
64	If	It
85	Preceeding	Preceding
121	at that	that
131	older	order
135	he	the
148	ultimete	ultimate
150	machinary	machinery
157	imphatically	emphatically
158	thoughtout	thought out
162	Absolutes	Absolute
168	Self discrepant	self-discrepant
169	obiously	obviously
179	Predicaters	Predicates
119	quits	quite
210	in	is
210	universe	universe ?
224	is	in
229	if	of
241	Perience	experience
249	plurality	Plurality
254	atonce	at once

पृष्ठ संख्या	त्रुटि	सही शब्द
258	1, 2, 3, 4	1, 3, 4, 2
268	Someness	Sameness
276	Switchingover	Switching over